प्रकाशक—

कुवर मोतीलाल रांका,

आनरेरी मैनेजर,

जैन पुस्तक प्रकाशक कार्यालय (Beawar) ब्यावर

राजपूताना।

पृष्ठ-सूची

मुद्रक—

बाबू विश्वम्भर नाथ भार्गव,

प्रोप्राइटर स्टैन्डर्ड प्रेस,

रामनाथ भवन इलाहाबाद।

प्रार्थना।

श्री जैन पुस्तक प्रकाशक कार्यालय ब्यावर द्वारा सर्व साधारण में जैन धर्म व जीवदया का प्रचार व सदाचार की प्रवृत्ति हेतु नाना प्रकार की पुस्तकें प्रकाशित हुआ करती है।

(१) पुस्तकों की बिक्री का मूल्य पुस्तक प्रकाशन के कार्य में ही लगाया जाता है।

(२) पुस्तक का अविनय न हो इस हेतु कुछ न कुछ मूल्य अवश्य रक्खा जावेगा।

(३) कार्यालय के कार्यकर्त्ता निस्वार्थ सेवा कर रहे हैं।

(४) इसके लिये जो सज्जन पुस्तकें लिखकर या अनुवाद कर भेजेंगे, उनकी यह संस्था कृतज्ञ होगी।

(५) समाज के विद्वान, दानवीर, उत्साही, प्रभावना करने वाले इत्यादि सब ही प्रकार के सज्जनों का कार्यालय को प्रत्येक प्रकार की सहायता देने का कर्त्तव्य है।

सूचना।

प्रत्येक खण्ड की अनुक्रमणिका उस खण्ड के पास लगाई है। पाठक अनुक्रमणिका खण्ड के पास देखें।

सुनहरी नामावली।

तपस्वी जी महाराज श्री श्री १००८ श्रीदेवजीरिषीजी, स्तम्भ
श्रीयुत् गिरधारीलाल जी साखंला बेंगलोर, मूलसंस्थापक
श्रीयुत् धूलचंद जी छाजेड़ जेतारण ... संस्थापक
श्रीयुत् सेठ दाम जी भाई लक्ष्मीचंदजी श्रोसंघ स्थानक
चींच पोकली बम्बई ... ... ,,
श्रीयुत् विजयराजजी मुथा मद्रास ... मुख्य संरक्षक
श्रीयुत् सिरेमलजी बोहरा ... ,,
श्रीयुत् गुलाबचंदजी घेवरचंद जी लुलारगी जेतारण संरक्षक
श्रीयुत् जसराजजी खींवंसरा बेंगलोर ... ... ,,
श्रीयुत् अचलदासजी लोढ़ा घेवरचंद जी पारख तींवरी ,,
श्रीयुत् सिरेमल जी बाठ्या ब्यावर ... ... ,,
श्रीयुत् कजोड़ीमलजी सोभागमलजी ब्यावर ... ,,
श्रीयुत् श्रीचंदजी अबारगी ब्यावर ... ... ,,
श्रीयुत् सुवालालजी कोठारी ब्यावर ... ... ,,
श्रीयुत् महावीरसिंहजी हांसी ... मुख्य सहायक
श्रीयुत् मिश्रीमलजी मुरगोत ब्यावर ... ,,

नोटः—श्रीयुत् फूलचंदजी कोठारी से २००) रु० व श्रीयुत् पन्नालाल जी श्रादया का १००) (कल्याणमलजी मुथा के जिम्मे उनके रुपये जमा हैं) इस वक्त तक हमें नहीं मिले अतः सुनहरी नामावली से उनका नाम निकाल दिया गया, रुपया प्राप्त होने पर भविष्य में छपने वाली पुस्तकों पर छपेगा, इन ३००) रुपये के नहीं आने से हम पक्की कपड़े की सुनहरी जिल्द नहीं बंधा सके हैं।

कुंवर मोतीलाल रांका आनरेरी मैनेजर।

हिन्दी कर्तव्य-कौमुदी पर मिली हुई सम्मतियाँ ।

BEAWAR;
Dated 14th August, 1922.

THE book written in an Easy comprehensible language is really a boon to the public. The order of compilation is well arranged and the labours of K. Moti Lal Ranka really deserve being well paid by the general approbation of the public. Apart from the authors confirming himself to any particular line of religion, the book deals with the fundamental and broad principles of life. The book shows us what to do and what course to follow.

The first part which deals with the definitions of *Kartavya* brings to light various things which every man ought to know.

The second part is *really a splendid thing* and is the thing that is very necessary for the youths and students in this age. In my opinion it would be very wise if this book is introduced in the schools in lieu of other Hindi books.

The third part is the portion with which every man of world is connected. It deals with the duties of a man of world and in my opinion the book is in no way inferior to "Cobbett's advise to young man" and other similar books.

In end I would say that one cannot say too much about the worth of the books and would like to recommend the book to every friend of mine, who is in search of a really good book upon morals.

(Sd.) SOBHAG LAL RAWAT.
M.A., B. Sc., LL. B.,
Vakil, High Court.

Mr. Moti Lal Ranka, deserves many thanks from the Hindi knowing public for the publication of, the excellent translation into Hindi of the Gujrati book "Kartavya Koumudi." This book will, if introduced in the curriculum of studies in the schools, fulfil a very necessary gap existing in the modern system of education, I mean the moral training of youths. The want of moral development has resulted in general degradation of our countrymen in all good qualities, *viz.*, Honesty, Straightforwardness, Self-sacrifice, Love of Country, etc. If the youths of this country had been imparted education also on the lines indicated above, India would not have come down to her present flight. She would have remained what she formerly was, *viz.*, the most civilized prosperous and happy country on the face of this earth. I would recommend this book to every wellwisher of his motherland to be kept in his house as a true guide on the path of morality.

NATHU LAL GHIYA,
15th August, 1922] *Vakil, High Court, Beawar.*

THIS book which is in three parts is a complete translation of a similar book in Gujrati. It deals with Hindi life and conduct and I think Mr. Ranka has rendered valuable service to the Hindi knowing public in bringing out this Hindi Edition. It clearly and comprehensively lays down the duty of a man in all the stages of human life. It presents so valuable suggestions that it may safely be taken as a guide in life. The book will prove useful not only to the sterner sex, but also to the tender one.

B. H. VARMA, B.A.,
Head Master.

SANATANA DHARMA SCHOOL, BEAWAR.
14th August, 1922.

हिन्दी वैद्यकल्पतरु ऑफिस ब्यावर
सं० १९७८ पौष वदी २

"कर्त्तव्य कौमुदी" का हिन्दी अनुवाद निकाल कर श्रीयुत् कुंवर मोतीलाल जी रांका ने हिन्दी भाषा भाषियों का बड़ा उपकार किया है। यह पुस्तक सदाचार शिक्षा की अपने ढङ्ग की एक ही है। संसार में कौन कौन से कार्य करने योग्य हैं और कौन २ से नहीं उनका इस में भले प्रकार विवेचन किया गया है, बालकों को तथा युवाओं को किस प्रकार के रहन सहन से उन्हें अपने जीवन में सफलता और यश मिल सकता है उसी का इस ग्रन्थ में प्रभावोत्पादक और रोचक उपदेश

है। पुस्तक सभी लोगों के लिये पढ़ने योग्य एवं उपादेय है। हिन्दी भाषा में ऐसी पुस्तकों की बड़ी कमी है पर हमारे उत्साही नवयुवक रांका जी ने गुजराती भाषा से अनुवाद कराकर इसे प्रकाशित करने का जो उद्योग किया है वह स्तुत्य एवं अनुकरणीय है। इस पुस्तक से चरित्र गठन में बड़ी सहायता मिलेगी, इसका घर घर प्रचार होना चाहिये क्या ही अच्छा हो कि शिक्षा विभाग के कर्मचारी इसे पाठ्य पुस्तकों में चुनें जिस से विद्यार्थी गण अपने कर्त्तव्य पालन करने में विशेष उत्साहित हों।

व्यास पुनमचन्द तनसुख वैद्य

ऑनरेरी सम्पादक—

'हिन्दी वैद्य कल्पतरु'

मैंने हिन्दी कर्त्तव्य कौमुदी को आद्योपान्त ध्यान पूर्वक पढ़ी है। यह पुस्तक आबाल वृद्ध सब के पढ़ने योग्य ही नहीं किन्तु मनन करने योग्य है। हिन्दी संसार में इस प्रकार की पुस्तकों का प्रायः अभाव सा था। आनन्द की बात है। कि कुंवर मोतीलाल जी रांका ने इस कमी की पूर्ति की है।

मेरी सम्मति में प्रत्येक मनुष्य को प्रति दिन इस पुस्तक के पाठ के लिये कुछ समय निकालना चाहिये ताकि यह लोक और परलोक दोनो सुधरें।

बालकों के लिये तो प्रत्येक माता पिता को एक एक प्रति अवश्य लेकर उनसे बार २ आग्रह पूर्वक इसको पढ़ने की उत्तेजना देते रहना चाहिये।

मैं भारतीय पाठकों से अनुरोध पूर्वक निवेदन करता हूं कि वे अपने विद्यार्थीयों में इस पुस्तक का प्रचार कर बालकों को सदाचारी बनाने में अग्रसर हों।

कन्हैयालाल गार्गीय जी. सी. ए

लेट हेड मास्टर दरबार स्कूल जैसलमेर

"हिन्दी-कर्त्तव्य-कौमुदी" अपने ढङ्ग की एक ही पुस्तक है। यों तो नित्य प्रति अनेकों पुस्तकें निकलती हैं परन्तु इस प्रकार की शिक्षाप्रद और उपयोगी पुस्तकों के प्रकाशित होने से जन साधारण का बड़ा उपकार होता है। "कर्त्तव्य कौमुदी" एक सच्चे मित्र का सा काम देती है। यद्यपि किसी धर्म पर यह पुस्तक नहीं है परन्तु सब धर्मानुयायियों के लिये समान उपयोगी है।

प्रकाशक महोदय को ऐसी पुस्तक हिन्दी जगत के सामने उपस्थित करने के लिये बधाई देता हूँ। मुझे आशा है कि प्रत्येक गृहस्थ इसको पढ़कर अपने इष्ट मित्रों से अनुरोध करेंगे कि वे स्वयं पढ़ें और अपने बालकों को धर्माभिमानी और नीति निपुण बनाने के लिये ऐसी पुस्तक अवश्य मंगा देवें। उनके चरित्र गठन करने के लिये ऐसी पुस्तक और नहीं होगी।

पोलूराम लेट अकाउन्टेन्ट जनरल

जेसलमेर स्टेट

ओफसरी सुपरेन्टेन्डेन्ट, ब्यावर।

बुरे कार्यों से बचने और अच्छे गुण धारण करने के लिये बहुत से उपदेश प्रद पुस्तकें हैं परन्तु यह पुस्तक ऐसी उत्तम और सरल रीति से लिखी गई है कि पढ़ने वालों को हृदय ग्राही हो जाती है। आदर्श-जीवन बनाने के लिये गृहस्थी को जिन २ विषयों के ज्ञान की ज़रूरत होती है उन सब का इसमें समावेश किया गया है। विद्यार्थियों को कौन २ से गुण धारण करने चाहियें उनके क्या क्या कर्त्तव्य हैं गृहस्थी का अपना जीवन कैसा बनाना चाहिये आदि चरित्र गठन के सम्बन्ध में यह पुस्तक विशेष उपयोगी और गृहस्थी मात्र के पढ़ने और मनन करने योग्य है।

ऐसी पुस्तक प्रकाशित कर श्रीयुत् कुंवर मोतीलाल जी रांका ने हिन्दी-साहित्य के एक अङ्ग की पूर्त्ति की है।

गणेशीलाल दक इंगलिश टीचर

म्युनिसिपल स्कूल ब्यावर।

श्रीशान्ति नाथ जी।

कुछ सम्मतियें,

"कर्त्तव्य कौमुदी" के विषय में प्रशंसा स्वरूप अनेकानेक सम्मतियें साक्षरों, विद्वानों, मुनि, महाराजों, जैन और जैनेतर पत्र पत्रिकाओं, प्रसिद्ध वक्ताओं, आदि ने प्रदान की हैं उनमें से कुछ सम्मतियें हमें मिली हैं। उनका संक्षिप्त सार पाठकों के अवलोकनार्थ यहां लिखते हैं। जिससे पाठकों को ज्ञात हो जायगा कि यह ग्रन्थ कितना लोक प्रिय हो गया है।

(१) मुनि श्री चारित्र विजयजीः—लखे छे के आ पुस्तक बनाववां मां आपे अति बुद्धि परिश्रम उठावेलो छे पृथक पृथक विषयों माफक कतुं विचार गौरव कर्तीनी बुद्धिनी प्रशंसा करे छे, छुट कपण जरुरी उपयोगी विषय नुं ग्रथन करवां मा बहु दीर्घ दर्शिता अने लोकोपयोगी पणुं कर्त्ताए ध्यान मां राख्युं छे।

(२) पूज्य श्री विजयपालजी स्वामी लखावे छे केः—जैन तेम जैनेतर मानव बांधवो कर्तव्य घातक कृत्यों ने छोड़ी आ "चांदनी" ना चकचकता प्रकाश माँ गमन करोशेते सत्कृत्य, सदाचार, ऐहिक आमुष्मिक सुखावलंबी थशे, पंडित रत्नेए आवा उपयोगी पुस्तकों रचवां, रचि लथड़ता समाज ने अवलंबन आपवानी आ समये जरूर छे।

(३) कवि नाथूराम सुन्दर जी लखे छेः-के "खरेखर हालना जमाना ने वांचवा लायक उत्तम ग्रन्थ छे। महाराज श्री रत्नचन्द्र जी नी विद्वता अने तेमनो सतत धर्म आ पुस्तक ना तमाम खंडो मां अने परिच्छेदों मां जगो जगो उपर झलकी रहीयो छे"

अस्यां कविता या मार्दवं माधुर्य सारस्यं च सहृदय हृदया ह्रदिकं। सदुपदेशाश्च प्रतिपद मै हिकामुष्मिक श्रेयस्करा परमानन्द महाब्धिय मग्नं कुर्वन्ति मानसं मे।

विवेचक स्यापि विवेचनस्थं। गांभीर्य मा लोक्य मनो मदीयम्॥
तुष्टं सदा वाञ्च्छति चूनिलाल शाहं महानंद निमग्न चित्तम्।

श्रीयुत महामहोपाध्याय शास्त्री शंकरलाल

कर्तव्य कौमुद्य भिधा मनोहरा। कृतिर्मया ऽलोकि सुसूक्ष्मयाधिया॥
विद्यार्थीना मुत्तम शिक्षण प्रदा, व्युत्पादिका धर्म सुनी तिमार्गयोः॥

शास्त्री हाथी भाई शर्म्मा

श्रीयुत् रा० बा० कमला शंकर प्राण शंकर त्रिवेदिनोऽभिप्रायो ल्लेखः॥ संस्कृत पद्यानि संक्षेपेण बहर्थ प्रतिपाद कानि सूत्र रुपाणि प्रशाद्.गुणो पेतत्वाद् हृदय गमानि च । पद्यविवरण मपि तथैव साधु सम्यक्तथा च मुनिराज स्याशयं विशदी करोति॥

जैन हितेच्छु-"कर्तव्य कौमुदी" तेना कर्त्तानो संस्कृत भाषा पर नी अखुट सत्ता साबीत करे छे, सरलभाषा मां अमूल्य विचारो दर्शाव्या छे। एक एक श्लोक अमूल्य उपदेश थी भरपूर छे आ पुस्तक अमे जैन अजैन ने वांचवानी भलामण करीए छीए. अमारा नम्र अभिप्राय प्रमाणे अन्यान्य साधुओ पंडित श्री रत्नचंद्रजी ना मार्ग नु अनुकरण करे तो ते बहु लोक कल्याण करीशके. आ पुस्तक नुं हिन्दी भाषान्तर प्रकट थाय एम अमे इच्छीए ।

सरस्वती (हिन्दी मासिक पत्र) यह कोई साढ़े चार सौ सफे की पुस्तक है मनोहर जिल्द बंधी हुई है॥ * * * श्लोक देवनागरी टाईप में छपे हैं उनके नीचे भावार्थ गुजराती है। भावार्थ के नीचे लम्बा चौड़ा विवेचन भी गुजराती में है इस पुस्तकमेंवर्तमान समय के अनुसार मनुष्य के साधारण कर्त्तव्य (duty) का निरूपण है, * * * बड़ी सुन्दर पुस्तक है श्वे. स्था. कॉन्फरेंस प्रकाश १५-१०-१६ "कर्तव्य कौमुदी" (प्रथम ग्रन्थ मूल तथा भावार्थ) स्त्री पुरुषों अने बालकों ने कर्तव्य कर्मनो अनुपम उपदेश आपनार आ अमूल्य ग्रन्थ संस्कृत भाषा मां अने शार्दुल विक्रीडित वृत मां संस्कृत भाषा ना शीघ्र कवि शतावधानी पंडित रत्न मुनि श्रीरत्नचंद्र जी महाराजे रचेलो छे. अने सामान्य मनुष्य ना हितार्थ तेनो गुजराती भाषा मां सरल भावार्थ पण मुनि श्रीपोतेज लखो आपयो छे

आ प्रथम ग्रन्थमां ३ खंड अने २३३ श्लोको छे. प्रथम खंड मा सामान्य कर्तव्य, बीजा मां विद्यार्थियों ना कर्तव्यो दर्शावबा माँ आवया छे जैन अने जैनेतर सर्व ने माटे आ ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी अने माननीय छे जेओ पोताना चारित्र ने उच्चतर बनावी इह लौकिक अने पारलौकिक सुखनी अभिलाषा राखता होय ते मने अमी आग्रह पूर्वक भलामण करीए छीए के आ ग्रन्थ मां दर्शावे लो समयानुकुल अने सर्व मान्य कर्तव्य कर्मों नुं रहस्य समजी तदनुसार वर्तन करवुं। काव्यमां पदे पदे मनोहरता, उपयोगिता माधुर्य अने अने अर्थ गांभीर्य झलकी उठे छे अने ग्रन्थ कर्ता नी असाधारण, विद्वता, बुद्धिमत्ता, वाक्यपटुता, नीति, निपुणता, अने धर्म ना विशुद्ध रहस्यो तथा जन समाज नी वर्तमान परिस्थितिओ ना उच्चतम ज्ञान नुं भान थई आवे छे आटलुं छतां कलिष्टता नुं तेमां नाम निशान पण न थी विशेष खूबी तो ए छे. के आहस्थ्य धर्म नुं प्रतिपादन एवी तो सूक्ष्म बुद्धि थी अने शुद्धोपयोग पूर्वक करेलुं छे. के तेमां मुनि-धर्म नी मर्यादा नु किंचित् मात्र पण उल्लंघन थवा पाम्यु न थी. अज्ञान वर्ग मां महान् जैना चार्य तरीके मनाता अने पुजाता केटला कजर्ता ओए राजाओ ने रीझावबां माटे अथवा अन्यान्य हेतू थी रचेला केटलाक ग्रंथो मां कोकशास्त्र ना जेवी अनुचित विगतो अने सावद्य उपदेश भरे लो जोवा माँ आवे छे ज्यारे आ ग्रन्थ मां एवुं एक पण वाक्य थी युनिवर्सिटी मां जैन साहित्य तरीके पसंद करायला विवेक विलास ग्रन्थ ने बदले आ ग्रन्थ दाखल करवा मां आवे, तो अधिक उपयोगी अने सर्व मान्य थई शके तेम छे.

प्रकाशक का नम्र निवेदन।

कर्तव्य कर्म ही मनुष्य के लिये इह लोक और परलोक में नौका रूप है, कर्तव्य कर्म ही मनुष्य को उन्नति के शिखर पर चढ़ने का सुअवसर प्रदान करने वाला विशाल सोपान है, जो मनुष्य साहस दृढ़ प्रतिज्ञता और उमंग वश इसे पार कर लेता है वह निसन्देह अपने सुअभिष्ट और सच्ची सफलता को प्राप्त कर करके आनन्दित होता हुआ अपने सहयोगियों को भी आनन्द का समुचित आस्वादन देकर उनके उत्साह को वर्द्धन करता है। निस्सन्देह कर्तव्य कर्म का स्थान अति विशाल और उन्नत है।

जब से मनुष्य पैदा होता है तभी से उसके कर्तव्य उसके साथ लग जाते हैं और वे मरण पर्यन्त लगे रहते हैं एक अंग्रेज महाशय का कथन है कि :—

Duty begnis with life and cuds with death. It bids us do what is right and forbids our doing what is wrong.

अर्थात्—मनुष्य के जन्म समय से ही कर्तव्य का प्रारम्भ हो जाता है और उसके मरने पर उन कर्त्तव्य कर्मों की भी समाप्ति हो जाती है। प्रत्येक स्थिति में कुछ न कुछ कर्तव्य करना ही पड़ता है, इससे पता लगता है कि मनुष्य जीवन के साथ कर्तव्य का कैसा घनिष्ट सम्बन्ध है अतः बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष मनुष्य मात्र को अपना कर्तव्य जानना आवश्यक है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्डस वर्थ (Words worth) कर्तव्य के लिये लिखते हैं :—

Than who art a ligt to gnide, a rod To cheek the erring and to reprone.

अर्थात्—कर्तव्य-मार्ग दर्शक ज्योति है, तथा प्रतिकूल पथ पर चलने वालों को सुधारने वाला चाबुक है। ऐसे कर्तव्य कर्म के संकेलन कर्ता अनुभव प्राप्त शतावधानी पं० मुनि श्री १००८ श्री रत्नचन्द्र जी महाराज की अद्वितीय विद्वता तथा उनके उच्च और विशाल विचार सब लोगों पर प्रगट हैं आपने इन शुभ उद्देश्यों का आदर्श रूप "कर्तव्य-कौमुदी" रूपी ग्रन्थ (संस्कृत) में श्लोक बद्ध तथा गुजराती भाषा में उसका भावार्थ लिखकर जन समाज को बड़ा उपकृत किया है और श्रीयुत चुन्नीलाल जी वर्द्धमान जी शाह (गुजराती भाषा के अनेक ग्रन्थों के लेखक) ने इसे सर्व मान्य बनाने के लिये अनेक धर्म ग्रन्थों के आधार पर गुजराती भाषा में उसका विवेचन किया है। मुनि जी महाराज ने मानव जीवन को सर्व समुन्नत बनाने के लिये, जिन २ कर्तव्य कर्मों की परमावश्यकता है उनको सर्व सामान्य और विशेष रूप से बड़ी खूबी व सरलता से इस ग्रन्थ में बतलाते हैं, इसी से यह ग्रन्थ केवल स्त्री पुरुषों को ही नहीं वरन् बालकों को भी अनुपम उपदेश देने वाला है। इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में सामान्य कर्तव्य, दूसरे में विद्यार्थियों का कर्तव्य, और तीसरे में गृहस्थ का कर्तव्य बतलाया है, यह ग्रन्थ प्रत्येक मत, धर्म जाति, देश तथा काल के मनुष्य मात्र के लिये समान रूप से बहुत उपयोगी और माननीय है। संसार में रह कर मनुष्य जन्म को सफली भूत करने का एक मार्ग सागारी धर्म है जिसे गृहस्थ धर्म भी कहते हैं वह ग्रन्थ

गार्हस्थ्य दम्पति का सच्चा सलाहकार है। इस ग्रन्थ में गृहस्थ धर्म प्रतिपालन करने के निमित्त सम्पूर्ण कर्तव्यों का विवेचन इस उत्तमता से वर्णन किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य उन्हें पढ़ कर अपना जीवन, नीति धर्म और साधुता पूर्वक समाप्त करने की उत्तम प्रणाली को चित्रांकित करके कर्तव्य कर्मण्यता का एक धुरंधर धीर वीर हो सकता है तथा इस अमूल्य ग्रन्थ को पढ़ कर और इसमें प्रतिपादन किये हुए समयानुकूल व सर्व मान्य कर्तव्यों का रहस्य समझ कर तदनुसार वर्ताव कर मनुष्य अपने चरित्र को उच्चतम बना के इहलौकिक ही नहीं वरन् पारलौकिक सुखों को भी प्राप्त कर सकता है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक श्लोक से मनोहरता, उपयोगिता माधुर्य और अर्थ गाम्भीर्य प्रतीत होता है, तथा ग्रन्थ कर्ता की असाधारण विद्वता, बुद्धिमत्ता, वाक्य चातुर्य नीति और धर्म के गूढ़ रहस्य एवं जन समाज की वर्तमान परिस्थिति का उच्चतम आभास होता है—यह ग्रन्थ अपनी उपयोगिता के कारण गुजराती जन समाज में इतना लोक प्रिय हो गया है कि थोड़े ही समय में इसकी कई सहस्र प्रतियाँ उठ चुकी हैं और कई आवृत्तियाँ भी प्रकाशित हो चुकी है तथा बड़ोदा जैसे सभ्य और उन्नत राज्य में तो इस ग्रन्थ का इतना मान है कि पारितोषिक, उपहार तथा पुस्तकालय आदि के लिये भी इसकी स्वीकृति हो चुकी है अनेकानेक साक्षरों, विद्वानों मुनि महाराजों, जैन और जैनेतर पत्र पत्रिकाओं ने इस ग्रन्थ की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उनमें से कुछ का साराँश भी इसके साथ प्रकाशित किया है उसे कृपया अवलोकन करें।

कर्तव्य कर्म सर्व साधारण को इस प्रकार उपयोगी होने पर भी आधुनिक समय में मनुष्य समाज का ध्यान इस ओर जितना चाहिये उतना आकृष्ट नहीं होता, अन्य कई कारणों के अतिरिक्त इसका यह एक विशेष कारण है कि छात्र गणों को प्रारंभिक शिक्षा रूप से कर्तव्य कर्म पालन का मसाला उनके हृदय रूप सांचे में विधिवत स्थान नहीं पाता इससे कर्तव्य कर्म शिक्षण की योग्यता के अनुसार जितना या जो कुछ भी अवसर मिलता है वह उसे प्रभावोत्पादक बनाने में असमर्थ रहते हैं, सच तो यह है कि सार्वजनिक भाव से कर्त्तव्य कर्म पालन की शिक्षा का एक एक प्रकार से कई अंशों में लोप सा हो गया है ऐसा कई विद्वानों का मत है। यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि आजकल की शिक्षा प्रणाली दूषित है:—

सुप्रसिद्ध अध्यात्मिक लेखक, "जेम्स ऐलन" की अंग्रेजी संसार में बड़ी प्रतिष्ठा है उनकी पुस्तकें सहस्त्रों दुःखी और मनुष्य जीवन को बड़ी शान्ति देने वाली हैं उन्होंने आजकल की शिक्षा प्रणाली के विषय में एक स्थान पर अपनी कुछ सम्मति लिखी है जिसका हिन्दी अनुवाद पाठकों के अवलोकनार्थ हम श्रीयुत दयाचन्द्र जी गोयलीय बी० ए० के शब्दों में ही लिखे देते हैं।"

"आज कल की शिक्षा प्रणाली ऐसी बिगड़ी हुई है कि उसमें सदाचार की शिक्षा नाम मात्र को भी नहीं दी जाती। लड़के प्रायः बुराई की ओर अधिक झुक जाते हैं और धीरे धीरे उसके शिकार बन जाते हैं। यही कारण है कि आजकल के लड़कों का चरित्र प्रायः बिगड़ा हुआ ठीक

पड़ता है। यदि शिक्षक लोग इस ओर तनिक ध्यान दें तो इस दुर्गुण का काला मुँह होना कोई कठिन बात नहीं है यह ग्रन्थ सदाचार, कर्त्तव्य शिक्षा तथा तत्सम्बन्धी कमी के एक बहुत बड़े भाग को पूरा करने की सामर्थ्य रखता है इसलिये "जैन कान्फ्रेन्स प्रकाश", ने इस ग्रन्थ को अत्यन्त उपयोगी समझ कर युनिवर्सिटी की पढ़ाई के कोर्स में इसे नियत किये जाने तक की सिफ़ारिश की है यह इस ग्रन्थ के लिये बड़ी महत्व की बात है सच तो यह है कि ऐसी ही नीति-शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों का चुनाव शिक्षा विभाग में नियत होने से ही भविष्य के युवकों का चरित्र बल भली प्रकार संगठित हो सकता है यह ग्रन्थ मुनिसमाज व उपदेशकों के भी उपदेशादि में अति लाभदायक सिद्ध हुआ है।

इस प्रकार के अनुभूत दिव्य चमत्कारिक उत्तम शिक्षाप्रद और लोकोपयोगी ग्रन्थ का हिन्दी जैसी राष्ट्रीय भाषा में अभाव हमारे जी में बहुत दिनों से खटक रहा था साथ ही, "जैन समाचार," तथा "जैन हितेच्छु," के प्रसिद्ध सम्पादक श्री वाड़ीलाल जी मोतीलाल जी शाह ने अपने सुप्रसिद्ध पत्र जैन हितेच्छु में उक्त ग्रन्थ की समालोचना करते हुए इसका हिन्दी में अनुवाद हो जाने की इच्छा प्रगट की, इसके अतिरिक्त "जैन पथ प्रदर्शक," के सम्पादक श्रीयुत पद्मसिंह जी जैन ने हिन्दी अनुवाद छपाने की प्रेरणा की। वर्तमान "जैन जगत्" के सम्पादक व भूतपूर्व "कान्फ्रेन्स" के मैनेजर व "कान्फ्रेन्स प्रकाश" के सम्पादक श्रीयुत डाक्टर धारशी भाई गुलाबचंद संघाणी, एच, एल, एम, एस ने भी इसके हिन्दी अनुवाद

कराकर छुपाने की सम्मति दी तथा अन्य कई मुनि महात्माओं ने तथा कई सज्जनों ने भी इसका हिन्दी अनुवाद देखने की अति उत्कण्ठा प्रगट की, अतः इनकी दृढ़ उत्तेजना और पूर्ण-प्रेम में आबद्ध होकर मूल ग्रंथकर्त्ता तथा विवेचनकर्त्ता महाशय से इसके हिन्दी अनुवाद की स्वीकृति लेकर इस उपर्युक्त अभाव को मिटाने के लिये अनेक महानुभावों की सहायता से इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करके आपकी सेवा में उपस्थित किया है आशा है कि पाठक महोदय इसको अपना कर मेरे उत्साह को बढ़ावेंगे, हम इस संस्थापक, मुख्य संरक्षक, रक्षक इत्यादि प्रत्येक सहायक महोदय को धन्यवाद देते हुए श्रीयुत पद्मसिंह जी जैन प्रकाशक, "जैन पथ प्रदर्शक" को धन्यवाद देते हैं कि जिन्होंने अपने अमूल्य पत्र में समय २ पर इस पुस्तक की तथा कार्यालय की अन्य सूचनाएं छापी हैं इसके अतिरिक्त "ब्यावर," निवासी कुंवर कन्हैयालाल जी गार्गीय आडीटर, पं० जयदेव प्रसाद जी शर्मा, बी० ए० कुंवर अमरसिंह जी महता और शिवचन्द्र जी कड़ावत रामपुरा निवासी का हम अत्यन्त आभार मानते हैं क्योंकि इन्होंने इस ग्रंथ के प्रकाशन कार्य में बड़ी सहायता दी, तथा अपनी बहुमूल्य सम्मति भी देकर इस ग्रंथ को लोकोपयोगी बनाने की प्रेरणा और प्रयत्न किया।

अंत में हम राष्ट्रीय तथा अन्य विद्यालयों के संचालकों से विनीत प्रार्थना करते हैं कि वे इसे अपने पढ़ाई के कोर्स में स्थान देकर बालकों का उपकार करें अन्य राजा महाराजाओं से यह निवेदन है कि बड़ौदे राज्य की भाँति वे भी इसे अपना कर हमारा उत्साह बढ़ावें, साथ ही प्रिय पाठकों से

भी निवेदन करके आशा करते हैं कि जिस प्रकार यह पुस्तक गुजराती में लोक प्रिय हुई उसी प्रकार हिन्दी भाषा जानने-वाले हमारे देश बंधु भी इस हिन्दी ग्रंथ की कद्र करके हमारे प्रमोत्साह को चिरवर्द्धित करेंगे तथा उन सज्जनों के भी हम अत्यन्त आभारी होंगे कि जो हमें इसको प्रिय बनाने के निमित्त इस हिन्दी ग्रंथ में रही हुई सर्व प्रकार की त्रुटियाँ हमें सूचित करने की कृपा-प्रकट करेंगे, जिससे इसके दूसरे संस्करण में वे दोष दूर हो जाँय !

ब्यावर
श्रावण शुक्ल २
सं १९७९ वि०

निवेदक—
कुँवर मोतीलाल रांका
आनरेरी मैनेजर
जैन पुस्तक प्रकाशक कार्यालय,
"ब्यावर" (राजपूताना)

प्रस्तावना ।

गुजराती का हिन्दी भाषांतर ।

मैं अपने को कृतार्थ समझता हूं कि मुझे शतावधानी पंडित मुनि श्रीरत्नचंद्र स्वामी के एक उत्तम ग्रंथ पर विवेचन लिखने का सुअवसर प्राप्त हुआ, संवत् १९६९ में चातुर्मास पालनपुर स्थान पर करके जाते समय महाराज श्रीगुलाबचंद्रजी तथा पंडित मुनिराज श्रीरत्नचंद्रजी इत्यादि मुनि-मंडल अहमदाबाद में कुछ काल ठहरे थे ; उस समय मुनि श्रीरत्नचंद्रजी के पास "कर्तव्य कौमुदी" के कितने ही श्लोक लिखे हुए मेरे दृष्टि गत हुए और उनकी संस्कृत पद्य रचना तथा बोधक शैली दोनों मुझे आकर्षनीय लगे। ये श्लोक पढ़ने तथा उनपर मनन करने तक की मुझे मिली थी और उस समय सौ, सवासौ श्लोक ही तैयार हुए थे ; तो भी उन पर से मुझे मालूम हुआ था कि ये श्लोक छपाकर प्रसिद्ध किये जायँ तो अनेक जिज्ञासु इनका बोधामृत पान कर कृतार्थ होंगे। सामान्य जय समाज के लिये संस्कृत भाषा में लिखे हुए छंद समझना मुश्किल है परंतु इस भाषा के विशेष गुणों के लिये संस्कृत साहित्य के महान् अभ्यासी मुनि इस भाषा में ही अपने ग्रंथ की रचना करें यह स्वाभाविक ही है, इस भाषा की मधुरता तथा कर्ण प्रियता सर्व विदित है। संस्कृत का अभ्यास आधुनिक युवक वर्ग में अंग्रेज़ी भाषा के अभ्यास के साथ पुनर्जीवन पाता हुआ दृष्टि आता है. उपदेशकों को संस्कृत पद्य मुखाग्र कर उस पर स्वमति अनुसार विवेचन कर लोगों को उपदेश देना सरल पड़ता है। संस्कृत भाषा "मृत भाषा" गिनीजाती है कारण कि यह किसी देश की इस समय लोक भाषा नहीं है ; परंतु

पाश्चात्य देशों के विद्वानों भी इस भाषा के अभ्यास में अधिक अंश से जुटे हैं; इस पर से संस्कृत भाषा का विशिष्टत्व मृतावस्था से सजीवावस्था में आता जाता है इतना ही नहीं परंतु इस भाषा के थोड़े शब्दों से ही अधिक विस्तृत अर्थ का समावेश कर दिया जाता है; जिससे यह भाषा विद्वज्जनों के हृदय का आकर्षण कर रही है. प्राचीन समय के संस्कृत भाषा में रचे हुए साहित्य का अपना भंडार अमूल्य है परंतु यदि यह संकलना जारी रखने में न आवे और इस भाषा में नवीन ग्रंथ लिख कर साहित्य को बढ़ाया न जाय तो संस्कृत भाषा पर से भारतवर्षीय प्रजा की अतुल प्रीति के इतिहास में त्रुटी मालूम होने की सम्भावना है। इस कारण से आधुनिक समय में भी संस्कृत भाषा का साहित्य दिन २ वृद्धिगत हो रहा है और अनेक दृष्टि से देखते वह आदरणीय भी है. इस ग्रंथ की योग्यता उसी समय मेरे ध्यान में आई थी; परंतु जब तक उन संस्कृत श्लोकों का अर्थ न किया जाय तब तक वह सामान्यवर्ग को उपयोगी नहीं हो सकते, इसलिये अर्थ किया जाय परंतु वह प्रत्येक श्लोक के रहस्य को सम्पूर्णता से व्यक्त कर दिखावेगा ऐसा मुझे न जँचा, इस से मुझे प्रत्येक श्लोक पर विस्तृत विवेचन लिखने की आवश्यकता मालूम हुई। मूल श्लोकों का विस्तृत भावार्थ मुनि लिख कर दें तो मैं उसका विवेचन लिखूं मेरी ऐसी इच्छा हुई उनने भी इसका अनुमोदन किया और यह ग्रंथ पूर्ण तर भावार्थ के साथ श्री मुनि जी ने मेरे पास भिजवाया, उस पर विवेचन लिखना मैं ने प्रारंभ किया और कुछ श्लोको पर विवेचन लिख कर देखा परंतु वह मुझे भी संतोष प्रद न मालूम हुआ। मुझे निराश होते देख श्री मुनिजी ने विवेचन किया और कितनी ही रूप दिखाये, शैली; दृष्टांतों की आवश्यकता आदि समझाई,

पश्चात् इस पर मैं ने जो विवेचन लिखा वह आज वाचकवर्ग के समक्ष उपस्थित है.

"कर्तव्य कौमुदी" एक सर्व सामान्य और नीति बोधक ग्रंथ है उस में किसी चौकस धर्म के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन नहीं किया है और उस पर का विवेचन भी मैं ने धर्म ग्रंथों के अनुसार उन में के कई शिक्षा-वचनों को ग्रहण कर के लिखा है। किसी स्थान पर जहां लम्बे विवेचन की आवश्यकता न थी वहां भावार्थ और विवेचन का थोड़े में ही समावेश कर दिया है और जहां शंकाएँ उपस्थित होना संभव समझी वहां शंकाएं दिखाकर उनका विस्तार पूर्वक समाधान भी किया है, ग्रंथकार एक जैन मुनि है और विवेचक भी जैन है; इससे अनेक स्थान पर विवेचन तथा दृष्टांत इत्यादि में जैन छाया दृष्टिगत होगी तौ भी वस्तुतः यह एक सर्व जनोपयोगी सुबोधक ग्रंथ है और वह सब किसी को एक सा आदरणीय मालुम हुए विना न रहेगा, बन सका वहां तक ग्रंथकार के मूल श्लोक के आशय के अनुसार ही विवेचन लिखने में आया है तो भी किसी स्थान पर कुछ त्रुटि या न्यूनता मालुम हो वह विवेचक की त्रुटि समझ कर [illegible]ना दें जो कुछ खूबी मालुम हो वह मूल में ग्रंथकार क दें। [illegible] रूप रेखाओं पर कलम चलाने वाले की नहीं, किन्तु मूल ग्रंथकार की है जैन धर्म के मुनियों में उपदेश देने की दो तरह की मान्यता है। एक वर्ग की ऐसी मान्यता है कि जैन मुनियों का धर्म निवृत्ति प्रधान है। इससे उन्होंने भी गृहस्थों को समाइक, पौषध संसार-त्याग, भृति और निवृति धर्म का ही उपदेश देना चाहिये। दूसरे वर्ग की यह मान्यता है कि जिस वर्ग को उपदेश देना है उसकी स्थिति का विचार उपदेशक को प्रथम कर लेना चाहिये। जिस जमाने में, जिस देश में, जिस धर्म की विशेष आवश्यकता हो उस जमाने में उस देश में उस धर्म पर भार

देकर जिस तरह लोक धर्माभिमुख हों और निश्चिंतता से धर्म का पालन कर सकें वह मार्ग उपदेशकों द्वारा गृहस्थों को दिखाया जाना कुछ शास्त्र का विरोधी नहीं है इसी तरह मुनियों के आचार सम्बंधी वर्णन करनेवालों ने "अचारांग-सूत्र" की कलम में स्पष्टता से कहा कि:—केयं पुरि से कंचणए रास वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए उड्ढ अहं तिरियं दिसासु ॥ अर्थात् (मुनि उपदेश देते समय) श्रोता पुरुष किस तरह का है तथा उसका मत क्या है इत्यादि विचार कर जो मुनि संसार में ऊर्द्ध, अधः और तिर्च्चन दिशा में बंधे हुए जीवों को छोड़ता है—सन्मार्ग दिखाता है वही पुरुष पराक्रमी और प्रशंसनीय है।

उत्तराध्ययन सूत्र के तेरहवें अध्ययन की ३२ वीं गाथा में चित्तमुनि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को उपदेश देते समय कहते हैं:—जइ तंसि भोए चइउं असत्तो। अज्जाइ कम्माइं करेहि रायं। अर्थात्—हे राजन् जो तू भोगों को त्यागकर सर्वथा निवृत्ति मार्ग लेने को असमर्थ है तो आर्य कर्म अर्थात् शिष्ट पुरुषों को करने योग्य ऐसे कर्तव्य बजा। (कि जिससे सद्-गति प्राप्त हो)

यह दूसरे प्रकार की मान्यता ज़माने के अनुकूल होने से लोकों को श्रेयस्कर मार्ग पर चलानेवाली है; यदि लोकों की प्रवृत्ति व्यवहार बिलकुल शुद्ध हो तो उस प्रवृत्ति या व्यवहार के मार्ग में उपदेश देने की उन्हें आवश्यकता नहीं, परंतु वर्त-मान समय के गृहस्थों की प्रवृत्ति चाहिये उतनी योग्य नहीं; इससे ही लोक हर तरह पीछे रहते जाते हैं, ऐसी स्थिति में केवल निवृत्ति का ही उपदेश दिया जाय तो उससे "अतो-भ्रष्टः ततोभ्रष्टः" होने योग्य मौका आता है-अर्थात् निवृत्ति धर्म का रंग चढ़ता नहीं और प्रवृत्ति भी सुधरती नहीं। कुप्र-

वृत्ति से एक बार सुप्रवृत्ति होजाय तो फिर वह निवृत्ति-धर्म में दाखिल होने योग्य हो सक्ता है। यह सब विचार कर ग्रंथकार ने एक त्यागी मुनि होने पर भी वर्तमान समय की ओर दृष्टि डाल कर गृहस्थ धर्म के शुभ व्यवहार का उपदेश किया है, वह बिलकुल योग्य ही है। गृहस्थों के ऊपर गृहस्थ के उपदेश का जितना असर होता है उससे अधिक असर त्यागी वर्ग के उपदेश का पड़ता है यह निस्संदेह है। अब बढ़ते हुए अशुभ व्यवहार और उससे होती हुई गृहस्थों की दुर्दशा देख कर मुनि वर्ग अवनति रोकने के लिये कुछ भी न कहैं तो वह कैसे रुके और उसके मिटे बिना निवृत्ति धर्म कैसे सम्हाला जाय? वर्तमान समय में बाल-लग्न कन्या विक्रय गृह शिक्षण की त्रुटियां और उद्योग में अनीति इतनी बढ़ गई है कि जिससे धर्म भी एक तरह कलंकित होता जाता है उन्हें रोकने के लिये ही मुनिश्री ने इस ग्रंथ में उन रिवाजों का विस्तृत विवेचन किया है ग्रंथकार का ऊपर्युक्त आशय शुभ प्रवृत्ति का प्रचार करने का है परन्तु आंतरिक आशय शुभ प्रवृत्ति के सोपान (सिड्ढी) पर पग दिला कर वाचकों को निवृत्ति धर्म की दिशा दिखाने का है। ऐसा होते भी ग्रंथकार ने प्रवृत्ति दर्शक और व्यवहार दर्शक प्रत्येक वाक्य की रचना आदेश रूप से नहीं किन्तु उपदेश रूप से ही की है, हर एक प्रवृत्ति के गुण दोष दिखा कर दोष वाली प्रवृत्ति को हेय रूप और गुणवाली प्रवृत्ति को उपादेय रूप समझाते हुये आदेश उपदेश सम्बन्धी ग्रंथकार ने बड़ा ध्यान रखा है। इसी तरह ऐसे उपदेश ग्रंथ जैन मुनियों के हाथ से लिखाते रहैं तो आधुनिक जन समाज पर बड़ा भारी उपकार होगा॥

अहमदाबाद आषाढ़ी पौर्णिमा सं १९७० } ली० चुन्नीलाल वर्धमानशाह

उपोद्घात

रातो गुज से हिन्दी अनुवाद

जब मनुष्य निज सम्बन्धी विचार करते २ इहलोक के स्थूल तथा सूक्ष्म सम्बन्धों का त्याग देता है; तब वह इस जगत् के निर्जन भासित प्रदेश में अपनेको अहम अर्थात् "मैं" रूप से देखता है। जब वह दृष्टि को कुछ विशाल बनाकर संसार की ओर फैलता है तब वह देखता है कि जिस तरह स्वयं "मैं" हूं ऐसे अनेक "मैं" रूप इस जगत् में रहते हैं। तब तुरन्त ही उसके मन में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि "मैं" कौन हूं ? और मुझ से अन्य दूसरे "मैं" कहलाते हैं वे कौन हैं ? चैतन्यमत वादियों में जो द्वैत वादी हैं वे तो बहुत से "मैं" रूप को भिन्न २ आत्मरूप मानते हैं जो अद्वैत-वादी हैं वे सब "मैं" रूप को परमात्मा के भिन्न २ अंश रूप मानते हैं तथा सब में एक परमात्मतत्व व्याप रहा है ऐसा समझते हैं और जड़ वादी मनुष्य में आत्मा या परमात्मा कुछ भी नहीं मानते वे कहते हैं कि प्रत्येक देह में चोक्कस प्रकार का विद्युत्तत्त्व अथवा चैतन्य है; उसके सहारे ही यह सम्पूर्ण देह स्थित है। "मैं" रूप कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक मतभेद हैं और होंगे। मनुष्य की बुद्धि के विकास के साथ ये भेद वृद्धिगत होते हुयें भी मालूम होंगे। परन्तु जब मनुष्य "मैं" सम्बन्धी विचार को किसी प्रकार के निर्णय बिना पूर्ण कर देता है तब उसके चित्त में तुरन्त ही दूसरा यह विचार पैदा होता है कि "तब

इस संसार में मेरा कर्त्तव्य क्या है ?" "मैं कौन हूं" इस प्रथम प्रश्न के भिन्न २ उत्तर मिलेंगे परन्तु इस द्वितीय प्रश्न के उत्तर तो हमेशा सब तरफ से एक से ही मिलेंगे। इस जगत् में मनुष्य के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में भिन्न २ विद्वान् कितनी ही गौण बातों में मतभेद करेंगे; परन्तु वे सब इतना जवाब तो अवश्य देंगे कि यह "मैं पना सफल हो; ऐसे इस संसार में रहकर प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये कारण कि यह "मैं" पना दुर्लभ है" यह मैं पना या मनुष्यत्व सफल करने के लिये योग्य कर्त्तव्य कौन २ से हैं वे बिना जाने उनकी तरफ लक्ष्य देने की अभिरुचि मनुष्य में नहीं होती। इससे जो अपने जीवन को अपने कर्तव्य अदाकर सफल कर गए हैं उनने ही दूसरों पर उपकार कर अपने कर्त्तव्य समझाये हैं। कर्त्तव्य सम्बन्धी उपदेश देने वाले अनेक ग्रंथ भिन्न २ भाषाओं में लिखे हुए विद्यमान हैं और इन ग्रंथों को बोध-विस्तार के साथ समझाने वाले उपदेशक तथा त्यागियों का भी बड़ा समुदाय संसार में है। मनुष्यत्व को सफल करने के लिये मनुष्य के कर्त्तव्य प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर एक से होते हैं; तथापि जैसे २ ज़माना बदलता जाता है वैसे २ कर्तव्य सम्बन्धी उपदेश के प्रकार को भी बदलने की आवश्यकता पड़ती है। प्राचीन समय की प्रजा जिस खुराक को पचा सकी थी उस खुराक को वर्तमान मंद जठराग्नि वाली प्रजा नहीं पचा सकी। इसलिये प्राचीन खुराक में कोई ऐसा नवीन तत्व मिलाकर दिया जाय कि जिसे आधुनिक प्रजा का जठर पचा सके और इस तरह उसके देह को पुष्ट करने का मूल हेतु परिपूर्ण करना आवश्यक है। ऐसा करने से खुराक के अंदर का तत्त्व तो एक ही रहता है और उससे पुष्टि प्राप्त करने का गुण भी एक सा है तथापि खुराक के बाह्य दृश्य में अथवा

स्वाद में कुछ भी अन्तर पड़ता है और इस अंतर जमाने के अनुकूल होने के लिये ही करने की आवश्यकता हुई है। इसी तरह वर्तमान समय के अनुकूल हो उस रीति से और समय की आवश्यकतानुसार, विषयों का अनुलक्ष कर कर्त्तव्य सम्बन्धी उपदेश देने वाली ग्रंथ रचनाओं की प्रथम आवश्यकता हुए बिना नहीं रहती।

प्रत्येक क्षण के, प्रत्येक स्थल के, और प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्य अमुक स्थिति में ही करने योग्य हैं; यह नहीं समझना चाहिये। हर एक स्थिति में कुछ न कुछ अवश्य कर्त्तव्य करने ही पड़ते हैं अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिये और उससे इष्ट फल या अनिष्ट फल की प्राप्ति हो उस ओर लक्ष भी न देना चाहिये। धनाढ्य बने या दरिद्री, सुखी बनें या दुखी, यह कुछ अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं है। प्रत्येक मौक़े पर अपना कर्त्तव्य अदा करना यही अपने हाथ में है। और यही अपने को करना है। उत्कृष्ट जीवन का सार भी इसी में ही है। गीता में भी ऐसा उपदेश दिया गया है कि "कर्मण्ये वाधिका रस्तेन फलेषु कदाचन" अर्थात् सिर्फ कर्तव्य कर्म करने का ही तुझे अधिकार है; फल सिद्धि होती है या नहीं यह तुझे नहीं देखना चाहिये। उसी तरह प्लोटो ने भी उपदेश दिया है कि Let men of all ranks, whether they are successful or unsuccessful whether they triumph or not let them do their duty and rest satisfied. अर्थात् ऊंची या नीची सब अवस्थाओं के मनुष्य; चाहे वे अपने प्रयत्न में सफल हों या निष्फल; तो भी उनको अपने कर्त्तव्यकर्म अदा कर संतुष्ट रहना चाहिये, कर्तव्य सम्बन्धी इस न्याय-सूत्र को लक्ष्य में रख कर प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक समय और स्थल का विचार कर कर्तव्य में तत्पर बनें तो इस

जगत को तथा इस समय को त्यागी मनुष्य दुःख से भरपूर कहते हैं, वे ही खुद इसमें सर्वत्र सुख ही सुख निरखने लगें।

परंतु कर्तव्य परायणता का विनाश हुआ है इतना ही नहीं; कर्त्तव्य समझने की बुद्धि शक्ति भी मनुष्य में न्यूनता दिखाने लगी है और इसलिये इस सम्बन्ध के उपदेश तथा उपदेशिक ग्रंथों को रचने की आवश्यकता मालूम होने लगी है। जब तक कर्त्तव्य न समझ में आवें तब तक कर्त्तव्य बजाने में तत्परता केवल असम्भव ही नहीं कठिन भी है, 'कर्त्तव्य' इस शब्द का जो वास्तविक अर्थ करें तो 'करने योग' ऐसा होता है, इस से कर्त्तव्य सम्बन्ध में मनुष्यों को करने योग्य कार्यों का ही दिग्दर्शन कराया जाय तो वह योग्य समझा जाता है, सत्य बोलना, बड़ों का आदर करना, विद्या पढ़ाना इत्यादि कर्त्तव्य हैं, और उससे सम्बन्ध रखनेवाले उपदेश का कर्तव्य-बोध ऐसा नाम योग्य ही है। परन्तु झूठ नहीं बोलना, बड़ों का अपमान न करना, विद्या पढ़ने में प्रमाद नहीं करना; इस अकर्त्तव्य-निषेध-बोध की भी अब आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। लोगों को नीति तथा धर्म की राह पर चलने का उपदेश करने के लिये 'कर्तव्य' का उपदेश देना या अकर्त्तव्य का निषेध करना, इन दोनों में से किसी एक मार्ग की पसन्दगी के लिये विद्वानों में कितने ही मतभेद हैं। एक समुदाय का अभिप्राय ऐसा है कि हमेशा कर्त्तव्य-नतिक कर्म का ही उपदेश देना तथा अकर्त्तव्य कर्म के त्याग करने का उपदेश देना ही नहीं कारण कि इस निषेध का उपदेश करते समय अकर्त्तव्य की समझ पहिले ही समझानी पड़ती है और पश्चत् उसका निषेध सुझाया जाता है और उसका परिणाम यह होता है कि जिसके चित्त में अकर्त्तव्य सम्बन्धी एक भी विचार पैदा नहीं हुआ था; उसके चित्त में इस रीति से यह अकर्त्तव्य सम्बन्धी उपदेश उलट

उलट रीति से बैठने लगती है। उदाहरणार्थ लिखते हैं कि एक पांच छः वर्ष के बालक को ऐसे अकर्त्तव्य निषेध की शैली से उपदेश दिया जाय कि झूंठ नहीं बोलना चाहिये तो झूंठ क्या वस्तु है? यह जानने की जिज्ञासा-वृत्ति बालक के मन में उत्पन्न होगी और आज तक सत्य ही बोलना यह धर्म समझा हुआ बालक अब से झूंठ न बोलना ऐसा उपदेश सुन कर अपने अन्तरात्मा से प्रश्न करेगा कि "तब तो संसार में कोई झूंठ भी बोलता होगा?" इस तरह झूंठ से बिलकुल अनभिज्ञ बालक को झूंठ सम्बन्धी तर्क उत्पन्न होने लगती है और इस तरह उसके समक्ष शनैः अनीति के द्वार खुलने लगते हैं। इसलिये इस समुदाय का अभिप्राय ऐसा है कि हमेशा प्रतिपादक-शाली का ही उपदेश देना चाहिये परंतु निषेधक शैली का उपदेश नहीं देना चाहिये। कारण कि उससे चित्त दुर्गुणों को ग्रहण रकने वाले संयोगों में फंसता है। दूसरे वर्ग का अभिप्राय ऐसा है कि कर्त्तव्य की शिक्षा के साथ निषेधक वस्तुओं के निषेध की शिक्षा भी देना चाहिये। कारण कि जमाने के हेर फेर ने ही ऐसे उपदेश की आवश्य-कता सिद्ध की है। जो दुर्गुणों की समझ के साथ उनसे दूर रहने का उपदेश न दिया जाय तो जगत् दुर्गुणी मनुष्यों से भरा हुआ होने से दुर्गुण की कल्पना न लाने वाले भोले हृदय वाले भी उन दुर्गुणियों के हाथ में अनायास फंस जावें; परंतु जो उन्हें उनसे होने वाले अहित समझा कर उनसे दूर रहने का उपदेश दिया जाय तो वे उनके चंगुल में कभी न फंसेंगे। संसार में यह दूसरे समुदाय का अभिप्राय विशेष मान्य हुआ है और इसलिये कर्तव्य सम्बन्धी उपदेश का एक भाग अकर्तव्य के निषेध के उपदेश का ही है। मिः स्माइल्स कि जिन्होंने कर्तव्य सम्बन्धी एक बड़ा ग्रंथ Duty अंग्रेजी

भाषा में लिखा है उसका अभिप्राय भी इसी तरह है। वे कहते हैं कि Duty begins with life and cuds with death it bids used what is right and forbids our doing what is wrong. अर्थात् मनुष्य के जन्म के साथ ही उसके कर्तव्य का काम प्रारंभ होता है और उसकी मृत्यु के साथ ही वह कर्तव्य समाप्त होता है।

जो कुछ सच्चा कार्य हो उसे करना और बुरा हो उसे न करना ऐसा वह अपने को कहता है इससे समझ सकते हैं कि वर्तमान जमाने के योग्य कर्तव्य के उपदेश में अकर्तव्य के निषेध का भी समावेश होना चाहिये।

वर्तमान समय और स्थिति का दीर्घ विचार करके ही इस ग्रन्थ के भिन्न भिन्न खंडों की रचना की गई है। मनुष्य कर्तव्य के दो मुख्य प्रकार हैं, एक प्रकार का कर्तव्य ऐसा है कि जो जीवन के अंत तक एक सा ही करना पड़ता है और उसे सामान्य कर्त्तव्य कहते हैं दूसरा विशेष कर्त्तव्य है कि जो मनुष्य की बदलती हुई अवस्था के साथ ही बदलता है। "सामान्य कर्त्तव्य' का उपदेश इस ग्रंथ के प्रथम खंड में दिया गया है और वह मनुष्य की सब अवस्थाओं के कर्त्तव्य की भूमिका रूप है इस खंड में एकंदर बारह परिच्छेद हैं पहिले दो परिच्छेदों में 'कर्त्तव्य' और कर्त्तव्य के अधिकारियों की पहिचान बतला कर तीसरे परिच्छेद में अवस्था पर कर्त्तव्य के विभाग और क्रम दर्शाये गये हैं। मनुष्य के जीवन के चार विभाग करने की सूचना प्रथम दर्शाने पर वे चार विभाग और प्रत्येक विभाग के विशिष्ट कर्त्तव्यों का इस परिच्छेद में दिग्दर्शन किया है 'कर्तव्य' सम्बन्धी इतनी प्रावेशिक विवेचना करने के पश्चात् सामान्य कर्त्तव्य के विषय का चौथा परिच्छेद प्रारम्भ होता है. कर्त्तव्य की प्रथम स्फुरणा चित्त-

वृत्ति में होती है; इसलिये चौथे परिच्छेद में चित्तवृत्ति का स्वरूप दर्शाने के पश्चात् पांचवें परिच्छेद में चित्तवृत्ति की दूसरी अवस्था संकल्प है उसकी शक्ति दर्शाई है और कर्त्तव्य के विचार को संकल्प शक्ति का बल मिलने से मनुष्य कर्त्तव्य परायण हो सक्ता है इसके लिये षष्ठ परिच्छेद में कर्त्तव्य परायणता दर्शाई है। कर्त्तव्य परायण होने के पश्चात् भी उसे उत्तेजना की आवश्यकता रहती है और नहीं तो कर्त्तव्य परायणता का वेग कम होजाने से मनुष्य की प्रवृत्ति कर्त्तव्य में नहीं लगती—इस कारण से सातवें परिच्छेद में उत्साह रूप उत्तेजक बल दर्शाया है और आठवें नवें और दशवें परिच्छेद में कर्त्तव्य के घातक दोषों से कर्त्तव्य परायणता का ह्रास न हो; इसलिये क्रमशः आलस्य, क्रोध, मात्सर्य और निन्दा इत्यादि दोषों की पहिचान दिखाई है, घातक दोषों से बचकर तथा उत्तेजक से उत्साहित हो कर कर्त्तव्य संकल्प भूमि में सुदृढ़ होकर वचनों में दिखाई देते हैं वे वचन कैसे होना चाहिये जिससे कर्त्तव्य की विशेष मजबूती हो! वह ग्यारहवें परिच्छेद में दर्शाया है। वचनों के दोष दूर होने पश्चात् कर्त्तव्य प्रतिज्ञा के रूप से बाहर आता है, वह प्रतिज्ञा किस रीति से पालनी चाहिये वह बारहवें परिच्छेद में दर्शाया है। यहां प्रथम खण्ड की तथा सामान्य कर्त्तव्यों के विचार की समाप्त होती है।

दूसरे खंड से विशेष कर्त्तव्य का प्रारम्भ होता है। इस खंड में मनुष्य की प्रथम विद्यार्थी-अवस्था के दो कर्त्तव्यों का वर्णन है। एक प्रकार का कर्त्तव्य तो विद्यार्थी अवस्था तक ही पालना पड़ता। वह पहिले पांच परिच्छेदों में दर्शाया है और षष्ठ परिच्छेद से सोलहवें परिच्छेद तक कर्त्तव्य का पालन विद्यार्थी अवस्था के बाद प्रारम्भ करने का है परन्तु वह कर्त्तव्य विद्यार्थी

अवस्था में ही सीख कर संग्रह कर लेने योग्य है। प्रथम चार परिच्छेद में गर्भ-प्रवेश से विद्या-समाप्ति तक क्रमशः संस्कार और शिक्षा की योग्यता का निदर्शन है, शिक्षा में समुचित शरीर-बल तथा बुद्धि-बल की वृद्धि के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है; इस लिये पांचवें परिच्छेद में ब्रह्मचर्य का वर्णन है आरोग्यता रहने के सम्बन्ध में और मिताहार की प्रथम सूचना तथा शिक्षा की सूचना की भी इसी अवस्था में आवश्यकता होने से सातवें परिच्छेद में इन विषयों का उपदेश किये पश्चात् आठवें परिच्छेद में विद्यार्थियों को अपने पूज्यों की ओर के धर्म तथा नवे परिच्छेद में सहाध्यायी के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये यह समझाया है, दसवें से सोलहवें परिच्छेद तक व्यसनों से दूर रहने का उपदेश है, दुर्व्यसनों से अज्ञानी विद्यार्थी को उनके अनर्थ दिखा कर उन से दूर रहने के लिये निषेधक शैली का उपदेश यहां दिया है। पूर्व दर्शित कर्त्तव्य विषय में अकर्तव्य के परिहार का भी समावेश हुआ है और उससे इस प्रसंग में उसी तरह दूसरे, प्रसंगों में भी अकर्त्तव्य का निषेध सुझाया है।

तीसरे खंड के एकअंदर नौ परिच्छेद हैं। गृहस्थावस्था में स्त्री और पुरुष रूपी दो चक्रों से ही रथ चलता है: ये दोनों चक्र कितनी योग्यता रखते हों, तब ही वे शकट युक्त हो सकते हैं यह दिखाने के लिए पहिले ही परिच्छेद में गृहस्थधर्म में प्रवेश करने का अधिकार कब प्राप्त होता है; यह दिखाया है. दूसरे तथा तीसरे परिच्छेद में स्त्रियों के कर्त्तव्य दिखाये हैं, जिसमें सधवा तथा विधवा दोनों प्रकार की स्त्रियों के कर्त्तव्यों का उपदेश दिया है। चौथे से नवें परिच्छेद तक पुरुषों के धर्म दिखाये हैं इन धर्मों में प्रथम माता-पिता के प्रति

कृतज्ञता रूप धर्म दर्शाया है, उस के पश्चात् कुटुम्ब में शान्ति रहने के लिए उदारता तथा सहिष्णुता रूप गुणों की आवश्यकता होने से वे दिखाये हैं। माता पिता तथा कुटुम्ब की परिचर्या के पश्चात् तीसरा स्थान मित्र का है, उसके पश्चात्, स्त्री प्रभृति से किस प्रकार का व्यवहार या प्रेम रखना चाहिये; वह दिखाते हुये स्वार्थी-प्रेम की विधि दर्शाई है, पुत्र और पुत्री के साथ समान प्रेम दिखाने का कर्त्तव्य समझाते हुये पुत्री का अहित करनेवाली कन्या-विक्रय के राक्षसी रिवाज का निषेध भी समझाया है। गृहस्थ को धन की आवश्यकता है और धन के लिये उद्योग की ज़रूरत है परन्तु उस उद्योग में नीति और सत्य की व्याप्ति किस तरह होनी चाहिये; उसका सार अंतिम खंड में दिखा कर इस खण्ड को समाप्त किया है।

जीवन की अवस्थाओं के भेदों को अनुलक्ष कर उस संवन्धी कर्त्तव्य का क्रम संगठन करने से तीसरे खण्ड तक मनुष्य की युवावस्था के कर्तव्यों का बोध आ जाता है, तीसरी और चौथी अवस्थाओं के कर्त्तव्य के लिये चौथा और पाँचवाँ खण्ड "कर्त्तव्य कौमुदी" के दूसरे ग्रन्थ में आवेगा, इस तरह मनुष्य के समस्त, जीवन के कर्तव्य के उपदेश इस ग्रन्थ में दिखाये गए हैं 'मैं कौन हूं' इस प्रश्न का उत्तर ज्ञाता मनुष्य ही समझ सकते हैं, परंतु "मेरा कर्त्तव्य क्या है? यह तो उपदेश और बुद्धि के संयोग से सब मनुष्य समझ सकते हैं, यह समझ कर उस संवन्धी ज्ञान को आचार तथा विचार विचार में उतारने से "मैं कौन,' इस प्रश्न का उत्तर देने की सामर्थ्य भी आत्मा में आ जाती है। भव्य जीव इतना समझ कर इस उपदेश ग्रन्थ का यथोचित उपयोग करेंगे तो यहां ग्रन्थकार के प्रयास की सफलता है।

अहमदावाद
आषाढी पौर्णिमा सं० १९७० } चुन्नीलाल वर्द्धमानशाह

* श्री *

हिन्दी कर्त्तव्य कौमुदी के प्रथम खण्ड

की

विषयानुक्रमणिका।

चतुर्थ परिच्छेद

पंचम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

दशम परिच्छेद

एकादश परिच्छेद

द्वादश परिच्छेद

(प्रथम खण्ड की विषयानुक्रमणिका समाप्त)

—:०:—

॥ ॐ श्री वीतरागाय नमः ॥

हिन्दी

कर्त्तव्य-कौमुदी

ग्रन्थारम्भ के समय मङ्गलाचरण रूप परम मङ्गल ऐसे श्री इष्टदेव की स्तुति करने की रीति; प्राचीन समय में सर्व आर्य ग्रन्थ लेखकों में प्रचलित थी। सर्व धर्म के आदि स्थान रूप माने हुये आर्यावर्त्त देश में जहाँ तक धर्म रुचि प्रधानता से प्रवृत्त हो रही है, और धर्म-नायकों के कृपा प्रसाद से अपना भला होने का सद्विश्वास लोकों में सुप्रचलित है, वहाँ तक प्रत्येक मङ्गल कार्यारम्भ में इष्टदेव अर्थात् धर्म-नायक का स्मरण करने की प्रथा आर्यावर्त्त में मुख्यता से प्रचलित रहेगी। शिष्टाचार की भी यही प्रणाली है। इस प्राचीन प्रथा का अनुसरण कर ग्रन्थकार इष्टदेव का संस्तवन करते हैं।

शिष्टानामेष समयस्ते सर्वत्र शुभे किल।
प्रवर्त्तन्ते सदैवेष्ट-देवतास्तवपूर्वकम्॥

अर्थात्—शिष्ट-पुरुष हमेशा इष्टदेव की स्तुति कर के ही शुभ कार्य का प्रारम्भ करते हैं। यह शिष्टाचार है।

शार्दूल विक्रीडित वृत्तम्।

मङ्गलाचरणम्॥ १॥

जीवान् स्वाचरणेन देष्टुमिव यत्सर्वेन्द्रियाणां जयम्॥
त्यक्तं राज्यसुखं क्षणादभिमुखं लब्धुं पदं श्रेयसः॥
संत्रस्तोद्धरणे परार्थकरणे येनार्पितं जीवनं।
स श्री वीरजिनो विनष्टवृजिनो नः श्रेयसे पावनः॥१॥

मङ्गलाचरण।

भावार्थ:—जिस मार्ग से संसार के जीव अभ्यन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर आत्मिक अभ्युदय में लीन होते हैं, उसी मार्ग की ओर निर्मल दृष्टि रख; भव्य जीवों को उसी मार्ग की ओर झुकाने की इच्छा से कर्म और संसारी दुःखों से सर्वथा छूटने का मार्ग प्राप्त करने के लिये; जिसने प्राप्त राज्य-सुख क्षणमात्र में त्याग दिया, इतनाही नहीं; परन्तु त्रयताप से त्रास पाते हुये जगत के जीवों का उद्धार करने के निमित्त; एवम् परमार्थ के कार्य करने के निमित्त अपना समस्त जीवन समर्पण किया, वेही सर्व पापों के नाश करनेवाले पवित्रात्मा श्री वीर भगवान हमारा कल्याण करें ॥ १ ॥

विवेचन:—आधुनिक पञ्चमकाल में चरम अर्थात् पिछले तीर्थंकर श्री महावीर भगवान का शासन प्रचलित है। महावीर स्वामी मोक्षपद को प्राप्त हुए; उनके पश्चात् स्वल्पकाल से ही पञ्चमकाल का प्रारम्भ हुआ कि जिस पञ्चमकाल को श्री वीर भगवान् ने दुःखमय कहा है! इस दुःखमय पञ्चमकाल में भी धर्मानुकूल वृत्ति से वर्ताव रखनेवाले जीवों का कल्याण हो सकता है।

धर्मानुकूल सद्वृत्ति धारण करना; यह प्रत्येक मनुष्य-प्राणी का कर्त्तव्य है कि जिस को पूर्णतया पालन करने से इह-लौकिक तथा पारलौकिक श्रेष्ठ सुख की साधना हो सकती है। पञ्चमकाल के मनुष्य परम्परा से अल्पवीर्य, अल्पबुद्धि और अल्पधर्म-रुचि वाले होते जाते हैं, इसलिये उन्हें दोनों प्रकार के कल्याण के निमित्त कर्त्तव्य का बोध करानेवाले माङ्गलिक कार्य में प्रवृत्त होने के पूर्व प्रभु की स्तुति करना उचित है। परन्तु जैनधर्म के चतुर्विंश (२४) तीर्थङ्करों में कौन से तीर्थङ्कर का स्तवन करना इस अवसर पर विशेष उचित

है? यह प्रश्न उपस्थित होने के साथ ही बुद्धि और वृत्ति परम उपकारी दोष रहित महत्पुरुषों का शोध करने के लिए भूतकाल की ओर प्रयाण करती है। जहाँ पर सब से प्रथम दृष्टि में समीप के सम्बन्ध से, और निकटवर्ती होने से चरम तीर्थङ्कर महावीर प्रभु की उपस्थिति होती है। यद्यपि स्मृति को आगे बढ़ाने से दूसरे तीर्थङ्करों का स्मरण आना सम्भव है, तथापि प्रथम उपस्थिति का प्रथम विचार होता है— "उपस्थितं परित्यज्य नानुपास्थितं सेव्यत" इस नियम से इतनाही नहीं परन्तु वर्त्तमान-काल में जिनका धर्म-राज्य प्रचलित हो रहा है और जिनके कथित शास्त्र; मनुष्य को सन्मार्ग का उपदेश देकर धर्म की जागृति कर रहे हैं; उन महापुरुष की दूसरे तीर्थङ्करों से प्रथम उपस्थिति हो इसमें कुछ नवीनता नहीं है। इस आशय से ही ग्रन्थकार ने मङ्गलाचरण में प्रथमोपस्थित महावीर प्रभु का स्तवन किया है। यद्यपि सर्व तीर्थंकर समान ही हैं, तथापि हमारे ऊपर महावीर प्रभु का विशेष उपकार है। सच पूछो तो वीर शब्द से ही उत्कृष्टता बोधक अर्थ निकलता है, "विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणीति वीरः" अर्थात् जो कर्मों को धक्के देकर आत्मा से पृथक कर देता है वही वीर है। अथवा:—

विदारयति यत्कर्म तपसाच विराजते॥
तपो वीर्येण युक्तश्च तस्माद्वीर इति स्मृतः॥

अर्थात् जो कर्मों को नाश कर दूर कर देते हैं, तप की प्रभा से विशेष शोभित हैं, और कर्म को तपाने की शक्ति से सम्पन्न हैं इस लिये वे ही वीर कहलाते हैं "राग द्वेषौ जयतीति जिनः" और वे राग और द्वेषको जीतने से जिन कहलाते हैं। राग, द्वेष ये ही कर्म के बीज हैं। कहा है कि, "रागोय

दोषो विय कम्म बीयं" राग और द्वेष ये दोनों ही कर्म के बीज हैं। मूलं नास्ति कुतः शाखा ? बीज के जल जाने पर उससे विस्तार रूप कर्म का फैलाव कैसे हो ? और भूत कालादि कर्मों का तपश्चर्यादि से नाश होने से वे प्रभु कर्म रहित हुए, इसी लिये कहा है कि "विनष्ट वृजिनः" वृजिन अर्थात् पाप और उससे लगे हुए कर्मों का जिनने सर्वतर नाश कर दिया है—जो स्वतः शुद्ध हैं, वे दूसरों को भी शुद्ध मार्ग की ओर प्रवृत्त कर पवित्र बना सकते हैं। इसलिये ग्रन्थकार प्रार्थना करते हैं कि वे पवित्र वीर प्रभु हमारे श्रेय के कर्त्ता हों। वर्तमान समय में वे प्रभु मुक्त-सिद्ध हैं और सिद्ध को तो कुछ भी करना शेष नहीं रहता है, इसलिये 'करोतु' अर्थात् करो इस पद का प्रयोग न करके अस्तु पद का प्रयोग किया, उसका आशय यह है कि, "जिस मार्ग पर चलकर वीर प्रभु ने अपना श्रेय सिद्ध किया; वही मार्ग सर्वथा हमको भी प्राप्त होवे"। यह भावना स्तवन की फलितार्थ है। वह मार्ग कौनसा और उसमें किस रीति से चलना चाहिये ? इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर श्लोक के पहिले तीन चरण में ग्रन्थकार ने बताया है कि जैसे जगत के जीवों का कल्याण करने के लिये; और उन्हें विजय का मार्ग दिखाने के लिये; महावीर भगवान ने सिद्धार्थ राजा की ओर से; अधिकार में प्राप्त हुई राज्य सम्पदा का मोह त्याग कर; सर्व इन्द्रिय जनित विषय सुखों को तिलाञ्जली दे; दुष्कर त्याग-धर्म अंगीकार किया, और अति कठिन चरित्र का आराधन कर अनेक क्लेश दुःख सहन करके; जिनको साधारण मनुष्य न सह सके; ऐसे कष्ट उठाकर, आन्तरिक शत्रुओं पर; विजय पा ज्ञान सम्पत्ति प्राप्त कर; उस सम्पत्ति द्वारा जगत के जीवों को विजय का मार्ग दिखाया और त्रिविध ताप से तप्त जगत के दुःखी जीवों का उद्धार करने के

लिये परोपकार के मार्ग में समस्त जीवन समर्पण कर दिया। उसी प्रकार श्रेय के लिये प्रत्येक मनुष्य को अपने सुख की उपेक्षा कर; यथा शक्ति पारमार्थिक कार्यों की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करना चाहिये, ऐसे गुप्त भेद को आशय में रख कर "येनार्पितं जीवनं" इस पद्य का ग्रन्थकार ने उच्चारण किया है। १।

[ग्रन्थ का विषय और उसका प्रयोजन जहाँ तक नहीं बतलाया जाय; वहाँ तक जिज्ञासुओं की प्रवृत्ति ग्रन्थ पढ़ने की ओर नहीं झुकती, उनका निर्धारित प्रयोजन पूर्ण होगा या नहीं; इसका सन्तोषजनक निश्चय होने के पश्चात् ही वे पढ़ने में दत्त चित्त होते हैं। इसीसे कहा है कि, "सर्वस्यैव शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते॥ १॥ न चान्य विषयस्येह शक्यं वक्तुं प्रयोजनं॥ काकदंत परीक्षादेरल्पप्रयोगार्थसिद्धितः॥ २॥ अर्थात् जहाँ तक किसी भी शास्त्र अथवा कार्य का प्रयोजन नहीं बतलाया जाय; वहाँ तक उसकी ओर ग्राह्य-बुद्धि किसकी हो? किसी की नहीं (१) इसी प्रकार जहाँ तक ग्रन्थ के विषय का निर्देष नहीं किया जाय; वहां तक प्रयोजन भी कैसे बतला सकते हैं? और प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति भी संभव नहीं हो सकती, कौए के दांतों की परीक्षा करते हुए किसी को देखा है? किसी को नहीं॥ २॥ इस नियमानुसार ग्रन्थ के प्रारम्भ में विषय और प्रयोजन दर्शाने की आवश्यकता समझ कर ग्रन्थकार दूसरे श्लोक में विषय और प्रयोजन का निर्देष करते हैं।]

विषय प्रयोजन कथनम्

येऽज्ञात्वापि हिताहिते हित पथं, हित्वा व्रजन्त्युत्पथं।
तेषां शास्त्रमनर्थकं किल ततो, नायं तदर्थे श्रमः॥
ये गन्तुं महिते समुन्नतिपथे, वाञ्छन्ति जिज्ञासव।
स्तेषां बोधकृतेऽस्ति मत्कृतिरियं, कर्तव्य-निर्देशिनी॥ २॥

ग्रन्थ का विषय और प्रयोजन क्या है ?

भावार्थः—यह मार्ग हितकर है और यह मार्ग अहितकर; है ऐसा वास्तविक रीति से दोनों मार्गों का सच्चा स्वरूप समझने के पश्चात् भी जो पुरुष स्वभाव के वश हो हित का मार्ग त्याग कर अहित के मार्ग पर ही चलते हैं—हाथ में दीपक लेकर भी कुएँ में गिरते हैं, उनके लिये शास्त्र रचने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उसी प्रकार जो हिताहित का ज्ञान प्राप्त कर हित के मार्ग पर ही चल रहे हैं; उनको भी शास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं है, उनके लिये भी यह रचने का श्रम नहीं उठाया है; किन्तु जिनको अपना कर्त्तव्य समझने की चाह उत्पन्न हुई है, इतना ही नहीं; परन्तु जो उन्नति के लोक मान्य मार्ग पर चलने के लिये प्रस्तुत हुए हैं; उनके उपदेश के लिये ही कर्त्तव्य मार्ग दर्शाने वाली यह मेरी कृति (ग्रन्थ रचना) है।

विवेचन—कर्त्तव्य विषय के वर्णन का ग्रन्थ सर्वदा है, और छोड़ने योग्य वस्तुओं का; तथा उपादेय अर्थात् करने योग्य वस्तुओं का; या आचरणीय मार्ग का सूचक होता है। इस ग्रन्थ में भी उसी प्रकार दोनों मार्गों का निदर्शन करने में आया है, जिससे हेय और उपादेय का बोध इस ग्रन्थ का विषय हुआ, परन्तु यह बोध किसको देना चाहिये ? इसका निश्चय इस श्लोक में करने में आया है, इस संसार में सब मनुष्य उपदेश ग्रहण करने के पात्र हैं, किन्तु वे सब कहीं उपदेश ग्रहण नहीं करते। महात्मा पुरुषों का यह एक लक्षण है कि जगत के प्राणियों को उपदेश देना और जो मार्ग हितकर हो उसे दिखाना। जन-समाज में इस मार्ग के उपदेश को ग्रहण करने वालों का एक वर्ग है और दूसरा वर्ग उसको ग्रहण नहीं करने

वालों का है। जो स्वतः का हित किसमें है उसे नहीं समझते, ऐसे अधम पुरुष उपदेश भी ग्रहण नहीं करते। कारण कि उनकी प्रकृति अधमता से ही हरी भरी रहती है। इस कारण से ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसे अधम पुरुषों को हितमार्ग का उपदेश करने के लिये यह कर्त्तव्य निर्देशिनी कृति की रचना करने में नहीं आई है। सत्य है कि;—

खलो न साधुतां याति सद्भिः संबोधितोऽपिसन्।
सरित्पूर प्रपूर्णोऽपि क्षारो न मधुरायते ॥

अर्थात्—सत्पुरुष उपदेश दें तो भी दुर्जन मनुष्य साधुता नहीं पा सकता, जिस प्रकार नदियों के पूर से भी भरा हुआ समुद्र कदापि मधुर नहीं हो सकता। उसी प्रकार ऐसे दुर्जनों के लिये यह कृति नहीं; किन्तु सज्जनों के लिये है। फिर सज्जनों में भी दो वर्ग हैं। एक प्रकार के सज्जन ऐसे हैं। कि जो

सन्तो मनसि कृत्वैव प्रवृत्ताः वस्तुनि ॥

अर्थात्—सत्पुरुष अपने दिल में मनन करके ही स्वकर्त्तव्य में प्रवृत्त रहे हैं। दूसरा सज्जन-वर्ग ऐसा है कि जो बुद्धि की अल्पता से जगत में चलते हुए अनेक मार्गों में से कौनसा मार्ग अपना हितकारक है, यह नहीं समझ सकने के हेतु जो कोई दूसरा मार्ग दिखावे तो उसे ग्रहण करने को सर्वदा प्रस्तुत रहता है। इन दोनों सज्जन वर्गों में से पहिला सज्जन वर्ग जो अपने कर्त्तव्य कर्म में स्वतः ही भली भाँति से लीन हो रहा है; उसके लिये इस कर्त्तव्य मार्ग के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। कारण कि जो मनुष्य स्वतः के कर्त्तव्य को समझता है; उसे बार २ वही कर्त्तव्य समझाने से कुछ विशेष लाभ नहीं होता, परन्तु दूसरा सज्जनवर्ग जो अल्प बुद्धि होने से अपने परम हितकारी मार्ग को नहीं ढूंढ सकता

उसे यदि कोई दूसरा वह मार्ग ढूंढ़ दिखावे तो वह उस मार्ग के ग्रहण करने को प्रस्तुत रहता है, उस वर्ग को उसके कर्त्तव्य सम्बन्धी उपदेश देने की आवश्यकता है। ऐसे सज्जन पुरुषों ही के लिये यह ग्रंथ उन्हें हित मार्ग का उपदेश करने के लिये रचा गया है। इसलिये अधिकृत मनुष्यों को हितकारी मार्ग दिखा कर कर्त्तव्य परायण बनाना ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।

प्रथम खण्ड

प्रथम परिच्छेद

कर्त्तव्य का उपोद्घात।

[यहां कर्त्तव्य शब्द में और इसके अर्थ गाम्भीर्य में रहे हुए तत्त्व को समझा देने से ग्रंथ के मुख्य अँग का प्रारम्भ होता है। प्रथम परिच्छेद में इस विषय के उपोद्घातादि कथन का समावेश करने में आया है]

कर्त्तुं यस्य यदा भवेत्समुचितं, यच्च सद्वर्तनम्।
यच्च ह्यात्मिकनैतिकोन्नातिकरं, शुद्धं सतां सम्मतम्॥
यच्चाचरितं विशुद्धमनसा, प्रामाणिकैः सज्जनैः।
कर्त्तव्यं नरजन्मनस्तदुदितं, स्वर्मोक्ष सौख्य प्रदम्॥१॥

कर्त्तव्य का अर्थ क्या है?

भावार्थः—जिस मनुष्य को जिस अवस्था में जिस रीति से जो २ शुद्ध प्रवृत्तियां करनी उचित ज्ञात; हों वे २ प्रवृ-

त्तियां उस मनुष्य की उस अवस्था की कर्त्तव्य रूप समझी जाती हैं। (इस लक्षण में पुरुष का कर्त्तव्य भिन्न २ होता है इस लिये दूसरा लक्षण कहते हैं) जो २ परिवर्त्तन आत्मिक और नैतिक अथवा पारलौकिक और ऐहिक उन्नति करने के लिये सत्पुरुषों की दृष्टि में अङ्कित हो गये हैं वेही शुद्ध परिवर्त्तन गिने जा सकते हैं अथवा प्रामाणिक सज्जन पुरुषों ने अपना तथा दूसरों का कल्याण करने के विशुद्ध आशय से जो २ नैतिक व आत्मिक अनुष्ठान किये हैं; वेही कर्त्तव्य इस भव में सुख शांति देते हैं और परभव में भी स्वर्ग और मोक्ष का सुख देते हैं। ऐसा कथन सत्पुरुष कह गये हैं ॥ २ ॥

विवेचन: 'कृ' अर्थात् 'करना' इस संस्कृत धातु से कर्त्तव्य अथवा 'करने योग्य' इस शब्द की सिद्धि होती है। जिस मनुष्य को जिस २ अवस्था में जो २ शुद्ध प्रवृत्ति करना उचित प्रतीत हो; उस मनुष्य की वही प्रवृत्ति उस अवस्था का कर्त्तव्य कहलाती है। कर्त्तव्य शब्द का यह सामान्य लक्षण है, परन्तु सर्व मनुष्यों के कर्त्तव्य सर्व अवस्था में समान नहीं रहते। उदाहरण—मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तति पर प्रीति रखना; परन्तु संसार का त्याग करके संयम अंगीकार करने वाले पुरुष का कर्त्तव्य 'अपनी सन्तति पर प्रीति रखना' यह नहीं हो सकता; किन्तु उसका तो 'अपनी सन्तति पर से मोह का त्याग करना' यही कर्त्तव्य है। इस तरह प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक अवस्था का कर्त्तव्य भिन्न २ होता है।

अंग्रेज़ लेखक वर्ग कहता है कि "कर्त्तव्य पालन के समय सब प्रयत्नों में कुछ जोखिम तो अवश्य उठानी पड़ती है।" जोखिम उठाये बिना कर्त्तव्य का पालन नहीं हो सकता।

यहां एक उदाहरण दिया जाता है कि अमेरिका के किनारे एक टापू के पास ज्योतिस्तम्भ है, उसमें सन् १८०४ ई० में ऐसी घटना हुई कि इस ज्योतिस्थम्भ का रक्षक अचानक पास के तट पर मरगया। उसकी स्त्री घर पर दीपक तैयार करके उसकी प्रतीक्षा करती थी, दीपक जलाये जाने का समय होजाने पर भी अपने पति को नहीं आया जानकर उसको चिन्ता होने लगी। बाहर जाकर देखती है कि तट पर अपने स्वामी का मृत देह पड़ा हुआ है, वह तुरन्त उसके पास गई फिर उसे विचार हुआ कि, "ज्योतिस्थम्भ में दीपक जलाने का समय होगया है, यदि मैं इस मृतक को गाड़ने या इसकी अन्त्येष्ठी क्रिया करने में फंसूंगी तो समुद्र में किसी जहाज़ को हानि हो जायगी।" जिससे पतिका शव अपने घर में रखकर उसे वहीं छोड़ दीपक सहित स्वयं तत्काल ज्योतिस्थम्भ पर गई। और दीपक जलाया परन्तु कांच फिरते रहने का साँचा किस रीति से चलाना चाहिये यह उसे ज्ञात नहीं था। इसलिये वह अपने हाथ से कांच नहीं घुमासकी उसने रात्रि भर यही करने का निश्चय कर वैसाही किया। इस रीति से आते जाते असंख्य जहाज़ों की भलाई के लिये इस बाई ने अपने मन का आन्तरिक दुःख दबा लिया। कर्त्तव्य-पालन में ऐसी २ आपत्तियां सहन करनी पड़ती हैं परन्तु ऐसे कष्ट सह कर भी कर्त्तव्यपथ पर दृढ़ रहनेवाले सज्जन बिरले ही होते हैं। जो प्रामाणिक सज्जन पुरुष निज शुद्धाचरणों द्वारा उपदेश दे गये हैं और उन्नति का मार्ग दिखा गए हैं; उसी कर्त्तव्य को पालन करने की दिशा कही जाती है। 'कर्त्तव्य' जैसे एक छोटे से शब्द में इतना गम्भीर और विस्तृत अर्थ भरा हुआ है।

[सज्जन-पुरुष मनुष्यत्व के कर्त्तव्य कर्म का बोध वाणी द्वारा इसी

प्रकार अपने आचरण द्वारा भी कर गए हैं इन्हीं कर्मों का यथार्थ पालन करना यह कुछ सहज नहीं है, इसलिये कर्त्तव्य का पालन करने में कौन समर्थ हो सकता है उसका अब ग्रन्थकार निदर्शन करते हैं]

कर्त्तव्यसामान्याधिकारिणः ॥४॥

कर्त्तव्येषु निरन्तरं परबलापेक्षां न कुर्वन्तिये।
धीरास्ते भयशोकदैन्य रहिताः कर्त्तव्य पारंगमाः॥
ये सर्वव्यवहारसाधनविधावन्याश्रयापेक्षिण-
स्ते दीनाः पशुवत्सदा परवशाः कर्तुंक्षमाःस्युः कथम्॥४॥

कर्त्तव्य कौनपालन कर सकता है?

भावार्थः—जो मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार कार्य हाथ में ले, उस कार्य को सिद्ध करने के लिये दूसरे की सहायता की आशा पर निर्भर न रह कर अपने भुजबल पर ही निर्भर रहते हैं, और भय, शोक और दीनता को एक ओर रख कर निडर और साहसी बन स्वाश्रयी बन जाते हैं वेही मनुष्य अधिकतर कर्त्तव्य-पालन करने में समर्थ हो सकते हैं। जो सामान्य या विशेष, अपने तथा दूसरों के, व्यवहारिक या पारमार्थिक, सब कार्य सिद्ध करने में दूसरों के आश्रय ही की आशा रखकर बैठे रहते हैं; वे पशु के समान सदैव परवश होकर अपनी शक्ति को छिपा रखनेवाले दीन मनुष्य कर्त्तव्य-पालन करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकते॥४॥

विवेचनः—कर्त्तव्य शब्द की व्याख्या से समझा जाता है कि 'कर्त्तव्य-पालन एक अति कठिन व्रत है' और उस व्रत का भङ्ग न होने देना अपनी आत्मा के बल बिना नहीं हो सकता। जिस रीति से इन्द्रिय-दमन में स्वात्मबल की आवश्यकता है, उसी प्रकार कर्त्तव्य-पालन में भी स्वात्मबल की आवश्यकता है.

कारण कि इसमें भी इन्द्रिय-दमन अथवा मनोनिग्रह की आवश्यकता होती है। इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि जो अपने ही बल पर निर्भर रहके भय, शोक तथा दीनता को तिलाञ्जली दे स्वाश्रयी बनते हैं—पराश्रय पर आधार नहीं रखते, वेही कर्त्तव्य का पालन कर सकते हैं। भयशोक और दैन्य ऐसे क्रूर राक्षस हैं कि जो मनुष्य के शरीर एवम् आत्मा की सब प्रभा हर लेते हैं। शान्त प्रवृत्ति में इन राक्षसों का पराभव करना यह धीर वीर पुरुषों से ही हो सकता है कि जो हमेशा अपने ही आत्मबल पर आधार रखनेवाले अर्थात् स्वाश्रयी होते हैं। धीरवीर पुरुष जितना आत्मबल रखते हैं उसकी उपमा के लिये सुभाषितकार कहते हैं कि :—

चलन्ति गिरयः कामं युगान्तपवना हताः।
कृच्छ्रेऽपि न चलत्येव धीराणां निश्चलं मनः॥

अर्थात् :—प्रलयकाल के पवन से पर्वत चलायमान हो जाते हैं परन्तु धीर पुरुषों का निश्चल मन कष्ट से भी चलायमान नहीं हो सकता। मन की निश्चलता ही कर्त्तव्य-पालन में सब से बड़ा कार्य है, कारण कि वही उपर्युक्त दुष्ट राक्षसों का पराभव कर सकता है और पराश्रय पर आधार रखने की आवश्यकता नहीं होती। सत्य है कि—

लघु यन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूति मन्यतः।

अर्थात्:—अपने तेज से संसार को हलका करनेवाले मनुष्य, महापुरुष-धीर-वीर-दूसरों के आधार से अपनी उन्नति हो ऐसा कदापि नहीं चाहते. एक अङ्गरेज़ ग्रन्थकार कहते हैं कि, 'स्वाश्रय पर आधार रखनेवाला शरीर से निर्बल पुरुष जितना पराक्रम कर सकता है उतना पराक्रम पराश्रय पर आधार रखनेवाला शरीर से प्रबल पुरुष नहीं कर सकता', इसलिये कर्त्तव्य-पालन में तत्पर पुरुष को आत्मबल पर ही

आधार रखना चाहिये और जिस रीति से सिंह 'एकोहं असहायोहं' ऐसा कदापि मन में नहीं लाता, उसी तरह मुझसे यह दुर्घट अच्छा कार्य किस रीति से हो सकेगा ? ऐसी दीनता को आन्तरिक हृदय में स्थान दिये विना निश्चल मन के 'धीरवीर' बनना चाहिये; पशु के जैसी परवशता के सम्बन्ध में कवि शामल भट्ट कहते हैं—

न आवे पराक्रम परवशे। न आवे लाभ लालच थकी॥

ऐसी परवशता को त्याग करनेवाले धीर पुरुष कर्त्तव्य-पालन में तत्पर हो जायँ तभी वे मनुष्य-जन्म को सफल कर सकते हैं।

—:o:—

द्वितीय परिच्छेद।

कर्त्तव्य के भेद और अधिकारीगण।

[अब कर्त्तव्य के भेद और भिन्न २ भेदों के भिन्न २ लक्षण का विस्तार समझाने को ग्रन्थकार उद्यत हैं]

कर्त्तव्यभेदाः

शिक्षानीतिपरार्थशान्तिफलिका, नृणांचतस्रोदशा।
स्तद्भेदेन तथाविधा भिधमिदं, कृत्यं चतुर्धामतम्॥
प्राधान्यं व्यपदेशकारणमिति, प्राहुस्ततः पण्डिताः।
एकत्रापरसम्भवो यदि भवे, त्तर्हि क्षतिः कापिनो॥५॥

कर्त्तव्य के भेद।

मनुष्य मात्र के जीवन काल के चारभाग और उनकी चार

पृथक २ अवस्थाएं हैं; उन अवस्थाओं में क्रम से (१) शिक्षा (२) नीति (३) परार्थ और (४) त्याग, ये चार फल प्राप्त करने पड़ते हैं। इन फलों के भेदानुसार कर्त्तव्य के भी चार विभाग हैं। उनमें भी उपदेश का कारण मुख्य और अधिक है, जिससे किसी को बाल्यावस्था में ही निवृत्ति मार्ग रुचे और फिर उसी कर्त्तव्य में दूसरे भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक कर्त्तव्य प्राप्त हो जायँ; तो भी इस तरह की एकत्रता से अवस्था का अनुसरण करते हुये कर्त्तव्य की गणना में किसी भी प्रकार की क्षति नहीं आ सकती।

विवेचन—मनुष्य की सौ वर्ष की आयुष्य मानकर विद्वानों ने इस आयुष्य के चार सम भाग किये हैं—(१) बाल्यावस्था (२) तरुणावस्था (३) मध्यावस्था (४) वृद्धावस्था अब इन चार अवस्थाओं के भेद के प्रमाण से इन चारों अवस्थाओं में क्या प्राप्त करना चाहिये उसका भी विद्वान पुरुषों ने निर्णय कर दिखाया है। प्रथम अवस्था २५ वर्ष तक की है और इसे सामान्यत: ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं। इस अवस्था में अखंड ब्रह्मचर्य का पालन कर शिक्षा प्राप्त करना बतलाया है, सब प्रकार का विद्याभ्यास इस अवस्था में कर लेना और इसके पश्चात् की अवस्था में उसका उपयोग करना; यही उचित है। दूसरी यौवनावस्था के लिये नीति से धन प्राप्त करना ऐसा विद्वानों ने बताया है। इस अवस्था को गृहस्थाश्रम कहते हैं। अपने से कम अवस्था, योग्य और सानुकूल स्त्री के साथ विवाह करना और गृहस्थ धर्म अङ्गीकार करना यह इस अवस्था में ही होता है। वृद्धावस्था के लिये धन संचय कर रखने के लिये भी यही अवस्था योग्य और उचित है। सामान्य रीति से चार अवस्थाओं में से तीन के तीन प्राप्तव्य नीचे के श्लोक में बतलाये हैं।

प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितो धर्मः चतुर्थे किं करिष्यति॥

अर्थात्—जिसने प्रथमावस्था में विद्या उपार्जन नहीं की; द्वितीयावस्था में धन प्राप्त नहीं किया और तृतीय अवस्था में धर्म नहीं किया; वह चौथी अर्थात् चरम अवस्था में क्या कर सकता है? इस श्लोक में द्वितीयावस्था का प्राप्तव्य 'धन' कहा है; परन्तु ग्रन्थकार इस अवस्था में प्राप्तव्य 'नीति' बतलाते हैं। गृहस्थाश्रम में 'धनोपार्जन' करना इस सामान्य शिक्षा में धनोपार्जन येन केन प्रकारेण (by means fair or foul) करना ऐसा अभितार्थ ज्ञात होता है। इस पर से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि गृहस्थाश्रम में धनोपार्जन को प्राधान्य दिया है तो फिर नीति अनीति को तो किसी भी गणना में ली ही नहीं? धन प्राप्त करने के लिये लोग असत्यवाद, ठगाई अप्रमाणिकता आदि अनेक दोषों में फँसे रहते हैं, जिससे किसी न किसी प्रकार से धनोपार्जन करने के लिये उपदेश करने की अपेक्षा इस अवस्था में प्राप्तव्य रूप 'नीति' का उल्लेख विशेष उचित है। यौवनावस्था में अनेक प्रकार के लोभ और लालच में 'नीति' को भूल कर जो एक गृहस्थ 'धनोपार्जन' ही अपना मुद्रालेख गिन कर संसार में विचरता है तो उसका परिणाम उसकी जीवनचर्या पर बहुत ही बुरा पड़ेगा; जिससे 'नीति पुरः सर उद्योग प्रवृत्ति' यही इस अवस्था का प्राप्तव्य फल गिनना चाहिये।

७५ वर्ष तक की तीसरी मध्यावस्था में 'परार्थ' अर्थात् परोपकार करने का आदेश है। दूसरे इसको 'वान प्रस्थाश्रम' कहते हैं, आजकल ५० वर्ष की उम्र में वृद्ध गिने जानेवाले, और ७५ वर्ष तक तो भाग्य से ही जीते रहने वाले, लोग ५० से ७५ वर्ष तक की अवस्था की मध्यावस्था में गणना कर कदाचित

संदिग्ध होंगे। परन्तु २५ वर्ष तक अखंड ब्रह्मचर्य पालन करने और ५० वर्ष तक नीति से गृहस्थ धर्म में रहने वाले पुरुष ७५ वर्षकी उम्र तक मध्यावस्थामें गिनने योग्यशरीर; सम्पतिवाले ही होते हैं। परोपकार और देश सेवा के लिये यही अवस्था योग्य है; चतुर्थावस्था; कि जिसका धर्म त्याग है; उस अवस्था का प्राप्तव्य 'योग' है। अन्यजन इसे सन्यस्थाश्रम कहते हैं इस प्रकार चार भिन्न २ अवस्थाओं को लक्ष में रखना चार पृथक २ कर्त्तव्य दिखाने में आये हैं।

शङ्काः—वाल्यावस्था-प्रथमावस्था में विचरते, हुये ऐसे कई मनुष्य देखने में आये हैं कि जो दृढ़ वैराग्य से लिप्त हैं और निवृत्ति धर्म अथवा त्याग धर्म को अंगीकृत कर लेते हैं।

समाधानः-बाल्यावस्था में वैराग्योत्पत्ति बहुधा समय; मनुष्य के पूर्व संस्कार के योग से होती है। ऐसे पूर्व संस्कार वाले मनुष्य स्थूल देहधारी तो प्रथमावस्था में दिखाई देते हैं, परन्तु उनका अन्तरात्मा चतुर्थावस्था को ही अनुभव करता रहता है।

शङ्काः—प्रथमावस्था का कार्य विद्योपार्जन करना कहा है। परन्तु कितने ही गृहस्थ धर्म्म में और उसके पश्चात् की अवस्था में भी विद्या प्राप्त करते रहते हैं, कितने ही तृतीय अवस्था में भी धन प्राप्ति करते रहते हैं, अथवा दूसरी अवस्था में परार्थ साधना करते हैं तो ग्रन्थकार के दिखाये हुए क्रम की घटनाओं में भी वाधा आती है उसका क्या कारण?

समाधानः-यहाँ कर्त्तव्य विषय के नाम और भेद प्राधान्य को अनुसरण कर के कह गए हैं अर्थात् जिस अवस्था में जिस धर्म या कर्त्तव्य की मुख्यता और बाहुल्यता बतलाई है; उनके अनुसार ही ये नाम और भेद हैं, इससे किसी व्यक्ति को एक अवस्था में दूसरी अवस्था के धर्म प्राप्त हो जायँ तो भी कर्त्तव्य को क्रमघटना इस प्रकार करने से कुछ भी वाधा नहींआ सकती।

[अब नीचे के तीन श्लोक में कर्त्तव्य को इन चारों ही अवस्थाओं के लक्षणों का कथन करते हैं]

कर्त्तव्यविशेषलक्षणानि ६। ७। ८॥

योग्यायोग्यधिया निवेदयति यत् कार्यं समस्तं पुनः।
प्रज्ञासंस्कृतिकार्यकारणतया लोके तदाद्यं मतम्॥
उत्कर्षं विदधद्गृहव्यवहृतेरुद्योगनीतेश्चय-
च्चारित्रे किल पर्यवस्यति शुभे कृत्यं द्वितीयं च तत्॥६॥
वृत्तिर्यत्र विलीयतेऽधमतरा स्वार्थं प्रपञ्चात्मिका।
जागर्ति स्वपरैकधर्मसुखदा वृत्तिः परार्था तथा॥
शान्तौ धर्मसमाजसेवनविधौ चान्तर्भवत्येव य।
त्त्यागाभिमुखं प्रकृष्टचरितं कृत्यं तृतीयं मतम्॥७॥
यस्मात्पूर्णमहोदयोऽमलचिदानंदस्वरूपस्थितिः।
कृत्यानां परिपूर्णता च कलुषच्छेदः समूलं भवेत्।
कर्त्तव्यं तु चतुर्थमेतदुदितं सर्वोत्तमं पण्डितैः।
स्तत्सिद्धिस्तु कदाचिदेव समये कस्यापि भद्रात्मनः॥ ८

कर्त्तव्य के भिन्न २ भाँति के लक्षण।

भावार्थः—जो काम जीवन के उत्तम संस्कारों पर छाप लगाने के पश्चात् योग्य और अयोग्य सब कार्यों का दिग्दर्शन करा, अयोग्य व्यवहार, अनियमता, दुष्कृत्य और अनीति को त्याज्य रूप बतला, योग्य व्यवहार, नीतिधर्म, सत्कार्य और परमार्थ को ग्राह्यरूप बतलावे, उसेही शिक्षारूप प्रथम कर्त्तव्य

समझो। जो प्रवर्तन गृहव्यवहार और उद्योग में नीति का उत्कृष्ट साधते शुभ चारित्र को धारण करे, यही दूसरा कर्त्तव्य है।

जिस प्रवृत्ति में स्वार्थ को फैलानेवाली, और कपटजाल बिछानेवाली, वंचक वृत्ति बिलकुल लीन हो गई हो, स्वपर के अभेदभाव वाली पदार्थ वृत्ति जागृत हो गई हो, जन सेवा, समाजसेवा, और धर्म सेवा का अहर्निश रटन हो रहा हो, जो प्रवृत्ति त्याग के अभिमुख रह, शांति और समाधि में निष्ठापक प्रकृष्ठ चारित्र रूप परिणत हो, वही तीसरा पदार्थ-परोपकार रूप कर्त्तव्य है। जिस कर्त्तव्य के आचरणसे निर्मल चिदानन्दमय निज स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो-पूर्ण अभ्युदय हो; जिसके पश्चात् किसी भी प्रकार का कर्त्तव्य करना शेष न रहे अर्थात् कुल कार्य पूर्ण हो जायँ, ज्ञानावरणादि कर्मरज समूल नष्ट हो जायँ अर्थात् जिससे जीवन मुक्ति या पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो जाय, यही चौथा त्यागरूप कर्त्तव्य है; जिसे कि महर्षियों ने सर्वोत्तम मोक्ष साधन माना है, इसकी सिद्धि तो कोई समर्थ विरले महर्षि को ही प्राप्त होती है।

विवेचनः—प्रथमावस्था का मुख्य कर्त्तव्य शिक्षा अर्थात् शिक्षण है। अन्य विद्वान् इस अवस्था का मुख्य कर्त्तव्य 'विद्योपार्जन' बतलाते हैं। स्थूल दृष्टि से देखते शिक्षा और विद्योपार्जन का एक ही अर्थ ज्ञात होता है, किन्तु उभय शब्दों में अर्थ गाम्भीर्य में गहनता से पैठने पर प्रतीत होता है, कि विद्योपार्जन की अपेक्षा शिक्षा शब्द में विशेष उदार अर्थ का समावेश हुआ है। शिक्षा का अर्थ-सदसद् विवेक बुद्धि पूर्वक सीखना ऐसा होता है, और विद् अर्थात् जानना इस धातु से बने हुए विद्या शब्द की अपेक्षा श्रेष्ठ अर्थ को प्रदर्शित

करता है। "हर्बर्ट स्पेन्सर" के मतानुसार शिक्षण शब्द में मानसिक, नैतिक और शारीरिक विषय, इन तीनों शिक्षाओं का समावेश होता है। विद्या शब्द में इतना गूढ़ अर्थ समाया हुआ नहीं है। "मान्तेन" नामक एक फ्रैंच लेखक अपना ऐसा मत प्रकट करता है, कि विद्याभ्यास करने से होसके उससे भी विशेष सद्गुणी और चतुर होना चाहिये। विद्याभ्यास में शिक्षा के समान विस्तृत अर्थ का समावेश करें, तभी अपने उपरोक्त वाक्य को स्वीकार रख सकेंगे, नहीं तो पृथक् २ विद्याओं के सीखने से मन का योग सद्गुणों के साथ हो जाता है, यह सिद्ध नहीं हो सकता। बालक के मस्तक में उच्च संस्कारों का बीज बोया गया हो, और मानसिक तथा नीति की शिक्षा से उसका सिंचन किया गया हो, तभी मनके साथ सद्गुणों का योग होना सम्भवित है। विद्याभ्यास से चतुर तो होते ही हैं बल्के उससे सद्गुणी भी होते हैं। यह मानस विद्या के अनुसरण से कम शक्य प्रतीत होता है। इस कारण से इस श्लोक में प्रथमावस्था के कर्त्तव्य रूप शिक्षा को स्थापित किया है। बालक जहाँ तक कोई शब्द, वचन अथवा उपदेश को ग्रहण कर तदनुसार वर्त्ताव करने की समझ शक्ति नहीं रखता है, वहां तक उसे शिक्षा नहीं दी जाती। तो भी उसकी जिह्वा इन्द्री के सिवाय अन्य इन्द्रियों का आन्तरिक विकास होने से उन इन्द्रियों के वह उत्तम संस्कार को ग्रहण कर सकता है। ये संस्कार बालक के मन पर अदृश्य रूप-सूक्ष्म रूप से पड़ते हैं। अपनी आँखों से वह अच्छी या बुरी प्रवृत्ति पिता या माता के हाथ से होती हुई देखता है, उस प्रवृत्ति के अच्छे या बुरे संस्कार उसके मस्तिष्क में जम जाते हैं, ये ही टेवें संस्कार करने में साधनभूत हो जाती हैं। इन संस्कार बीज का आरोपण भी एक प्रकार की शिक्षा है। इस

अवस्था को उलङ्घन करने के पश्चात् बालक समझ शक्तिवाला होता है, तब उसे शिक्षा देने का बाह्य क्रम आरम्भ होता है। यह शिक्षा बालकों को केवल पुस्तकों में दी हुई विद्या का अभ्यास कराने जितनी ही नहीं होनी चाहिये। उनका अभ्यास करने से तो विद्यार्थी उन विषयों का ज्ञान ही रखता है; 'झूंठ बोलना पाप है' ऐसी बोली बोलते भी कदाचित् सीखे और विशेषता में इन विद्याओं के पाठ मुँह से बोलजाँय और परीक्षा में उत्तीर्ण भी होजाँय, परन्तु इससे उनका मन शुभ संस्कारवाला नहीं हो सकता इसीलिये विद्याभ्यास के उपरान्त ऐसी शिक्षा देना चाहिये कि जिस शिक्षा से योग्य कार्य क्या? और अयोग्य कार्य क्या? योग्य व्यवहार कौनसा? और अयोग्य व्यवहार कौनसा? नीति का अर्थ क्या? और अनीति का अर्थ क्या? सत्कृत्य क्या? और दुष्कृत्य क्या। इत्यादि पूर्णता से समझ लें, और उसमें से ग्राह्य वस्तु को ग्रहण कर, हेय वस्तु को स्वतः ही छोड़ दें। इस प्रकार की शिक्षा पुस्तकों के अभ्यास से प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु प्रति समय माता पिता और गुरु के प्रत्येक कार्य करते-समय के उपदेश ही से होती है। इस प्रकार का उत्तम शिक्षण प्राप्त करना यही प्रथमावस्था का मुख्य कर्त्तव्य है।

द्वितीय तरुणावस्था का कर्त्तव्य जो नीति रूप बतलाया है उसका व्यापक संकेत यहाँ पर देने में आया है। सदुद्योग और नीति का उत्कर्ष कि जिससे गृहस्थ का चारित्र शोभायमान् बनता है। इस प्रकार का उत्कर्षसाधक प्रवर्त्तन इस अवस्था का मुख्य लक्षण है। उदात्त विचार के ग्रंथकार गृहस्थाश्रम धनोपार्जन के लिये है ऐसा नहीं कहते, धनोपार्जन इस अवस्था का गौणकर्त्तव्य है और प्रधान कर्त्तव्य तो शुभ चारित्र ही है। जवानी दीवानी है, इस अवस्था के दिवानी

पने में अशुभ चारित्र में प्रवेश होने का जितना भय सम्भवित होता है; उतना भय अन्य अवस्थाओं में नहीं रहता। इस अवस्था का प्रमुख कर्त्तव्य धनोपार्जन गिनाजावे, तो उससे जन समाज विशेष अनीति में फँसेगी, और इस प्रकार उनका अहित भी होगा। धर्म विन्दुकार कहते हैं कि 'तत्र सामान्यतो गृहस्थ धर्मः कुल क्रमागत मनिन्द्यं पेक्षया न्यायतोऽनुष्ठान मिति अर्थात्-कुल परम्परा से चला आया 'अनिन्द्य' और स्वतः के वैभव की अपेक्षा से 'न्याययुक्त' जो अनुष्ठान वही सामान्यतः गृहस्थ धर्म कहलाता है। इसमें भी न्याययुक्त और अनिन्द्य उद्योग को अर्थात् नीति-पूर्वक सदुद्योग को गृहस्थाश्रम का कर्त्तव्य गिना है। सदुद्योग के फलसे न्यायोपार्जित धन की प्राप्ति तो अवश्य होती है परंतु इस प्रकार की धन प्राप्ति से ही गृहस्थ धर्म के सब कर्त्तव्य परि-समाप्त नहीं होजाते। इस अवस्था में मन और शरीर की चञ्चलता तथा इन्द्रियों की असंयमता स्वाभाविक शक्य होने से 'न्यायोपार्जित द्रव्य' में गृहस्थ धर्म का सम्बन्ध नहीं रखते। "नीति" जैसे व्यापक अर्थवाले शब्द में गृहस्थधर्म का उपदेश देना विशेष उचित है। जिस तरह से बाल्यावस्था के संस्कार और शिक्षा यौवनावस्था में शुभ चारित्र पालने में सहायभूत होती है, उसी तरह तरुणावस्था का शुभ चारित्र उसके पश्चात् की दोनों उत्तर अवस्थाओं में 'परार्थ साधन' और "परमार्थ साधन" में सहायता देता है। शुभ संस्कार और शुभ शिक्षा पाये हुए दुश्चरित्र में प्रवेश करनेवालों से उत्तर अवस्था के कर्त्तव्य का पालन नहीं होसकता और वे मृत्यु तक दुश्चरित्र में ही दिन निकालते हैं। इस कारण से सदुद्योग और नीति पूर्वक शुभ चारित्र का बिताना इस लोक और परलोक में श्रेय सिद्ध करने के समान है। और यही द्वितीयावस्था का प्रमुख कर्त्तव्य है।

"परोपकारः कर्त्तव्यः प्राणैरपि धनैरपि" इस मुख्य कर्त्तव्य के लिये शास्त्रकार ने तीसरी मध्यावस्था नियत की है। 'परार्थ साधन' अर्थात् दूसरों का हित करना, इस मुख्य कर्त्तव्य के लिये यह अवस्था सब तरह से अनुकूल है। बाल्यावस्था में प्राप्त की हुई शिक्षा का तरुणावस्था में स्वानुभव मिलने से विचार परिपक्व और दृढ़ बन गये हैं, अनुभव से सदासद्विवेक बुद्धि का भी अच्छी प्रकार विकास हो गया है, न्याय पूर्वक धन प्राप्ति भी करली गई है और भिन्न २ प्रकार के व्यापारिकोद्योग का भी अनुभव मिल गया है, आजीविका के लिये पुत्र गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर धनोपार्जन करने लग गए हैं, इस प्रकार गृह व्यवहार की कैसी भी चिन्ता इस अवस्था में शेष नहीं रहती, इस कारण से अपने धन, अनुभव, ज्ञान तथा चातुर्यता का लाभ जाति भाइयों को, धर्म बन्धुओं को और देश बन्धुओं को देना, यह स्वाभाविक रीति से ही इस अवस्था का प्रमुख कर्त्तव्य गिना जाता है। धन प्राप्ति जिस अवस्था में करना चाहिये वह अवस्था बहुधा 'स्वार्थ प्रपञ्चात्मिका' होती है परन्तु उस अवस्था के पूर्ण होने पर स्वार्थ वृत्ति बहुत समय तक हृदय में नहीं टिकती। "मैंने अपना अर्थ साधा; परन्तु अब मैं अपने देश, धर्म और समाज का कुछ भी हित करूं ऐसी परार्थ वृत्ति" स्वाभाविक रीति से ही 'स्वार्थ प्रपञ्चात्मिक वृत्ति' का स्थान कर लेती है ऐसा उत्तम प्रकार का प्रकृष्ट चरित्र इस अवस्था में ही आदरने योग्य है।

शङ्का—मनुष्य, अपना आयुष्य कबतक टिकेगा; ऐसा नहीं जानता। इस तीसरी अवस्था को, जो स्वाभाविक रीति से ५० से ७५ वर्ष तक की बतलाई है, वह अवस्था आने तक देह टिकेगी या नहीं; बहुत से मनुष्यों को ऐसा विश्वास नहीं

होता। जो मनुष्य ५० वर्ष तक गृहस्थाश्रम में तत्पर रहे; और इस अवस्था के पूर्ण होते ही उसके शरीर का भी नाश हो जाय, फिर 'परार्थ साधन' 'परमार्थ साधन त्याग' जैसे आत्म हितकारक कार्य तो बिलकुल ही रह जायँ, और अगर ऐसा हो जाय; तो आत्मोन्नति करने को मिले हुए मनुष्यभवका प्रमुख हेतु निष्फल गया ही गिना जाय।

समाधानः—शास्त्र कार तो-परार्थ साधन और परमार्थ साधन करने में एक क्षण मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये—ऐसा कथन करगए हैं। श्रीमहावीर भगवान ने गौतम स्वामी से कहा है कि :—

> अरइ गंडं विसूइया आयंका विविहाफुसंतिते।
> विवडइविद्धंसइ ते सरी रयं समयं गोयम मा पमायए॥
>
> उ० सू० अ १० गाथा २७

अर्थात् अरति, गंड विषूचिका तथा नाना प्रकार के प्राण घातक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, और शरीर को बलहीन करके उसका नाश कर डालते हैं, इस लिये हे गौतम! एक क्षण मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।

द्वितीयावस्थामें तृतीय तथा चतुर्थावस्था का कार्य नहीं करना चाहिए, ऐसी मनाई नहीं कीगई है। शुभ कार्य में प्रमाद कदापि नहीं करना चाहिये, और सबों को 'परोपकारार्थ-मिदं शरीरम्' इस भावनानुसार जीवन चलाना चाहिये, इसी लिये ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के पाँचवें श्लोकमें "एकत्रा पर सम्भवो यदि भवेत्" ऐसे शब्दों का वर्णन किया है। शक्कर यदि अंधकार में भी खाई जाय, तो भी मीठी ही लगती है। इसी प्रकार 'परार्थ साधन और परमार्थ साधन' यदि प्रथम तथा द्वितीय अवस्था में भी किये जायँ, तो भी अमृत तुल्य ही

मधुर लगते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये। तृतीयावस्था के पालने वाले मनुष्यों का यह प्रमुख कर्त्तव्य है, और उसका उन्हें पालन करना ही चाहिये। परन्तु द्वितीयावस्था के कर्त्तव्य को तृतीयावस्था के अन्त तक ले जाकर स्वार्थ प्रपञ्च, विषय पिपासादि में मग्न नहीं रहना चाहिये। इसी अर्थ से यह कथन किया है। जो मृत्यु के भय से आगे के लिये चेतकर प्रमाद नहीं करते, मनुष्यत्व को सफल करने वाले सत्कृत्य करने में तल्लीन हो जाते हैं वेही सचमुच चतुर मनुष्यों में गिने जाने योग्य हैं।

कर्मानुसार मनुष्यात्मा उच्च गति को प्राप्त होती है। वाह्यतः परार्थ साधन करना यह पुण्य रूप काम करने वाले जिस प्रकार पर हित करते हैं उसी भाँति आत्मा के हितार्थ सचमुच में परलोक का साधन भी करते हैं। तो भी त्यागरूप चतुर्थावस्था का "कर्त्तव्य" कि जो मात्र आत्म हित साधन के लिये ही है, वह तो अत्यन्त ही कठिन है। तरुणावस्था से आत्मा क्रमशः त्याग वृति का विकास करता आता है। लोभ लालच और इन्द्रियों के दुष्ट विकार जीतना, उनका त्याग करना, और नीति मार्ग से सदुद्योग पर चलाना यहीं से मनुष्य परमार्थिक 'त्याग' सीखने लगता है।

इस अवस्थामें आगे पदार्पण करने पर; मनुष्य को प्राण और धन से मोह छोड़ने का अमूल्य पाठ पढ़ना प्राप्त होता है। अन्तिम चतुर्थावस्था में जगत की सब वस्तुओं से ममता छोड़; अकिञ्चन बने रहने का पाठ सीखना पड़ता है। परार्थ साधन में तो किञ्चित् ममता भी रह जाता है। यह मेरा देश है, ये मेरे देश बन्धु हैं, ये मेरे धर्म बन्धु हैं, आदि ऐसी भावनाएं जोकि निःसंशय प्रशस्त भावनाएं है, सुसेव्य हैं, हृदय में व्याप रही हैं, परन्तु इस अन्तिमावस्था में तो इन भावनाओं

का भी त्याग—सर्वथा त्याग करने की सूचना देने में आई है। केवल निरीह भाव से आत्म स्वरूप में लीन रहना, सब वृत्तियोंको अरिहन्त भगवान में लीन करना, यही 'त्याग' शब्द को सार्थक करनेवाला कर्त्तव्य है। स्थूल वस्तुओं का बाह्यतः त्याग करना, इतनाही नहीं, किन्तु आन्तरिकता से भी त्याग करना और चिदानन्द स्वरूपमें आत्मा को स्थित करना, यही वास्तविक त्याग है, और "कलुषच्छेदः समूलं" है। जबतक त्याग अवस्थामें आत्मा को जीवन मुक्ति का भास न हो जाय, तब तक वह त्याग सच्चा 'त्याग' नहीं है। आत्माको मोक्ष दिलानेवाली यही अन्तिम त्याग की अवस्था है, और मनुष्यता की सफलता का परिणाम बहुत करके त्यागाश्रम की सफलता पर ही निर्भर है। शुभ शिक्षा प्राप्त करना, सफलता पूर्वक संसार चलाना, और अच्छी प्रकार परार्थ साधन करना, ये तीनोंही मनुष्यत्व की सफलता में जितने अंश से साधन भूत हैं, उससे भी अत्यन्त अधिक अंशों में त्यागाश्रम की सफलता मनुष्यत्व की सफलतामें साधन भूत है।

शङ्काः—त्यागाश्रम की सफलतामें ही मनुष्यता की सफलता के बहुत अंश हैं, और शेष तीन अवस्थाओं में मनुष्य की सफलता के अतिन्यून अंश हैं, तो फिर प्रथम की तीन अवस्थाएं चाहे जिस प्रकार व्यतीत की जायँ, उनके लिये चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? मात्र एक अन्तिम त्यागावस्थाही सम्पूर्ण शुद्धरूप से बितावे, तो क्या मनुष्यत्व सफल नहीं होता? और क्या मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकेंगे?

समाधानः—आत्मा और उसके संयोग में रही हुई वृत्तियां शनैः २ उन्नति होती रहती हैं। जो आत्मा और वृत्ति तीनों अवस्थाओं में दुराचार और कुविचार में मग्न रहती है, वह एकाएक चतुर्थावस्था में अति क्लिष्ट त्याग का पालन करे, यह

कदापि शक्य नहीं। उसी प्रकार सम्भवित भी नहीं। प्रत्येक अवस्थाके उचित धर्मों के कर्त्तव्यों को पालने में जिस मनुष्य की वृत्तियां निर्बल हुई हों, वह मनुष्य चतुर्थावस्था में एकाएक प्रबल हो जायँ, यह आकाश कुसुमवत् मिथ्या है। और इसी लिये पूर्वाश्रमों के कर्त्तव्यों के प्रति अवहेलना करने वाला मनुष्य चतुर्थावस्था में सफलता नहीं पा सकता, परन्तु हां, कोई पूर्व संस्कार वाला उच्चात्मा प्रथम द्वितीय या तृतीयावस्था में त्यागी हो जाय, तो यह अशक्य नहीं, उसी प्रकार उसको चतुर्थावस्था की सफलता प्राप्त होना भी अशक्य नहीं है। परन्तु चतुर्थावस्था के धर्म अङ्गीकृत करने के पूर्व जिसने जो २ अवस्थाएं व्यतीत की हैं; वे अवस्थाएं उच्च प्रकार के कर्त्तव्य करके बिताई होंगी; तभी उसकी चतुर्थावस्था सफल हो सकेगी, उसके विना नहीं हो सकती। मात्र त्यागाश्रम से सफलता प्राप्त कर लेने का व्यर्थ अभिमान रख कर पूर्व की अवस्थाओं में दुर्व्यवहार करे, अथवा निश्चिन्त रहे, तो वैसी सफलता प्राप्त होना असम्भव ही है। इसी कारण से 'पूर्ण महोदय' और 'कृत्यानां परिपूर्णता, इन पदों का उच्चार किया है। 'आत्मा का सम्पूर्ण अभ्युदय' इस शब्द में रहा हुआ रहस्य ऐसी सूचना करता है कि 'पूर्व कृत्यानां परिपूर्णता' होने पर ही (शैन. २ उन्नति कारक स्वभाव वाले आत्मा और वृत्तिका) अभ्युदय होता है। इसलिये पूर्वावस्था को चाहे जिस बुरी भाँति बिताकर; फिर एकाएक त्यागाश्रम के सफलता की आशा रखना, यह प्रायः मिथ्या है; पूर्वभव के किसी उच्च संस्कार के विना तो त्यागाश्रम की सफलता; उसकी पूर्व की तीनों अवस्थाओं की सफलता के ऊपर ही निर्भर है, और उससे स्वल्प परन्तु पतित हुए जीव, त्यागियों के समान शास्त्रोक्त रीति से जीवन नहीं बितासकते। इस कारण से ग्रन्थकार ने कहा है कि इस अवस्था के जिन कर्त्तव्योंको महर्षियों ने सर्वोत्तम मोक्ष

साधन माना है, उसकी सिद्धि तो किसी विरले ही महात्मा पुरुष को होती है' जगत में नाना प्रकार के विचित्र वस्त्र पहन कर 'भिक्षान्देहि' उच्चारण कर विचरते हुए अनेक त्यागियों को हम देखते हैं, परन्तु वे सभी 'त्याग' के वास्तविक धर्मों को पालने वाले नहीं होते। शास्त्रकार कहते हैं कि:—

चीराजिणं नगिणिणं जडी संघाडी मुन्डियं।
एयाणि वि न तायंति दुस्सीलं परियागयं॥
पिंडोल एवं दुस्सीले नर गाओ न मुच्चइ।
भिक्खा एवा गिहत्थेवा सुव्वए कम्मई दिव्वं।

उ० सू० अ० ५ गा० २१,२२

अर्थात्:—चीर, वल्कल या अजाचर्म धारण कर लेने से, सिर मुंडाने से, तथा ऐसे २ बाह्याडम्बर ग्रहण कर लेने से, कुछ दुराचारी, कुमार्गी साधु अपने को दुर्गति से नहीं बचा सकता। दुःशील भिक्षा माँगकर अपना उदर निर्वाह करता है, परन्तु अनाचार सेवता है, और पाप कर्म को नहीं त्यागता है, तो वह नरक से नहीं छूट सकता। परन्तु पवित्र व्यवहार रखनेवाला साधु हो, चाहे संसारी हो, तो भी वह स्वर्ग को जाता है। इस तरह त्याग धर्म की सफलता करने वाले विरले ही होते हैं। और बाह्यतः त्यागी दिखने वालों की अपेक्षा तो आन्तरिक निर्मल और प्रामाणिक संसारी ही श्रेष्ठ कहलाते हैं। सचमुच इस प्रकार का त्याग धर्म कष्ट साध्य है, परन्तु वह असाध्य तो है ही नहीं। सुसाध्य त्याग कबीर के शब्दों में इस प्रकार है:—

"जोगी हो के जटा बढ़ावे,
हाल मस्त में रहता है!"

परन्तु इस आत्म वञ्चक त्याग के लिये फिर यही महात्मा कहते हैं कि:—

" ऐसों क्या साहब मिलता है ?"

इस तरह चार प्रकार की अवस्थाओं के पृथक् २ कर्त्तव्यों का कथन किया । इन कर्त्तव्यों का पालन करना यह प्रत्येक मनुष्य का धर्म है । परन्तु इस कर्त्तव्य का पालन करने वालों में चोक्कशुद्ध प्रकार के आन्तरिक गुणों का निवास होना चाहिये ।

[एक अधिकारी मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन जितने अंश से कर सकता है, उतने अंशों से अनधिकारी मनुष्य नहीं कर सकता, इसलिये प्रत्येक अवस्था के कर्तव्यों का पालन करने के लिये अधिकारी का पद पाने के निमित्त मनुष्य में किन २ गुणों की आवश्यकता है इसका अनुक्रम से वर्णन करने में आता है] .

प्रथम कर्तव्याधिकारिणः ॥६॥

येषां मानसमुत्तमं च सरलं, शुद्धं प्रसन्नं पुन ।
श्चिन्तोपाधिविषादशोक रहिता,बुद्धि र्विशुद्धातरा ॥
आलस्येन विवर्जिता विनयिनो, ये ब्रह्मचर्ये रताः ।
कर्त्तव्ये प्रथमेधिऽकारिण इमे, ते बाल विद्यार्थिनः ॥

प्रथम कर्त्तव्य के अधिकारी कौन और कैसे होना चाहिये ।

भावार्थ :—मन में प्रापञ्चिक हवा का प्रवेश न होने से जिनका मानस-क्षेत्र शुद्ध, सरल, और पवित्र होने के उपरान्त परम प्रसन्न होता है, जिनकी बुद्धि चिन्ता, उपाधि, खेद और रंज से रहित परम विशुद्ध होती है, जो विना आलस्य के उद्योगी और विनीत होते हैं, जिनका ब्रह्मचर्य सुरक्षित होता है, वे बाल विद्यार्थी प्रथम कर्त्तव्य के अधिकारी गिने जाते हैं ।

विवेचनः—'शिक्षा' अर्थात् 'केलवणी' प्राप्त करने के पात्र-अधिकारी कौन और कैसे होने चाहिये, इसका विस्तृत वर्णन

इस श्लोक में करने में आया है। यह तो स्पष्ट ही है कि शिक्षा प्राप्ति के लिये प्रथमावस्था ही सर्वथा अनुकूल है। दूसरी अवस्थाएं उसके लिये प्रथम अवस्था के समान अनुकूल क्यों नहीं गिनी गई उसका कारण इस श्लोक को पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है। एक विद्यार्थी में जो २ गुण होने चाहिये, उन गुणों का निदर्शन करते ग्रन्थकार कहता है कि जिनका मानस क्षेत्र निष्प्रपञ्च, शुद्ध, सरल, पवित्र और परम प्रसन्न होता है, जिनकी बुद्धि-चिन्ता, उपाधि, और शोक से रहित होकर परम प्रसन्न होती है, तथा जो परिश्रमी, उद्योगी, विनय गुण-धारक, और अखण्ड ब्रह्मचर्य से सुरक्षित होते हैं, वे ही विद्यार्थी हो सकते हैं।

इतने कथन में वय (आयु) का कहीं भी निदर्शन नहीं किया। 'बाल' शब्द वय सूचक नहीं परन्तु 'गुणवाचक विशेषण' के समान है, जो विद्यार्थी उपरोक्त गुण वाले हों, वे हमेशा हृदय के 'बालक' ही होते हैं। और जहां तक हृदय बालक के समान विशुद्ध और ग्राहक स्वभाव वाला होता है, वहां तक वह शिक्षण प्राप्त करने को योग्य रहता है। सांसारिक चिन्ताओं का उसमें प्रवेश होने पर और शरीर तथा मन की तेजस्विता को टिकी रखने वाले अखण्ड ब्रह्मचर्य का नाश होने पर, फिर हृदय बालक नहीं रह सकता। और वे शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता तथा अधिकार धारण नहीं कर सकते। उपरोक्त गुण वाले बालक हृदय के विद्यार्थी चाहे जितनी बड़ी अवस्था के हों, तो भी शिक्षा प्राप्ति के अधिकारी हैं, परन्तु चाहे जितनी 'बाल वय' होते हुए भी 'बाल हृदय बिना' अर्थात् उपरोक्त गुण बिना तथा ब्रह्मचर्य को खण्डित किये हुए विद्यार्थी शिक्षा प्राप्ति के अधिकारी नहीं। क्या अपन नहीं देखते हैं कि बाल लग्न से अपने ब्रह्मचर्य का शारीरिक

तथा मानसिक तेजस्विता का, हृदय की शुद्धता तथा सरलता का, निश्चिन्तता तथा मन की प्रसन्नता का नाश करने वाले अल्पवयस्क तरुण भी शिक्षा प्राप्त करते २ रुक जाते हैं ? उनका विद्याभ्यास तो खुले तौर से अटका ही रहता है, परन्तु उनका सूक्ष्म मानसिक विकास (जो शिक्षा का एक विभाग है) भी इससे अटक जाता है। इसके विरुद्ध वय के प्रमाण से प्रथमावस्था बीतने पर भी हृदय के 'बालक' बहुत से युवकों का अभ्यास-विषय एवम् मानसिक विकास प्रगतिमान होता दिखाई देता है। इस तरह प्राथमिक अवस्था के कर्तव्य के लिये वय की मर्यादा गौण है, और उचित गुण होना प्रधान है। विद्यार्थी अवस्था को शास्त्रोक्त रीति से बिताने के लिये एक २ विद्यार्थी में कितने कितने गुण होना चाहिए, उसका वर्णन यहां पर तो अति सूक्ष्मता से किया है परन्तु अन्य ग्रन्थों में उसका बहुत विस्तार है। विद्यार्थी के प्रत्येक गुण पर विवेचन किया जाय तो उसके लिये एक बड़ा ग्रन्थ बन जाता है। इसलिये विनय, उद्योग और ब्रह्मचर्य ये तीनों गुण प्रत्येक विद्यार्थी के परमावश्यक गुण हैं।

द्वितीय कर्त्तव्याधिकारिणः

येषा मुन्नतिकामना प्रतिदिनं, प्रीतिः परार्थे परा।
द्रव्योपार्जनलालसापि न कदा, नीतिं समुल्लङ्घते॥
वृत्तिर्धर्मपराङ्मुखा न भवति, क्लेशस्य लेशोपिनो।
ते बोध्या अधिकारिणः सुगृहिणः कृत्ये द्वितीयेशुभे॥

गृहस्थ-धर्म के अधिकारी

भावार्थः—जिनकी ऐहिक उन्नति की विशेष कामना हो, और उसके साथ ही परोपकार करने की इच्छा भी मन में रहा करती हो, द्रव्योपार्जन करने की लालसा विद्यमान्

हो, तथापि वह लालसा नीति की सीमा को लाँघ जाने वाली न हो, जिनकी वृत्ति धर्म से पराङ्मुख न हो किन्तु धर्म की ओर लगी हुई हो, जो कुटुम्बादि में सुलह चाहने वाले, और क्लेश को मिटाने वाले हों, ऐसे सद्गृहस्थही द्वितीय कर्त्तव्य के अधिकारी गिने जाते हैं।१०।

विवेचन—द्वितीयावस्था के कर्त्तव्यों का पालन करने का अधिकार एक गृहस्थाश्रमी में तभी आया हुआ दिखता है, जब उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में नीति और धर्म की अनुकरणीय वृत्ति जागृत रहती है। धनोपार्जन करने की; और उद्योग परायण रहने की; इस अवस्था में आवश्यकता है। परन्तु उसके लिये नीति और धर्म को न भूलना चाहिये। प्रथम 'सदुद्योग में प्रवृत्ति' इसे द्वितीयावस्था का एक कर्त्तव्य गिना है, उस सदुद्योग में नीति और धर्म का सागर लहलहाता हुआ चाहिये। गृहस्थाश्रम में नाना प्रकार के स्वभाव वाले कुटुम्बादिकों से मिलने की मनुष्य को आवश्यकता होती है, और विजातीय गुण वाले स्वभावों के संघर्षण से कलह रूपी चकमक झड़ने लगती है। परन्तु जो पुरुष कलह प्रिय न हो तो कुटुम्ब में चाहे जैसे विलक्षण स्वभाव इकट्ठे हुए हों, तो भी क्लेश नहीं होता। इस कारण से कौटुम्बिक राज्य में शान्ति प्रिय होना चाहिये। अन्य कोई स्वजन कलह प्रिय हो, और वह कलह करने भी लगे, परन्तु सामने वाला मनुष्य उस कलह को उत्तेजना न दे, अर्थात् स्वयं शान्ति प्रिय होकर कलह की वृद्धि हो, ऐसे शब्दोच्चारण या व्यवहार नहीं करे तो फिर कलह करने वाले को स्वतः ही शान्त रहना आवश्यक होगा 'अतृणेपतितो वह्निःस्वयमेवाहि शाम्यति' जिस पृथ्वी पर घास का तृण न हो वहां चाहे जितनी अग्नि पड़ी हो तो भी क्या है ? उससे कुछ अग्नि नहीं बढ़ सकती। उसी प्रकार कौटुम्बिक क्लेश की दशा समझो ॥१०॥

तृतीय कर्त्तव्याधिकारिणः ॥ ११ ॥

प्राणान्तेपि चलन्ति किञ्चिदपि नो धैर्येणये धर्मतः ।
सर्वस्वापगमेप्यसत्यवचनं नेच्छन्ति वक्तुंकचित् ॥
आशापाशनिरासनोच्छ्रित बलाः, प्रेम्णा परार्थैरता ।
एते स्युस्त्वधिकारिणो बुधवराः, कृत्ये तृतीये वरे ॥

परार्थरूप तीसरे कर्त्तव्य के अधिकारी ।

भावार्थः—जो धर्म के मार्ग में इतने निश्चल हों, और धैर्य भी जिनका इतना प्रबल हो, कि प्राण जाने तक भी वे उस मार्ग से लेशमात्र भी चलायमान न हों, और अपनी सब सम्पत्ति का नाश होता हो, तो भी वे असत्य भाषण बोलने की इच्छा न करते हों। तृष्णारूपी पास बन्ध को तोड़ डालने से; जिनका निष्पृहता रूपी बल अति उन्नतावस्था में पहुँचा हो, और जो परार्थ के मार्ग पर चलने के लिये अत्यन्तहार्दिक इच्छा से उद्यत हुए हों। ऐसे धीर और प्राज्ञ पुरुष परार्थ रूप तीसरे कर्त्तव्य के अधिकारी गिने जाते हैं।

विवेचन;—परार्थ साधना रूप तीसरी अवस्था के कर्त्तव्य की परिपूर्णता के लिये मनुष्य में जिन गुणों की आवश्यकता दर्शाई है, वे गुण धैर्य, धर्मतत्परता, सत्यवादित्व, निर्लोभ-तृष्णा रहितता, निःस्पृहता और प्रज्ञता इस तरह हैं। ये गुण इस अवस्था में आवश्यक हैं; और अन्य अवस्थाओं में आवश्यक नहीं, इस पर से ऐसा नहीं समझना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है, कि तीसरी अवस्था की सफलता होने के लिये ये गुण होने की मनुष्य में विशेष आवश्यकता है। अब अपन इस आवश्यकता की गहराई में उतरेंगे—तरुणावस्थामें गृह संसार रूपी राज्य-कौटुम्बिक स्वराज्य चलाकर उसमें विजयी

हुए संसारी योद्धा के सिर इस अवस्था में ज्ञाति-बन्धु-समाज, धर्मबन्धु-समाज, या देश-बन्धु समाज के हित करने का बड़ा कर्त्तव्य आ पड़ा है। आज तक कौटुम्बिक स्वराज्य चलाने वाले को अब ज्ञाति, धर्म, या देश का सामाजिक स्वराज्य चलाना है। कौटुम्बिक स्वराज्य (Problems) चलाने में आज तक जिन - गुणों की आवश्यकता हुई है; उन गुणों की अब विशेष विकसित रूपमें आवश्यकता होगी, ऐसा प्रतीत होता है। धर्म-रति, शांत-प्रियता इत्यादि गुणों के आगे बढ़े हुए रूप जो धर्म तत्परता, धीर प्रकृति, न्याय प्रियता इत्यादि गुण हैं, उनकी आवश्यकता प्रतीत होती है। ज्ञाति, धर्म या देश का हित-परहित कुछ एक मनुष्य अपने धनका उपयोग करके ही नहीं साध सकता, धन के अतिरिक्त अपने परिपक्व विचार, चतुराई, अनुभव, इत्यादि का उपयोग उस कार्य के करने में लगाने से, धन से भी विशेष परार्थ का साधन हो सक्ता है। कौटुम्बिक स्वराज्य से भी ज्ञाति, धर्म, समाज या देश के साम्राज्य चलानेका कार्य अति कठिन है, तरुणावस्था में एक भूल होने से उसका परिणाम सब कुटुम्ब को ही सहन करना पड़ता है। इसके बदले इस मध्यावस्था में एक भूल हो जाने से समस्त ज्ञाति, धर्म, समाज या देश को संकट सहन करना पड़ता है, इसलिये परार्थ सम्बन्धी कार्य करने में अत्यन्त दीर्घ विचार करने की आवश्यकता है। धैर्य पूर्वक विचार करके कोई भी कार्य प्रारम्भ करना, और प्रारम्भ किये पश्चात् चाहे जैसे कष्ट आवें, उसको पूरा ही करना चाहिये। यह बड़ा गुण सबसे पहिले आवश्यक है। भर्तृहरि ने कहा है कि:—

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

अर्थात्:—चाहे आज मृत्यु हो चाहे युगान्तर से हो, तो भी धीर पुरुष न्याय के मार्ग से नहीं डिगते। ऐसे धीर पुरुष जो धनकी या स्थूल वैभव सम्पत्ति की तो क्या? परन्तु अपने देह तक की भी आहुति देने को उद्यत रहते हैं, वे ही परार्थ की साधना कर सकते हैं। कई समय जब ज्ञाति, धर्म समाज या देश के हित के लिये बड़े २ अग्रेसरों, धर्म गुरुओं, या राज्यधिकारियों से लड़ना पड़ता है, तब भर्तृहरी के कथनानुसार जो अविचल धीर पुरुष न हों तो लोग पीछे हट जाते हैं, और परार्थ साधना रूप कर्त्तव्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, कई बार लोक धैर्य अथवा धृति का मिथ्या अर्थ करते हैं। कोई अपने ऊपर धावा करे, और अपन उसके धावे से अपनी जाति का बचाव करलेने को समर्थ होते हुए भी उसके धावे से अचल रहकर उसको सहन करलें तो उसे धैर्य या धृति कहते हैं, मिथ्या अर्थ करनेवाले ऐसा मानते हैं। परन्तु "मान्तेन" के कथनानुसार इसे धृति नहीं कह सकते, वह कहता है कि "अपने को होती हुई हानि से अपने स्वतः का रक्षण करने के सर्व प्रकार के न्याययुक्त उपायों की योजना करने की अपने को छूट है।" और इस तरह के उपाय करने के कार्य को वह धृति कहता है। धृति का यही लक्षण यथार्थ है। न्याय युक्त सत्य मार्ग पर चलते हुये पीछे हटना नहीं, दूसरों की भलाई के कार्य में अपने लाभ की तृष्णा तनिक भी रखना नहीं। लालच से न ललचाते, अचल मनोवृत्ति पूर्वक अपने दीर्घ विचार कर, नियत किये हुए मार्ग पर चलना, इसी प्रकार की धृति की मनुष्य को अपनी तीसरी अवस्था में विशेष आवश्यक्ता पड़ती है। द्वितीयावस्था में मनुष्य की वृत्ति धर्म से पराङ्मुख न होना चाहिये, ऐसी सूचना कर देने के पश्चात् इस अवस्थामें ग्रन्थकार 'धर्मतः' शब्द का उपयोग करते हैं, इसे भूलना

नहीं चाहिये। वृत्ति को धर्म के सन्मुख रखने के पश्चात् धीरे २ धर्म तत्पर बनाना इतना हेतु इस में भरा हुआ है। अन्य गुणों के विकास में प्रगतिमान होने के साथ २ धर्म में भी क्रमशः किस रीति से आगे बढ़ते जाना चाहिये, उसका यह स्पष्ट सूचक है। (११)

चतुर्थ कर्तव्याधिकारिणः ॥१२॥

नष्टावैभव वासनाः विषयतो, येषां विरक्तं मनो।
नो मोक्षे तरकामनास्ति समतः मानेऽपमाने तथा॥
चित्तं निश्चलमात्मसाधन विधौ, लोभस्य लेशोपिनो।
ते भव्या अधिकारिणो त्र न पराः, कृत्ये चतुर्थे परे॥

त्याग अथवा योग के अधिकारी।

भावार्थः—जिनकी सांसारिक वैभव सुख की वासनाएं नष्ट होगई हैं, जिनका मन विषय विलास से बिलकुल विरक्त होगया है, मोक्ष के सिवाय दूसरे किसी प्रकार की जिनके मन में इच्छा नहीं है, मान मिले चाहे अपमान मिले, दोनों में जिनके समान भाव हैं। आत्मिक कार्य साधने में जिनकी चित्त-वृत्ति अत्यन्त निश्चल होगई है, किसी भी वस्तु प्राप्त करने का लोभ जिनके मन में लेश मात्र भी नहीं है, ऐसे व्रतधारी भव्य पुरुष त्याग रूप चौथे कर्त्तव्य के अधिकारी होते हैं॥ १२॥

विवेचनः—'धर्मतत्परता' से एक भूमिका ऊंची चढ़ कर; 'आत्म साधनमें चित्त को निश्चल करना इस प्रकार का त्याग, वा योग चतुर्थावस्था का परम कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को परिपूर्ण करने के अभिलाषियों को सर्वांश निस्पृहता को प्राप्त करना चाहिये, अर्थात् सर्व दैहिक वासनाओं से चित्तवृत्ति को हटाना चाहिये। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मानना, यह बंधुभाव

का परम उच्चतम लक्षण है । परन्तु उसमें जो किञ्चित् ममत्व बताया है, उसका भी त्याग करके आंतरिक दृष्टि को केवल मोक्ष की कामना ही में लगाना यही अंतिमावस्था का परम लक्षण है । मन, वचन, और काया इन तीनों के योग से जो स्थूल देहधारी आत्मा ने अकिञ्चन् अवस्था प्राप्त की हो तो वही चतुर्थावस्था के कर्त्तव्य को सफल करने की सच्ची जिज्ञासा वाला है, अर्थात् वही चतुर्थावस्था के कर्त्तव्य का उचित अधिकार रखता है, ऐसा कहते हैं (१२)

तृतीय परिच्छेद ।

कर्त्तव्य के समय की घटनाएं ।

[इस प्रकार आयुष्य की चार अवस्थाएं, उन अवस्थाओं के कर्त्तव्य, और उन कर्त्तव्यों की परिपूर्णता के लिये अधिकारी मनुष्य कितने गुणवान होना चाहिये, इसका विस्तृत विवेचन करने में आया, परन्तु उसमें कितनी ही शङ्काएं रह जाने से अब उन शङ्काओं का समाधान करने में आता है] ।

कर्तव्य काल विभाग ॥ १३ ॥

सामान्येन हि यावदायुरधुना, सम्भाव्यते मानवे ।
योंश स्तस्य चतुर्थ एष समयः, प्रत्येकमेषां क्रमात् ॥
स्यादुक्तक्रमरक्षणेन सकलं, कार्यं व्यवस्थायुतं ।
साफल्यम् नरजन्मनश्च सुखदाः, स्युः शक्तयः सर्वथा ॥

प्रत्येक कर्त्तव्य के लिये कितना २ समय ?

भावार्थः—जिस देश के मनुष्यों की कर्त्तव्य सीमा देखना हो, उस देश के मनुष्यों का सामान्यतः अधिक से

अधिक जितने वर्ष का आयुष्य हो, उसके चार भाग कर, चौथे भाग के पांति जितना समय आवे, उतना समय एक कर्त्तव्य का समझना चाहिये, इन विभागों के अनुसार जिस कर्त्तव्य का समय उदय हो, उस अवस्था में उस कर्त्तव्य को आगे बताई हुई विधि से; इस प्रकार पालन करना चाहिये, कि जिससे दिनों दिन आत्मिक शक्ति का विकास हो, और उत्तरोत्तर कर्त्तव्य पालन करने का बल भी प्राप्त होता रहे।

विवेचनः—मनुष्य का आयुष्य एक सौ वर्ष का गिन कर २५—२५ वर्ष के एक से चार विभाग कर उस प्रत्येक अवस्था के कर्त्तव्य तथा उन कर्त्तव्यों के पालन करने वाले पात्र मनुष्यों के गुणों का कथन यहां समाप्त हुआ।

शंकाः—परन्तु आधुनिक कालमें मनुष्यों को सौ वर्ष तक का आयुष्य भाग्य से ही भोगना मिलता है, बहुत से ५० वर्ष की आयु में ही वृद्ध हो जाते हैं, और ८० वर्ष की आयु तक तो कोई भाग्य से ही पहुँच सकता है। अपने आर्यावर्त्त देश में ८० वर्ष से अधिक आयु वाले मनुष्य १०० में १ भी होंगे या नहीं, इसके लिये चित्त में शङ्का ही रहती है। तो फिर २५ वर्ष के एक से विभाग करने में आया, और उनका कर्त्तव्य क्रम सूचित करने में आया, यह क्या उचित है?

समाधानः—संसार के भिन्न भिन्न भागोंकी शीतोष्णऋतु का प्रभाव मनुष्यों के शारीरिक सङ्गठन पर भी पड़ता है। ऐसा ज्ञात होता है; कि जिस देश में उष्णता अधिक हो, उस देशके लोगों को युवावस्था छोटी उम्र से ही प्राप्त होजाती है, और जिस देश में शीत अधिक होती है; उस देश में बाल्यावस्था बहुत वर्ष तक टिकी रहता है। ऐसा अपना समान्य व्यवहार

में देख रहे हैं। नार्वे के मनुष्यों का आयुष्य सब दुनियां में सबसे अधिक होता है, उसका कारण भी यही है; कि वे उत्तर ध्रुव के समीप हैं, वहां की ऋतु अत्यन्त शीत है। वहां १०० वर्ष का आयुष्य तो प्रति शत २५ मनुष्य भोग सकते हैं, और १०० वर्ष ऊपर भी बहुत मनुष्य जीते हैं। सामान्य गिन्ती से नार्वे के मनुष्यों का दीर्घ आयुष्य १२० वर्ष तक का गिना जाता है, और अपने आर्यावर्त में ८० वर्ष का गिना जाता है। देश २ की ऋतुओं की यह घटना देखकर १०० वर्ष का निश्चय परिमाण बांधना अनुचित नहीं है। 'शुक्र नीति' में कहा है कि "शतमायुर्मनुष्याणां गजानां परमं स्मृतम्" अर्थात् मनुष्य का और हाथी का आयुष्य १०० वर्ष का गिनाजाता है। परन्तु व्यवहार में प्रत्यक्ष प्रमाण से कर्त्तव्य के विभागों में अपन तो शास्त्र नियम को ग्रहण नहीं करेंगे। जिस देश में जितना आयुष्य सामान्यतः अधिक गिना जाता है, उस आयुष्य के एक समान चार विभाग कर प्रत्येक विभाग को एक २ अवस्था मानना, और फिर क्रमानुसार कर्त्तव्य पालन करना यही विशेष उचित और व्यवहारिक मार्ग है। इस क्रम से वर्ताव करते २ धीरे २ आत्मा की भिन्न २ शक्तियों का विकास होता रहता है। जितनी शक्ति नार्वे निवासी ९० वर्ष की आयु में प्राप्त कर सकते हैं, उतनी शक्ति आर्यावर्त निवासी ६० ही वर्ष की आयु में प्राप्त कर सकते हैं। कारण कि नार्वे वालों की (तृतीय) अवस्था ९० वर्ष में समाप्त होती है, वही अवस्था आर्यावर्त वालों की ६०वें वर्ष में ही समाप्त होजाती है। १३ ॥

[कर्त्तव्य के क्रम के सम्बन्ध में भी वैसी ही शङ्का कर ग्रन्थकार उस क्रम की योग्यता का निम्न दो श्लोकों में स्वमेव ही प्रतिपादन करते हैं]

कर्त्तव्य क्रम घटना । १४ । १५ ।

यद्यत्स्वल्पपरिश्रमेण तरसा, कृत्यं सुसाध्यं भवे ।
तत्तत्स्वल्पफलं तथापि पुरतो युक्तं तदारम्भणम् ॥
यस्मात्संभवति क्रमेण मनुजे, शक्त्युन्नतिर्नान्यथा ।
भारं वोढुमलं शिशुः किमु भवेच्छक्तिं विनादैहिकीम् ॥१४
व्यायामादिविकाशिते निजबले, बालःस एवान्यदा ।
वाह्यं पञ्चपपूरुषैः स्वयमहो, हस्तेन वोढुं क्षमः ॥
एवंयस्य यथायथा प्रकटिता, शक्ति र्भवे दात्मनः
शक्यं तेन तथोत्तरोत्तर महो, कार्यं परं साधितुम् ॥१५

क्या कर्त्तव्य का बताया हुआ क्रम उचित है?

भावार्थः—जिस कार्य में परिश्रम कम पड़ता है, उसका फल भी न्यून होता है। जितना परिश्रम, उतना फल, यह एक अविच्छिन्न नियम है। जिससे विशेष परिश्रम कर उच्चफल प्राप्ति होने का प्रयास पहिले से ही क्यों न करना चाहिये? यह एक प्रश्न उपस्थित होता है। तथापि थोड़े परिश्रम से साध्य, थोड़े फलवाले कर्त्तव्य से प्रारम्भ इसलिये करना योग्य गिना जाता है, कि मनुष्य में शक्ति का विकास बहुत करके क्रम २ से ही होता है। छोटे बालक, कि जिनमें अभीतक शारीरिक शक्ति प्राप्त नहीं हुई है, मन दो मन का बोझ उठाने को असमर्थ हैं। परंतु जैसे २ वे बालक बड़े होते जाते हैं, और काम करने के अभ्यास से उनका शारीरिक बल विकसित होजाता है, उस समय वे ही बालक पाँच छः मनुष्य उठा सकें इतना वजन स्वतः एक हाथ से उठाने को समर्थ होजाते हैं। उसी प्रकार समय और अभ्यास के बलसे जैसे २ मान-

सिक शक्ति का विकास होता जाता है, और आंतरिक शुद्धता से आत्मिक वीर्य बढ़ता जाता है, वैसे २ वे मनुष्य अधिक कष्ट साध्य उत्तरोत्तर कर्त्तव्य पालन करने को शक्तिमान् होते जाते हैं। इसलिये अधिक फल देनेवाला कर्त्तव्य शक्ति के विकाश की उपेक्षा रखता है, और शक्ति के विकाश को देखकर ही जो कर्त्तव्य क्रम दिखाया है, वह सामान्यतः से योग्य ही है [१४-१५]

विवेचनः—"अंडी सन्" कहता है कि यह जीवन दुःख व्याप्त नहीं, परन्तु इसमें बहुत शिक्षा और सुख प्राप्त हो सक्ता है। क्योंकि मानव जीवन यह एक प्रकार की शाला है कि, जिसमें मनुष्य रूपी विद्यार्थी प्रतिदिन कुछ न कुछ नवीन सीखता ही है, सुख दुःख का अनुभव प्राप्त करता ही है। यह शाला भी विद्यार्थियों की पाठशाला के अनुसार क्रम २ से पढ़ाई चलती हुई संस्था है, और इसके अभ्यास स्वाभाविकता से स्थापित हैं। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव प्रकृति ने इस प्रकार स्थापित किया है; कि जिससे वह क्रम २ से आगे बढ़ता ही रहता है। वृद्धि के स्वाभाविक नियम का उल्लंघन करने से प्रायः वृद्धि कम हो जाती है, इसलिये प्रकृति की उपेक्षा कर, व्यवहारिक शिक्षण पाये हुए मनुष्यों ने अपनी सब प्रकार की उन्नति के लिये क्रमशः आगे बढ़ने के ही नियम ठहराये हैं। इसलिये जीवन शाला में अभ्यास करते हुए मनुष्यों के लिये भी विद्वान् पुरुषों ने क्रमानुसार प्रगति का मार्ग नियत किया है। एकाएक त्वरा पूर्वक वृद्धि चाहने वालों की वह चाह प्रायः निष्फल जाती है। सुभाषितकार कहते हैं कि:—

शनैर्विद्यां शनैर्वित्त, नारोहेत्पर्वतं शनैः।
शनैरध्वसु वर्तेत, योजनान्न परं व्रजेत्॥

अर्थात्—थोड़ा २ सीखने से विद्या प्राप्त होती है, धीरे २ ही द्रव्य प्राप्त होता है, और धीरे २ ही पर्वत पर चढ़ा जाता है। इसी प्रकार मार्ग में पाँव २ चलना परन्तु योजन २ चलना नहीं। यह बोध वचन भी क्रम २ से धीरे २ आगे बढ़ने की सूचना देता है। इसी प्रकार मनुष्य की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास भी वय के क्रम से आगे बढ़ता रहता है, और जैसे २ बड़े से बड़े चतुराई से भरे हुए और हितकारी कार्य करने की आन्तरिक और वाह्यिक शक्ति का मनुष्य सम्पादन करता जाता है। अपरिपक्व वय वाले, या कच्ची बुद्धि वाले, एक बालक को एक बड़ा भारी व्यापार का कार्य सौंपा जाय, तो उसका फल ठीक नहीं होता। ऐसा होने का कारण यही है कि उस बालक की वय या बुद्धि अपरिपक्व दशा में होने से वह इतना गम्भीर कार्य नहीं कर सक्ता। इसलिये बड़े लाभ की लालसा से जो बालक से बड़ा व्यापार करावें, तो उसका परिमाण बुरा होता है। परन्तु जो उसकी वय और बुद्धि के परिणाम से उसे छोटा कार्य दिया जाय, तो वह यथोचित रीति से उसे कर लेता है। इसी प्रकार थोड़े परिश्रम के थोड़े फल से असंतुष्ट नहीं होना चाहिये, और पूर्ण योग्यता पाये बिना बड़े कार्य में सिर भी नहीं मारना चाहिये। प्रारम्भ निस्सन्देह छोटा हो, परन्तु उस छोटी प्रारम्भता में ही बड़े और सुन्दर परिणाम भरे हुए हैं। बड़ के एक छोटे से बीज में बड़ा वृक्ष रहता है, ऐसा मानकर उस छोटी सी प्रारम्भता से ही तुष्ट रहना चाहिये।

आत्म शक्ति का उदय भी क्रम २ से होना योग्य ही है, ऐसा सिद्धान्त नियत कर ग्रन्थकार ने चारों अवस्थाओं का कर्त्तव्य निर्णय कर दिखाया है। इन कर्त्तव्यों की सूचना पीछे के श्लोकों में होगई है, और उससे स्पष्ट विदित होता

है कि उसके संगठन में जो रीति ग्रहण करने में आई है, वह क्रमानुसार ही है, और उच्चतम ध्येय के चिन्दु के सन्मुख अधिक से अधिक आगे बढ़ने वाली है "एक बालक प्रौढ़ वय वाले पुरुष के समान परार्थ में जीवन बिताने वाला क्यों नहीं हो सका है? ऐसी उच्च परन्तु असम्भव कल्पना करके मनोगम्य स्वप्नों में भटकना त्याग, विद्वान पुरुषों ने पहिले जो "शनैः पन्थाः" का नियम स्थापित किया है, उसी क्रम को इस कर्त्तव्य क्रम घटना में ग्रहण किया है।

शंकाः—अपन संसार में देखते हैं कि किसी किसी समय छोटी अवस्था के बालक व्यापार-विषय बुद्धि में बहुत आगे बढ़े हुए दृष्टिगत होते हैं अथवा तरुणावस्था में विचरते गृहस्थाश्रमियों के भाव साधु जैसे जीवन बिताने वाले होते हैं, तो यह प्रत्यक्ष रीति से क्रम घटना का उल्लंघन होता है, तो क्या यह हानिकारक कहलाता है?

समाधानः—नहीं [निम्न श्लोक और विवेचन पढ़ो]

शक्ति सद्भावे क्रमोल्लंघनं न बाधकम् ॥१६॥

प्राक्संस्कारबलेन यस्य फलिता सत्यागवृत्तिर्दृढा।
स्वार्थत्यागसहिष्णुतादिकमनःशक्तिः पुरैवो द्गता॥
सत्यागादिकमुत्तरोत्तरमलं, कर्त्तव्यमासेवतां।
योग्यत्वात्क्रमलंघनेपि न मनाग् बाधात्र काप्यूह्यते॥

जहां आकस्मिक् शक्ति का विकास हो वहाँ क्रम की आवश्यकता नहीं है।

भावार्थः—जिसको पूर्व जन्म के शुभानुष्ठान से शुभ कर्म का हो संयोग प्राप्त हुआ है, जिससे बाल्यावस्था में शुभ संस्कार के बल से अच्छे २ विचार होने लगें।

विषय भोग की ओर अरुचि, और त्याग की ओर प्रबल रुचि जगे, स्वार्थी इच्छाओं का दमन और स्वार्थ त्याग वृत्ति प्रबल प्रतीत होने लगे। सहिष्णुता, धैर्य, क्षमा, आदि मानसिक सद्गुण और मनोबल हृदयबल, आत्मिक बल, बाल्यावस्था, तरुणावस्था चाहे जिस अवस्था में प्रकट हुए प्रतीत होने लगें, तो वह मनुष्य च है जिस अवस्था में त्यागरूप अन्तिम कर्त्तव्य या अन्य उन्नतिगामी कर्त्तव्य योग्यतानुसार पालन कर सकता है। ऐसा करने से यदि ऊपर कहे हुए क्रम का उल्लङ्घन होता हो तो भी कोई बाधा नहीं। कारण कि ऊपर का क्रम साधारणतया कहा गया है, और वह भी योग्यता पर निर्भर है।

विवेचन—गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।

अर्थात्‌—गुणवान मनुष्यों में गुण ही पूजनीय हैं, उनकी जाति या वय में पूजनीय गुण नहीं। उस प्रकार कर्त्तव्य की घटना, मनुष्य के गुण तथा शक्ति की न्यूनाधिकता के प्रमाण से ठहराई है। स्वाभाविक नियमानुसार गुण किंवा शक्ति का सद्भाव वय की अपेक्षा रखता है, और व्यवहार में प्रायः वैसा ही दिखाई देता है, जिससे वय के आधार पर ही कर्त्तव्य क्रम की घटना करने में आई है। परन्तु इतना भूलना नहीं चाहिये कि वय और गुण में गुण प्रधान हैं।

इसलिये कर्त्तव्य क्रम की घटना में 'गुण' की उपेक्षा कर हेर फेर करने में कुछ भी बाधा नहीं है। इस संसार में बहुत से जीव पूर्व भव के उच्च संस्कार से जन्म लेते हैं *

* पूर्व भव के संस्कार का एक चमत्कारिक दृष्टान्त यहां देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। कलकत्ता निवासी बाबू बसन्त कुमार चटर्जी का पुत्र बालक मदन मोहन चटर्जी है। बसन्त कुमार संगीत विद्या के बड़े प्रेमी हैं। एक समय बसन्त कुमार ने देखा, कि उसका पुत्र मदन एकान्त में आनन्द पूर्वक गा रहा है। वह ताल और सुर के मिलास के अनुसार वह अपने

बाल्य किंवा तरुणावस्था में परार्थ और त्याग में जीवन बिताने वाले महात्माओं की इस जगत में कमी नहीं है। पूर्व संस्कार के बल से कोई आत्मा कम में अवस्था ही से शक्ति विकास दृष्टिगत हो तो उस शक्ति अथवा गुण के अनुसार कर्त्तव्य पालन करने में कोई बाधा नहीं। क्रम की घटना वहां अन्तराय भूत नहीं हो सकती। कारण कि ऐसी आत्माएं वय के अनुसार निस्सन्देह प्रथम या द्वितीयावस्था में हों, तथापि गुण और शक्ति के अनुसार तृतीय या चतुर्थावस्था के पात्र होसकती हैं। और क्रम घटना में वय घटना गौण है, तथा गुण गणना प्रधान है, ऐसा प्रथम मालूम हो गया है।

शङ्काः—क्रम घटना जब गुण और शक्ति को प्रधानता देती है और वय को गौण बतलाती है, तो कोई तृतीय या चतुर्थावस्था वाला पुरुष विषय विलास से मुक्त न होकर; उस अवस्था में भी गृहस्थाश्रम में लिप्त रहे, तो उसने अपना कर्त्तव्य उचित रीति से पालन किया या नहीं?

समाधानः—नहीं! "मिसेस ऐनी बेसेन्ट" कहती हैं "कि

स्वर को धीरे और जल्द करके तान पलटते गाता था। यह कौतुक देखकर उसके पिता को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसकी परीक्षा लेने के लिये पिता ने हारमोनियम बजाना प्रारम्भ किया, और मदन ने हारमोनियम पर बराबर गाया। ताल और स्वर में तनिक भी भूल न की। इस समय मदन की अवस्था केवल दो वर्ष और नव मास ही की थी। जब वह चार वर्ष का हुआ, तब उसने अलीपुर के ज्वाइन्ट मेजिस्ट्रेट के घर इतना सुन्दर गाना गाया था; कि उसके सुननेवालों ने यह निश्चय कर लिया कि ऐसा गायन दस या पन्द्रह वर्ष के अभ्यासी गायक भी नहीं गा सकते। पूर्व जन्म के संस्कार बल से वय की गणना किस रीति से छिप जाती है, और गुण की गणना प्रधान पद पाती है उसका यह एक सामान्य दृष्टान्त ही है।

प्रत्येक मनुष्य उन्नति पथगामी है, अर्थात् मनुष्यात्मा प्रत्येक क्षण में उन्नतावस्था में आ जाता है और यह सच है कि मनुष्यत्व जो उच्च लक्ष्य बिन्दु है उस स्थल पर पहुँचने के लिये; मनुष्य को उन्नति पथ गामी होना चाहिये, यही कर्त्तव्य है।

उन्नति पथगामी होने के बदले अधःपतित होना, यह मनुष्यता को निष्फल करता है, वरन् आत्मा का घात करता हैं, इसलिये प्रथम या द्वितीयावस्था में शक्ति व गुण के सद्भाव से तृतीय या चतुर्थावस्था के कर्त्तव्य करना योग्य ही है, बाधक नहीं। परन्तु तृतीय या चतुर्थावस्था में द्वितीयावस्था के कर्त्तव्यों में पड़े रहना, यह आत्मा को पतित करने वाला और अयोग्य है। आत्मा को उन्नतावस्था में लाने के लिये क्रमोल्लङ्घन करने में बाधा नहीं। परन्तु क्रमोल्लङ्घन का दोष लगाकर आत्मा को अधःपतित करना; यह तो द्विगुणाय दोष है। इस कारण से इस श्लोक में 'उत्तरमलं' शब्द से क्रमोल्लङ्घन की भी ग्रंथकार ने मर्यादा बाँध दी है इस शब्द का स्पष्टार्थ यह ज्ञात होता है कित्यागादि उच्च कर्त्तव्य करने के लिये वय के क्रम का उल्लङ्घन होता हो; तो उस रीति से उन्नति होने के लिये वैसा करना इसमें कोई बाधा नहीं है ॥१६॥

[क्रमानुसार कर्त्तव्य नहीं करनेवाले अर्थात् जो इस क्रम घटना को अपवाद समझते हैं, उन मनुष्यों के लिये वाचकों को शङ्का का फिर समाधान करने के लिये ग्रन्थकार कहते हैं]

कर्त्तव्य विशेषाणां परस्परं सहचारा सहचारौ ॥१७॥

पूर्वं पूर्वं मथोत्तरोत्तर विधौ संलीयते क्वचि
त्पुंसः शक्त्यनुसारतः क्वचिदपि प्राधान्य तास्तिष्ठति ॥
क्वाप्येतानि समाश्रयन्ति समतां वैषम्यकोटिंक्वचि
त्कालादेश वशाच्च वस्तु वशतः कार्येषु सर्वःक्रमः ॥१७॥

चारों कर्त्तव्य भिन्न २ ही रहते हैं, कि कहीं उनका संयोग भी होता है?

भावार्थ और विवेचन;—प्रत्येक मनुष्य को शक्ति और संयोग एक से प्राप्त नहीं होते। विलक्षण संयोग प्राप्त होने से किसी में ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है; कि एक अवस्था का एक कर्त्तव्य पुरा करने के पश्चात् दूसरे कर्त्तव्य की सीमा में प्रवेश करता है, और दूसरे कर्त्तव्य को पालन करने के पश्चात् ही तीसरे कर्त्तव्य को स्वीकार कर सकता है, इससे यही ज्ञात होता है कि पूर्व कर्त्तव्य उत्तरोत्तर कर्तव्य में वढ़ते जाते हैं। किसी पुरुष में किसी एक प्रकार की शक्ति होने से वह जीवन समय के अन्त तक अमुक २ स्वामिष्ट कर्त्तव्य ही स्वीकार करता है, इससे यह ज्ञात होता है, कि उसमें अमुक एकही कर्त्तव्य प्रधान है। किसी में विशेष शक्ति के प्रभाव से एक अवस्था में भी एक से अधिक कर्त्तव्य समान अधिकार से साथ रहते हैं और किसी स्थान पर वे कर्त्तव्य विशेषता से रहते हैं। अर्थात् कर्त्तव्यों की परस्पर समानता, और विषमता, सहचार, और असहचार, क्रम और उत्क्रम, इन सब का आधार मनुष्य की शक्ति द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्रभृति प्राप्त हुए संयोगों पर निर्भर है। जगत् में इस प्रकार भिन्न २ भाँति से जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्यों के दृष्टान्त देखने में आते हैं। परन्तु मुख्य नियम और क्रम घटनानुसार इस प्रकार का जीवन अपवाद रूप ही समझा जाता है। इन अपवाद रूप जीवन में कितनेक जीवन कर्त्तव्य पालन करने में सफलता पाते हैं, और कितने हा जीवन निष्फल भी जाते हैं। परन्तु मुख्य करके जो जीवन नियमानुसार व्यतीत हाते हैं उनका तो निष्फल जाना संभव ही नहीं। यहाँ पर इस विषय से सम्बन्ध

रखनेवाले एक ही दृष्टान्त ठीक उपयोगी होंगे। "बुद्ध महात्मा" ने प्रथमावस्था तो यथायोग्य विद्याभ्यास में बिताई थी। और द्वितीयावस्था में गृहस्थाश्रम भी आरम्भ कर दिया था। इस गृहस्थाश्रम की दूसरी अवस्था में ही वे परहित करने का तीसरी अवस्था का कर्त्तव्य भी पालन करते जाते थे। किसी दुखी को देखकर उसे दुःखसे मुक्त करना, किसी दीन विद्यार्थी को देखकर उसे विद्यादान के लिये धनदान देना, इत्यादि परहित के कार्यों में भी वे उसी अवस्था में मग्न रहते थे। इतने में अकस्मात् वैराग्य और ज्ञान की बाहुल्यता होने से उन्होंने दूसरी अवस्था में ही चतुर्थावस्था का कर्त्तव्य ग्रहण कर लिया। उन्होंने अपनी पत्नी वसुन्धरा का, बालक पुत्र का और वृद्ध माता पिता का अकस्मात् त्याग किया और वनवासी होकर जीवहिंसा पूर्ण यज्ञ, योगादि की व्यर्थता का उपदेश स्थान २ पर देना प्रारम्भ किया। युवावस्था में एक पूर्ण संन्यासी के समान उन्होंने अपना जीवन बिताया, उसमें उनकी शक्ति, काल और संयोग ही कारण भूत थे। वहाँ वय की क्रम घटना के अनुसार कर्त्तव्य की क्रम घटना निरर्थक थी। दूसरा एक दृष्टान्त सुप्रसिद्ध देशभक्त "दादाभाई नौरोजी" का है उन्होंने विद्यार्थी जीवन पूर्ण किये पश्चात् गृहस्थाश्रम प्रारम्भ किया, परन्तु विद्यार्थी जीवन में ही तृतीयावस्था के कर्त्तव्य की प्रारम्भता करदी थी, और दूसरी अवस्था में तो उन्होंने सच-मुच ही परहितार्थी जीवन बिताना आरम्भ करदिया था। स्वदेश बन्धुओं की आर्थिक और राजकीय स्थिति सुधारनार्थ स्वतंत्र समाचार पत्र निकाल कर सरकार के कानतक प्रजा का सन्देश ले जाकर ध्यान कराने का, भारतवर्ष के लोगों के लिये इङ्गलैण्ड में रहकर आन्दोलन करने का, और इसी प्रकार सब प्रकार पर हितार्थी जीवन कि जो प्रायः तीसरी अवस्था

का कर्त्तव्य है उसी के अनुसार दूसरी ही अवस्था में प्रारम्भ कर दिया था, और उसके बीजाङ्कुर तो पहिली ही अवस्था से फूट निकले थे। इस प्रकार दूसरी और तीसरी अवस्था का समय तीसरी अवस्था के कर्त्तव्य में ही विताने के पश्चात् आज ये महात्मा चतुर्थावस्था भोग रहे हैं और उनके हृदय में लोक हित का दीपक ज्वलन्त जल रहा है। १७

चतुर्थ परिच्छेद।

—:०:—

कर्त्तव्य की इच्छा का निवास क्षेत्र: चित्तवृत्ति।

[अब कर्त्तव्य पालन की इच्छा का निवास होने योग्य हृदय में कितनी पात्रता चाहिये इसका कथन करने में आता है]

कर्त्तव्य क्षेत्रम् ॥ १८ ॥

धैर्यं शौर्यसहिष्णुते सरलता, संतोषसत्याग्रहौ।
तृष्णाया विलयः कषायविजयः, प्रोत्साहनं मानसम् ॥
शान्तिर्दान्तिरुदारता च समता, न्याये परार्थे रति।
रचैते यत्र गुणाः स्फुरन्ति हृदये, तत्रैव मानुष्यकम् ॥

योपधाद्गुरूपोत्तमाद् वुञ् । ५ । १ ॥१३२॥ मनुष्यत्व मित्यर्थः। भवतीत्यध्याहारः ॥

कर्त्तव्य के योग्य क्षेत्र कौन सा ?

भावार्थ:—विपत्ति के समय में भी अधीर न होते धैर्य रक्खे। धर्म और परमार्थ के कार्य में निडर होकर आगे बढ़ने

के लिये साहस धारण करें। मनमें सरलता और सन्तोष वृत्ति धारण करें। प्राण जाने तक सत्य को न त्याग सत्याग्रही बनें; लम्बी २ व्यर्थ इच्छाओं का दमन करें; क्रोध, मद, मान, लोभ प्रभृति प्रचण्ड प्रकृतियों को अंकुश में रख कर विजय प्राप्त करें, मनमें उत्साह और साहस रक्खें। इन्द्रियों को वश में रख विषय वासना के वेग में न भूलें। शान्ति और स्वास्थ्य न बिगड़ने दें, सम्पत्ति और साधनाओं के अनुसार उदारता दिखावें और न्यायविशिष्ट परमार्थ के मार्ग में प्रेम रक्खें। इन उपरोक्त गुणों का अंकुर जिसके मनमें सदन्तर स्फुरित रहता है, वहीं मनुष्यता—मानव तत्व रहता है।

विवेचनः—भिन्न २ अवस्थाओं के भिन्न २ कर्त्तव्य पालन करने के लिये किस मनुष्य को योग्य गिनते हैं? इसका विस्तृत विवेचन पीछे कर दिया गया है। क्रम २ से प्रत्येक अवस्था में पहुँचने पर क्रम २ से किस प्रकार का उच्च अधिकार मनुष्य में आना ही चाहिये, वह सब उस विवेचन में दिखा दिया गया है।

परन्तु यहाँ पर सब अवस्थाओं और सब प्रसङ्गों में किस प्रकार का एक सामान्य अधिकार होना चाहिये वह कहने में आता है। प्रत्येक अवस्था का एक मुख्य कर्त्तव्य तो होता ही है। परन्तु प्रतिदिन एवम् प्रति घड़ी मुख्य कर्त्तव्य के भिन्न २ अङ्गों पर विचार करने का एवम् उसी प्रकार कार्य करने का अवसर आता है। मुख्य कर्तव्य सम्बन्धी विचार में एवम् कर्त्तव्य के अङ्गोपाङ्ग रूप छोटे बड़े कार्यों के विचारमें कौनसा सामान्य अधिकार होना चाहिये? यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से उपस्थित होता है। इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार

कहता है कि यह सामान्य अधिकार-जिसका हृदयक्षेत्र निर्मल हो वही प्राप्त कर सकता है। हृदयरूपीक्षेत्र किसका शुद्ध होता है? मनुष्य का। फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य किसे कहते हैं? पाँच इन्द्रिय वाला मनुष्य कहलाता हो तो गाय, भैंस प्रभृति पशुओं के भी तो पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। पाँच इंद्री, मन, और बुद्धि होने से मनुष्य कहलाते हों तो (पाश्चात्य विद्या की खोज के अनुसार) बन्दर को भी मनुष्य गिनना चाहिये। कारण विज्ञानवेत्ता डार्विन ने शोध कर बतलाया है कि मनुष्य की उत्पत्ति बन्दरों ही से हुई है और अभी भी बन्दरों में बुद्धि के अंकुर रहते हैं और उनका विकास भी हो सकता है, परन्तु बन्दर एक मनुष्य नहीं। इसका कारण क्या? कारण यह कि बन्दर मनुष्य के सा उचित श्रेष्ठ व्यवहार नहीं कर सकता। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यत्व का उचित, श्रेष्ठ, हितकारी व्यवहार और विचार जो कर सकता है वही मनुष्य कहलाता है। प्रसिद्ध आङ्गल कवि एलकजेन्डर पोप कहते हैं कि प्रकृति ने अगाध चतुराई के उपयोगार्थ ही मनुष्य की रचना की है। इस अगाध चतुराई का जो उपयोग नहीं करता वह मनुष्य नहीं कहला सकता; वरन् पशु या बन्दर ही कहलाता है। इस प्रकार मनुष्य के हृदय रूपी क्षेत्र का जहाँ सद्भाव हो वही कर्त्तव्य रूपी प्रधान बीज में से कार्यरूपी मनोरम वृक्ष के अंकुर निकलना सम्भव है। मनुष्य हृदयरूपी क्षेत्र के गुणों में धैर्य, सहिष्णुता, सरलता, सन्तोष आग्रह पूर्वक सत्यवादित्व, निर्लोभ, क्रोध, मोह-मद-मत्सररूपी छः रिपुओं पर विजय, मानसिक उत्साह, शान्ति, दांति, उदारता, समता, न्याय प्रियता, परोपकार वृत्ति इत्यादि की गिन्ती होना ही आवश्यक है। ये गुण जिस हृदय में न हों उस हृदय में कर्त्तव्य कार्य सम्बन्धी

किसी भी प्रकार की सदिच्छा के अंकुर स्फुरित होना सम्भव ही नहीं (१८)

[आकृति में मनुष्य परन्तु वृत्ति में अमनुष्य ऐसे प्राणियों के हृदय क्षेत्र कर्तव्य के लिये क्या जीवन भर निरुपयोगी ही रहेंगे? इस प्रश्न का उत्तर नीचे के श्लोक में दिया जाता है]

क्षेत्र विशुद्धिः ॥१९॥

मानुष्यं हि निरुक्तलक्षणयुतं क्षेत्रं प्रधानं मतम् ।
कर्त्तव्याख्यतरुप्ररोहणविधे योग्यं सतां सम्मतम् ॥
स्याच्चेद्दोषतृणोपलाद्युपहृतं शोध्यं सदा तत्पुरो ।
ना चेन्निष्फलतामुपैति सकलो तद्रोपणादि श्रमः ॥

क्षेत्र की शुद्धिः ।

भावार्थः—उपरोक्त लक्षण युक्त मनुष्यत्व-मानवता यही कर्त्तव्य का प्रधान क्षेत्र है। कर्त्तव्य वृक्ष के बीज बोने की यही उत्तम भूमि है। ऐसा सत्पुरुष अनुभव पूर्वक कह गए हैं। यदि यह भूमि दुराचार, दुराग्रह, दुर्मति रूप कङ्कर, पत्थर और घास प्रभृति से अशुद्ध हुई हो तो प्रथम प्रयत्न कर उस भूमि को शुद्ध बनाना चाहिये। नहीं तो उसमें बोया हुआ बीज और किया हुआ श्रम दोनों निष्फल जाते हैं। इसलिये प्रथम क्षेत्र विशुद्धि करना चाहिये।

विवेचनः—पूर्वोक्त श्लोक में सूचित किये हुए गुणों युक्त जो हृदय न हो अर्थात् जिस व्यक्ति में मनुष्यत्व न हो—मनुष्यता के गुण न हों उस व्यक्ति का हृदय कर्त्तव्य रूपी वृक्ष के बीज के लिये अनुकूल क्षेत्र नहीं गिना जा सकता। साधारण रीति से अपन देखते हैं कि जो भूमि रेत, क्षार युक्त या कंकरवाली होती है उसमें डाला हुआ बीज नष्ट हो जाता है। उस बीज

के गर्भ में बड़ा वृक्ष और सुन्दर फल अदृश्य रहे, होने पर भी वह बीज उस क्षेत्र में नहीं फूट सकता; इसी प्रकार जिस हृदय भूमि में अनेक दोष रूपी रेती, क्षार; घास और कङ्कर हैं उस भूमि में कर्त्तव्य वृक्ष का बीज दग्ध हो जाता है उसके अंकुर नहीं फूट सकते. परन्तु उस अशुद्ध भूमि में ऐसा ही स्वाभाविक गुण है इसलिये उसमें बीज बोने का प्रयत्न ही नहीं करना, ऐसा मानकर निरुद्यमी बने बैठे रहना योग्य नहीं। उस भूमि में जो दोष हैं वे दूर करने में आवें और वारि सिञ्चन द्वारा उसे रस पूर्ण कर दी जाय तो वही भूमि शुद्ध हो सकती है। जो अशुद्ध भूमि से उत्तम फल प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं तो उन्हें उसे शुद्ध करने का प्रयत्न भी करना चाहिये। क्षेत्र को शुद्ध किये विना बीज को जलता हुआ देखकर बहुत से संसार क्षेत्र के स्वामी किसान निराश बनकर बैठे रहते हैं और कहते हैं कि "क्या करूँ भाई? मेरे खेत की भूमि अच्छी नहीं है।" परन्तु उनकी यह बड़ी भारी भूल है कि वे निरुद्यमी होकर भूमि शुद्ध करने का कुछ भी उद्योग न करते हुए और अपने सञ्चित कर्म के रोने रो रो कर बैठे रहते हैं।

न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्योगेन कस्तैलं, तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति॥

अर्थात्—जैसा कर्म में होगा वैसा होगा ऐसा धारकर अपना उद्योग नहीं छोड़ना चाहिये, कारण कि तिल में तेल होते हुए भी वह विना उद्योग के नहीं निकल सकता।

प्रश्नः—हृदयक्षेत्र में कर्त्तव्य वृक्ष के सदिच्छांकुर फूट निकलें इसके लिये जो क्षेत्र अशुद्ध है तो उसे शुद्ध किस रीति से करना चाहिये? वैसा करने के लिये कैसी पद्धति का उद्यम करना चाहिये?

उत्तरः—सर्वदा और सर्वथा चिद्वृत्ति का शुभ विचारों से पोषण करना, यही हृदय विशुद्ध करने का प्रमुख उद्योग है। चिद्वृत्ति किसे कहते हैं? शुभ विचारों के पोषण से उस पर कैसा और किस प्रकार प्रभाव होता है? इच्छांकुरों का प्रादुर्भाव किस रीति से होता है? ये सब क्रमानुसार अब ग्रन्थकार बतलाते हैं।

कर्त्तव्यावस्था ॥२०॥

इच्छायां प्रथमं निमित्तवशतः कर्त्तव्यमुत्पद्यते ।
तत्र प्राप्य बलं प्रवृत्तिपदवीमारोहति प्रायशः ॥
अभ्यासेन चिरं प्रवृद्धबलतः स्थैर्यं समालम्बते ।
निष्ठामेति ततः क्रमेण परमां पूर्णे तदर्हे बले ॥२०॥

कर्त्तव्य की अवस्थाएं ।

भावार्थः—जब मनुष्य को अच्छे योग मिलते हैं तब कर्त्तव्य का मन में ध्यान आता है, और संयोग अनुकूल बनाकर, वह कर्त्तव्य करूं ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है। अर्थात् कर्त्तव्य प्रथम इच्छा के रूप में प्रगट होता है। यह कर्त्तव्य की प्रथमावस्था; इच्छा होने पर उसके अनुसार अपने और दूसरों के विचारों का बल प्राप्त होता है। उस बल से प्रतिकूल विचारों को अलग हटा कर्त्तव्य की ओर प्रवृत्ति होती है, यह कर्त्तव्य की दूसरी अवस्था है। प्रवृत्ति होते २ अभ्यास और अनुभव से मार्ग की कठिनाइयां दूर होती हैं। अनुकूलता प्राप्त होने के साथ २ ही शक्ति में भी वृद्धि होती जाती है। और कर्त्तव्य विषयक प्रवृत्ति में स्थिरता जम जाती है, यह कर्त्तव्य की तीसरी अवस्था है। वह कर्त्तव्य पूर्णतया पालन करने का बल प्राप्त हो जाय,

और चाहे जैसे संयोगों में भी उससे विचलित न हो इतनी दृढ़ता हो जाय, अचल दृढ़ता और शक्ति से कर्त्तव्य विषय की पूरी २ सिद्धि हो जाय, वही कर्त्तव्य की चौथी अवस्था है।

विवेचनः—चित्त की स्थिति दो प्रकार की है, समाहित और व्युत्थित। समाहित स्थिति में वैराग्य के विचार आते हैं और व्युत्थित स्थिति में प्रकृत्ति जनक विचार स्फुरित् होते हैं। जिस समय चित्त इस समाहित या व्युत्थित स्थिति में रहता है उस समय दोनों में से किसी एक प्रकार का कर्त्तव्य चित्त में स्वतः ही उद्भूत होता है। कर्त्तव्य सम्बन्धी यह स्वयम्भू इच्छा है। यही कर्त्तव्य की प्रथमावस्था है। भूमि में वोया हुआ वीज जिस रीति से स्थूल दृष्टि में अदृश्य है। कारण कि वह भूमि में दवा हुआ है और वीज के प्रतीति जनक अङ्कुर भूमि का पेट चीर कर वाहर निकले हुए नहीं हैं। उसी प्रकार प्रथमावस्था में रहा हुआ कर्त्तव्य अन्य किसी की दृष्टि में समझ में नहीं आता, कारण कि वह इच्छा की सीमा में ही है। भूमि में वोया हुआ वीज जल सिंचनसे अङ्कुरों के रूप में फूट निकलता है और जीवन व्यवहार में प्रवृत्त होता है तव वह स्थूल दृष्टि सीमा में आता है। इसी प्रकार कर्त्तव्य का इच्छा रूपी वीज दीर्घ विचार रूपी जल सिञ्चन के फल से प्रवृत्ति रूप में वाहर अङ्कुरित होता है, तभी दूसरे उसे देख सकते हैं। वीज और वृक्ष की भांति यह कर्त्तव्य की दूसरी अवस्था है। इस दूसरी अवस्था में कर्त्तव्य वीज को निज की तथा पर की सहायता से वल प्राप्त होता है वीज स्वतः में जो कुछ गुप्त सामर्थ्य है उसे जल सिञ्चन रूप पर के विचारों की अनुमति से विशेष वल होता है। और इस प्रकार संग्रह किये हुए वल के प्राप्त होते ही वह भूमि के पेट को चीर कर वाहर फूट निकलता है। विचारों का इतना वल

प्राप्त होने पश्चात् भी कर्त्तव्य यथोचित बलवान् स्थितिको प्राप्त होगया ऐसा नहीं दिखता, कारण कि छोटे अङ्कुर वाले रोपों के नाश होने का अनेक प्रकार से भय प्राप्त होता है, आन्तरिक और वाह्यिक उभय प्रकार के भय लगे रहते हैं। अङ्कुर में किसी रोग के उत्पन्न होने से भी उसका नाश हो जाता है अथवा कीड़े, पक्षी या वायु के आघात से भी उनका नाश होजाता है। कर्त्तव्य की सदिच्छा के स्फुरित होने से और दूसरों के विचारों की पूर्ण पुष्टि से वे कर्त्तव्य बीज के भय नाश होजाते हैं. इस अवस्था में कर्त्तव्य सन्मुख होने पर बहुत से कर्त्तव्य विमुख होजाते हैं, परन्तु कर्त्तव्य को पूर्णता से पालने के लिये उसके चिर जीवनार्थ जो इस अवस्था में होकर निर्विघ्न निकल जाते हैं तो अभ्यास अनुभव और कठिनाइयों के सामने टिके रहने की शक्ति से कर्त्तव्य विशेष स्थित होजाता है, यह इसकी तीसरी अवस्था गिनी जाती है. वृक्ष की जड़ दृढ़ होने से वह इतना स्थिर बनता है कि पक्षी या कीड़े उसे हानि नहीं पहुँचा सकते और वायु के चाहे जैसे प्रवल आघात भी उसे जड़ से नहीं डिगा सकते. उसे जल पिलाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती, कारण कि उसकी जड़ें इतनी गहरी और दूर तक चली जाती हैं कि वे बहुत दूर से जड़ों द्वारा भूमि का रस चूस कर अपना जीवन व्यापार चला सकती हैं. इस प्रकार की दृढ़ता हो जाने पर वृक्ष की या कर्त्तव्य की जो अवस्था होती है वह अचलावस्था है उसे चौथी या अंतिमावस्था कहते हैं। अचल अवस्था को प्राप्त हुआ कर्त्तव्य उसके सब प्रकार के गुणों से सम्पन्न होता है और उसी से पूर्णावस्था प्राप्त हुई. ऐसा दृष्टि गोचर होता है। जिनमें इस प्रकार के कर्त्तव्य की बुद्धि का निवास होता है वेही मनुष्यता को सफल कर सकते हैं

[चित्त में उत्पन्न हुई इच्छा रूप जो कर्त्तव्य की प्रथमावस्था है उस अवस्था की प्राप्ति अर्थात् कर्त्तव्य का सूक्ष्म रूप से जन्म यह भी महा दुर्लभ वस्तु है। कारण कि जिस प्रकार बीज हो तब ही वृक्ष की सम्भावना बढ़ती है। इसी प्रकार जो कर्त्तव्य का इस सूक्ष्म स्वरूप से जन्म हुआ हो तभी उसकी दूसरी तीसरी और अंतिम चौथा अचलावस्था का जन्म सम्भव है। अब कर्त्तव्य की इस महा दुर्लभ प्रथमावस्था का जन्म किस रीति से होता है उसकी सूचना विस्तार के साथ देने में आती है]

कर्त्तव्य-नियामि का चिद्वृत्तिः ॥२१॥

शुद्धान्तःकरणोत्थिताध्यवसितिर्या चेतनालक्षिता,
सद्बुध्याह्वयतां गता च सदसन्मार्गस्य निर्देशिका ।
कोन्श्यन्सेतिपदेन चाङ्गल गिरं या वाच्यते शोधिकैः,
सा चिद्वृत्तिपदेन संस्कृत गिरं त्वाश्रित्य संलक्ष्यते ॥

कर्त्तव्य पर अमल करने वाली चिद्वृत्ति

भावार्थ;—कोई भी कार्य के प्रारम्भ करते समय मनुष्य के अन्तः करण में पहिले यह विचार होता है कि यह कार्य करूं या न करूं? करने योग्य है या नहीं? अन्तः करण के जिस भाग से यह प्रश्न उपस्थित होता है उसके पिछले भाग में—अन्तः करण के गम्भीर शुद्ध भाग में अनेक अध्य-वसाय की उर्मियां उत्पन्न होती रहती हैं उनमें से अमुक उर्मि-लहर या आन्दोलन चेतन्य के सानिध्य से चेतनावन्त होकर सद्बुद्धि के नाम से पहचानी जाती है. वह लहर करने योग्य कार्य में अनुमति एवं आज्ञा देती है और न करने योग्य कार्य में आना कानी या निषेध करती है। इस नियम से होती हुई स्फुरणा-लहर को अंग्रेज़ी भाषा में पाश्चात्य शोधक का कोन्श्यन्स (cons cience) इस नाम से पुकारते हैं और संस्कृत भाषा में इसे उर्मि-चिद्वृत्ति—चेतना कहते हैं (इस

प्रकरण में इस वस्तु का प्रायः चिद्वृत्ति शब्द से ही व्यवहार करने में आवेगा)

विवेचनः—पूर्व श्लोक में कहा गया कि चित्त में कर्त्तव्य बीज़ का स्वयम्भू रीति से आरोपण होता है और वह कर्त्तव्य विषय की इच्छा है परन्तु इस इच्छा की प्रथमावस्था में कर्त्तव्य अपनी दूसरी अवस्था धारण करे-वह पहिले एक प्रकार का व्यापार कहा जाता है और यह व्यापार बहुधा प्रत्येक कर्त्तव्य विशेष का प्रत्येक कार्य का नियामक है। अपना जब किसी अच्छे या बुरे कार्य में प्रवृत्त होते हैं तो पहिले वह अच्छा या बुरा कार्य करने की इच्छा अपने चित्त में कभी से उत्पन्न हो चुकी है परन्तु इस इच्छा के उत्पन्न होने के साथ ही आन्तरिक गहन भाग में एक प्रकार का अश्राव्य शब्द उत्पन्न होता है। वह ध्वनि जो चित्त में उत्पन्न हुई इच्छा अच्छे कार्य की हो तो उसे सम्मति देती है और जो बुरे कार्य की हो तो वह कार्य करने में आना कानी करती है यह ध्वनि कौन करता है? चिद्वृत्ति वह स्वतः ही अन्तः करण के पीछे रह कर यथोचित ध्वनि करती है। चित्त का चाहे जैसा उप-द्रव सत्व, रज और तम से जगा हुआ हो तथापि चिद्वृत्ति तो चित्त का श्रेयः सधाय ऐसी ही ध्वनि करती है चिद्वृत्ति यही चिति शक्ति है यही ब्रह्म समाज की आन्तरिक प्रेरणा है, और अंग्रेज़ तत्व वेत्ताओं का Conscience है। परम विशुद्ध आत्मा के साथ चिद्वृत्ति का सम्बन्ध अति समीप का है और चित्त का उतना सम्बन्ध नहीं। यह चिद्वृत्ति कर्त्तव्य अधि-कार रखती है।*

* कितने ही पंडित चिद्वृत्ति की ध्वनि को कर्त्तव्य के स्वामी की भांति नहीं गिनते; उससे उलटा ब्रह्म समाज का यह सिद्धान्त है कि

स्माइल्सने चिद्वृत्ति की ध्वनि को नहीं मानने वालों से देश की दुर्दशा होती है उसका एक दृष्टान्त दिया है। रशिया में 'निहिलिस्ट' नामक उपद्रवी लोगों का एक झुण्ड है; वे लोग ऐसा मानते हैं कि जो लोगों का विना अपराध किये खून करने में आवे तो एक दम लोग जागृति में आजाते हैं और देश का उदय होता है; ऐसा मानकर वे लोग निरपराधी अगुआओं का लोक हितेच्छु नरों का खून करते हैं। मनुष्य को प्रकृति ने उत्तम बुद्धि दी है, परन्तु ये लोग अपने कृत्य पर चिद्वृत्ति की प्रधान सत्ता चलने नहीं देते हैं। इससे उनकी बुद्धि कुमार्ग पर जाती है-इसी कारण से रशिया में निहिलिस्ट लोगों का बड़ा डर रहता है और कई वार बड़ी दुर्व्यवस्था होती है। २१।

[चिद्वृत्ति मन के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध रखती है और वह सत-असत् कर्म में मन को आज्ञा या निषेध किस रीतिसे करती हैं ? अब इसे दर्शाते हैं]

चिद्वृत्तेः कोपप्रसादौ ।२२।

सत्कृत्ये मुदिता करोति नितरां कर्त्तव्य निर्देशनम् ।
दुष्कृत्ये कुपिता न्विारयति तं कृत्याच्च दुःखास्पदात् ॥
स्यात्स्वच्छा यदि चेतना शुभतरा चित्तस्य शांतिस्तथा ।
ज्ञायेते पुर एव तत्र जनितौ कोपप्रसादौ तदा ॥

आन्तरिक प्रेरणा ही ईश्वरी ज्ञान है और वह जो कुछ ध्वनि करता है वह आत्महित कारी होता है। ब्रह्म समाज के विरुद्ध आर्य समाज कहनो है कि अनुभव से परिपक्व हुई बुद्धि आत्म हित के जो कार्य कर सकती है वह conscience अथवा आन्तरिक प्रेरणा नहीं कर सकती। इस ग्रन्थ में चिद्वृत्ति का आधिपत्य सिद्ध कर दिखाया है वह आगे के श्लोकों पर से समझ में आसकेगा।

चिद्वृत्ति आज्ञा या निषेध किस रीति से करती है ?

भावार्थ और विवेचन—करते हैं वह कार्य जो शुद्ध निर्दोष और परिणाम में हितकारी होता है तो निरुक्त चिद्वृत्ति प्रफुल्लित उर्मि रूप से प्रतीत होकर कर्त्तव्य का निर्देश करती है अर्थात् "यह कार्य करने योग्य है इसलिये प्रसन्नता से कर" ऐसी आज्ञा देती है। परन्तु यदि वह कार्य भयङ्कर फल उत्पन्न करनेवाला हो और दुष्ट वृत्ति से प्रेरित दुष्कृत्य हो तो वह चिद्वृत्ति प्रसन्न होने के बदले कोपायमान हो सङ्कुचित बन धिक्कार या तिरस्कार रूप से उस कार्य के करने की मनाई करती है। चिद्वृत्ति की कोप या प्रसाद रूप से स्फुरणा होती है, वह प्रत्येक मनुष्य को कोप या प्रसाद आज्ञा या निषेध प्रतीत होता है। वह उसी को जिसका कि चैतन्य कर्म घटके आवरण के अपगम से कुछ निर्मल और शुद्ध होगया हो और जिनकी चिद्वृत्ति स्थिर होगई हो. चिद्वृत्ति यह आन्तरिक शक्ति का अत्यन्त गहन भाग है इसी से उसका कोप या प्रसाद अन्य कोई नहीं समझ सकता। चित्त में उत्पन्न हुए विकारों की छाया तो वदन (मुख) पर या नेत्रों पर पड़ी हुई दृष्टिगत होती है और उससे दूसरे मनुष्य वदन की रेशाओं से मनुष्य के चित्त के विकारों का ध्यान ला सकते हैं. परन्तु चिद्वृत्ति की आज्ञा निषेध को अन्य कोई भी नहीं समझ सकते। जिस प्रकार जल के समतौल से नीचे रहे हुए पुष्प कुम्हला जाते हैं या प्रफुल्लित होते ऐसा कोई भी नेत्र शक्ति नहीं जान सकी। इसी भांति चिद्वृत्ति सङ्कोचके वश होकर निषेध करती है या प्रफुल्लित होकर आज्ञा देती है, इसे अन्य कोई मनुष्य नहीं समझ सकता।

शङ्काः—जो चित्त के विकार वदन पर की रेशाओं पर से ही ज्ञात हो सकते हैं तो चित्त पर आधिपत्य रखने वाली चिद्-

वृत्ति के निषिद्धादेश भी उस प्रकार की वदन रेशाओं पर से क्यों न समझ में आ सकते हैं ?

समाधानः—चित्त पर चिद्वृत्ति का आधिपत्य होते हुये भी सर्वदा और सर्वथा चिद्वृत्ति की आज्ञा का पालन चित्त नहीं करता। इससे चिद्वृत्ति की निषिद्धादेश की स्पष्ट छाप वदन रेशाओं में नहीं उतरती, परन्तु चित्त के विकारों की ही छाप उतरती है। निम्न श्लोक के विवेचन में यह बात स्पष्टतः समझ में आ जायगी। २२।

स्फुरणा सद्भावेपि कथं दुष्कृत्य प्रवृत्तिः ।२३।

संस्कारैरशुभैः कुबुद्धिजनकैः कर्माणभिः सञ्चितै ।
राक्रान्ता यदि चेतना मलहता व्याप्ता च जाड्येन वा ॥
चिद्वृत्तिस्फुरणा भवन्त्यपि तु ता स्तेषां न धी गोचरा ।
मन्दा स्तेन मदोद्धता प्रतिदिनं कर्तुं कुकृत्यं रताः ॥

प्रत्येक को स्फुरणा होते हुए भी दुष्कृत्य क्यों होता है ?

भावार्थः—पूर्व सञ्चित कर्म के कितने ही ऐसे अशुभ परिणाम या अशुभ संस्कार होते हैं कि जिनसे सद्बुद्धि दब जाती है और दुर्बुद्धि की प्रबलता बढ़ जाती है। ऐसे अशुभ कर्मों से जिनकी चेतना दब गई हो और उनके चारों ओर दुष्ट विचारों की मलीनता जम गई हो और जिनके अन्तःकरण में चारों ओर जड़ता जम गई हो तो ऐसे पुरुषों के अन्तःकरण में चिद्वृत्ति की स्फुरणा होते हुए भी उस स्फुरणा के कोप और प्रसादरूप चिह्न उसके समझ में नहीं आ सक्ता। इसलिये वे विना पतवार के जहाज की भांति मनमानी गति करते और दुष्कृत्य की ओर पग धरते हैं तो भी उन्हें कोई रोकनेवाला

ही नहीं है, जिससे स्वतंत्रता से उद्भूत होकर वे मन्द पुरुष उनकी वाह्य इच्छानुसार चाहेजैसे कृत्य करने को हो जाते हैं।

विवेचनः—चिद्वृत्ति तो सदैव आत्महित के मार्ग ही की प्रेरणा करती है तो भी बहुधा ऐसा देखने में आता है कि सदैव शरीर से आत्महितकारी प्रवृत्ति ही नहीं कराता। और कभी कभी वह इष्ट प्रवृत्ति कराता है और कभी २ तो अनिष्ट प्रवृत्ति भी कराता है। जब चित्त शरीर तथा उसके अवयवों से अनिष्ट प्रवृत्ति कराता है तब वह चिद्वृत्ति की प्रेरणा अथवा ध्वनि के विरुद्ध कार्य करता है ऐसा समझना चाहिये। सब मनुष्यों के चित्त कुछ एक से नहीं होते। कितनेक चित्त तो चिद्वृत्ति की आज्ञा कारण करने वाले होते हैं और ऐसे चित्त शरीर से अनिष्ट प्रवृत्ति भी नहीं कराते। पूर्व के सञ्चित कर्म से जिनको अशुभ कर्म वाला चित्त प्राप्त हुआ है, उनके शरीर से उनका चित्त बिना चिद्वृत्ति की ध्वनि की परवाह किये केवल वाह्य संयोगों के वश होकर अनिष्ट प्रवृत्ति कराता है। बहुधा मनुष्यों का चित्त वाह्य संयोगों पर आधार रखनेवाला होने से विद्वानोंके चित्त को एक दर्पण जैसा कहा है, दर्पण में जिस प्रकार वाहर की वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी भांति चित्त में वाह्य दृश्यों के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। चित्त एक ऐसा धातु का रस है कि उसे जिस आकार में ढालें उसी में ढलकर एक मूर्त्तिरूप बन जाता है। जिस प्रकार बहते हुए जल को एक कटोरी से अन्दर भरे तो वह पानी कटोरी का ही आकार धारण कर लेता है। इसी प्रकार चित्त को जो वाह्य संयोगों के वर्तन में ढालें अथवा डालें तो उन संयोगों के सा-आकार शीघ्र ही उस चित्त का बन जाता है। इस प्रकार के प्रवाही चित्त शरीर से किस भांति प्रवृत्ति कराते हैं यह सब

अथ समझ में आवेगा। कोई भी वाह्य वस्तु के दृश्य अथवा संयोग के प्रभाव चित्त पर होते हैं वे इन्द्रियों द्वारा ही होते हैं. प्रथम इन्द्रियों को ज्ञान प्राप्त होता है. आँख अच्छा बुरा दृश्य देखती है, नाक सुगन्ध या दुर्गंध की पहिचान करता है, त्वचा किसी भी वस्तु के स्पर्श गुण को जानती है, यह दृश्य गन्ध या स्पर्शादि गुण को जाननेवाला प्रत्येक इन्द्रियों में रहा हुआ ज्ञानतन्तु है. दूसरे तन्तु इन्द्रियों को प्राप्त हुआ अनुभव चित्त तक पहुंचते हैं। इन्द्रियों में के ज्ञान तन्तुओं को केवल इन्द्रियों के अनुभव का ही ज्ञान होता है परन्तु उस ज्ञान को चित्त तक पहुंचाने वाले तन्तुओं को गति तन्तु कहते हैं। ये उभय प्रकार के तन्तु शरीर के प्रत्येक भाग में फैले हुए हैं। चित्त को इन्द्रियों के अनुभव का ज्ञान होने के पश्चात् चित्त क्रिया तन्तुओं द्वारा शरीर को अमुक प्रकार की प्रवृत्ति में युक्त होने का आदेश करता है और शरीर को उन आज्ञाओं का पालन करना ही पड़ता है. इस समय चित्त की दी हुई आज्ञा यदि हितकारी होती है तो चिद्वृत्ति अपनी प्रफुल्लता द्वारा उस प्रवृत्ति का अनुमोदन करती है, परन्तु यदि अहित कारक होती है तो वह अपने सङ्कोच द्वारा उस प्रवृत्ति का निषेध करती है। निषेध का सूचना होते हुए भी चित्त के ऊपर जो वाह्य संयोगों का और इन्द्रियों का विशेष दबाव हुआ तो चित्त चिद्वृत्ति के निषेध सूचन की कुछ परवाह न कर अपनी प्रवृत्ति से पीछे नहीं हटता। इन्द्रिय निग्रह और चित्त निषेध रूप योग में तत्पर, ऐसे योगी पुरुष ही ऐसी वस्तु स्थिति में चिद्वृत्ति की आज्ञा के अनुसार देह को कुटिल प्रवृत्ति से हटा सकते हैं। परन्तु अशुभ कर्म के उदय वाले आत्माओं को तो ऐसी शक्ति प्राप्त ही नहीं होती और बाह्य संयोगों का दबाव उन पर विशेष होने से चिद्वृत्ति की

शुभ प्रेरणा होते हुए भी चित्त की और अन्त में शरीर की दुष्कृत्य में विशेष प्रवृति देखने में आती है। भट्ट केशव लाल ने भी ऐसा ही कहा है—

दोड्यो जतो होय दड़ो दड़ाणे रोक्यो न रोकाय कदी पराणे।
तेंने वली ठोकर ठीक मारो, तो केम ते बध पड़े विचारो?
ए रीति थी नीच पथे जनारूं, सदा यहै अंतरमां तमारूं।
तेंने कदी जो अनुकुल थाशो, तो खेलमां आखर खोट खाशो

चित्त पर विजय प्राप्त करना अति दुर्लभ है। चित्त में जो बुद्धि इन्द्रियोंके ज्ञान द्वारा उत्पन्न होती है उसके वशीभूत नहीं होना ही सच्ची प्रवलता है। पीरहो नामक एक पाश्चात्य तत्वदर्शी ऐसी दृढ़ता से मान्य करता है कि "चित्त में उत्पन्न हुई बुद्धि किसी भी प्रकार की इच्छा या वाञ्छा उत्पन्न करने को शक्तिमान् ही नहीं है" पीरहो यह भी मानता था कि इस प्रकार का अभिप्राय धारण करना इतना ही नहीं उसके अनु-सार-व्यवहार भी करना यही सच्ची प्रवलता है, वही आत्म संयम है, और यही इन्द्रियां-निग्रह है। इस मान्यतानुसार वह अपनी इन्द्रियां निग्रह को उत्तेजित रखने के लिये अति दुष्कर व्यवहार रखता और अपने अभिप्राय या सिद्धान्त का परिपा-लन करता था। यदि वह किसी भी प्रकार का भाषण प्रारम्भ करता तो उसे सुनने वाले मनुष्य चले भी गये हों तो भी वह अपना भाषण बन्द नहीं करता और तनिक भी निराश न हो स्वाभाविक रीति से अपना वक्तृत्व सम्पूर्ण होने तक बोलता ही रहता और फिर बन्द कर देता था। वह जिस मार्ग पर चलना प्रारम्भ करता तो वह किसी भी प्रकार के विघ्न से डर कर ठहर नहीं जाता था. खड्डे, खोखले, गाड़ियों की दौड़ा दोड़ और दूसरी अनेक कठिनाइयों के सामने होकर भी वह उस

मार्ग पर चला ही जाता था। वह अपना वर्त्ताव ऐसा इसलिये रखता था कि कोई भी वस्तु से संयोग करना अथवा दूर रहना, वह अपने मतानुसार स्वसिद्धान्त का परस्पर विरोध दिखानेवाला था। इतना ही नहीं परन्तु उसका फल यह मिलता है कि इन्द्रियों में से निश्चय और निर्णय करने की शक्ति भाग जाती है। शीत और उष्ण कोई समय वह ऐसी दृढ़ता से सहन करता था कि अपनी आँख का पलक भी न मारता और न आँख को बन्द ही करता था! इतनी सीमा तक इन्द्रियों का निग्रह करने वाला ही अपने चित्त में उत्पन्न हुई बुद्धि का अनुसरण न कर चिद्वृत्ति के आदेश के अनुसार आत्महित साधने में समर्थ बन सकता है। २३

[शुभ विचार कब प्रबल होते हैं और चिद्वृत्ति उन विचारों को कब उत्तेजना देती है। यह निम्न श्लोक में दर्शाया है]

चिद्वृत्त्यधीनो विचारपरिणामः ॥२४॥

शुद्धाशुद्धनिमित्तसन्निधिवशाच्चित्ते विचारावुभौ ॥
जायेते च शुभाशुभौ प्रतिकलं, जागर्ति युद्धं तयोः ॥
तत्र स्याद्यदि चेतना बलवती, शुद्धस्य सत्यं जयो ।
नो चेन्मोहवतोऽशुभस्य विजयः शुद्धस्तु संलीयते ॥

चिद्वृत्ति और शुभ विचार।

भावार्थः--मनुष्य का मन निमित्त प्रवाही है। शुभ निमित्त का सान्निध्य होता है तो मन में शुभ विचार आते हैं और अशुद्ध निमित्त में अशुभ विचार उत्पन्न होते हैं। शुद्ध और अशुद्ध दोनों निमित्त उपस्थित हो जायँ तो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के विकार मन में उत्पन्न हो आते हैं तब

प्रत्येक क्षण २ में इन दोनों विचारों का परस्पर युद्ध चलता है। इस समय यदि चेतना का बल हो और चिद्वृत्ति की स्फुरणा की ध्वनि विचार के प्रवाह की ओर गिरती हो तो सचमुच में शुभ विचारों ही की जीत होती है और अशुद्ध विचार दब जाते हैं, अर्थात् सुकृत्य में प्रवृत्ति होती है। परन्तु यदि इस समय चेतना शक्ति के बदले मोहनीयादि कर्म प्रकृतियों का विशेष बल हो और उनकी धमाधमी में स्फुरणा की ध्वनि लीन होजाती हो तो अशुभ विचारों की विजय होती है और शुभ विचार नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् दुष्कृत्य में प्रवृत्ति बढ़ती है।

विवेचनः—पूर्व कह दिया गया है कि चित्त में उत्पन्न होने वाली बुद्धि इन्द्रियों के ज्ञान द्वारा उत्पन्न होती है और उसके वश हो कर नहीं रहना ही सच्ची प्रबलता है। चित्त में उत्पन्न हुई यह बुद्धि या विचार प्रणाली, बाह्य शुभ या अशुभ निमित्त या संयोगों पर आधारित है, कारण कि चित्त इन्द्रियों द्वारा उसमें से अपनी तत्सामयिक प्रवृति के प्रकार का निर्णय करता है। इस समय यदि शुभ निमित्त निकट हों तो चित्तमें शुभ विचारों की प्रणाली का जन्म होता है, और यदि अशुभ संयोगों का परिभ्रमण होता हो तो अशुभ बुद्धि वा तर्कों का चित्त में उद्भव होता है। जो उभय प्रकार के संयोग प्राप्त हुए हों तो शुभाशुभ उभय प्रकार के विचारों का प्रादुर्भाव होता है। जिस समय शुभाशुभ अथवा अशुभ प्रकार के विचार प्रवाह में चित्त लीन हो जाता है उस समय चिद्वृत्ति का शुभ विचार सूचक शब्द बाहर निकलता है और चित्त तथा चिद्वृत्ति में युद्ध होता है। जैसा अपने व्यवहार में देखते हैं कि बलवान् को दो भाग मिलते हैं, यह न्याय इस युद्ध में प्रवर्त्त होता है। जो चिद्वृत्ति का शब्द, प्रबल हो तो वह

चित्त के विचारों का पराजय कर चित्त को अशुभोयोग से हटा सकता है। परन्तु उसका शब्द चित्त के प्रबल शब्द में लीन हो जाता है—तहस नहस हो जाना—और चिद्वृत्ति का शुभ शब्द निरर्थक हो जाता है तो चित्त को स्वच्छन्दता से भ्रमण कर शरीर को चाहे जिस रीति से प्रवर्ताता है। इस प्रकार वाह्य संयोगों के आधार से चित्त में विचारों की उत्पत्ति होती है। और जो चित्त चिद्वृत्ति के आज्ञा का पालक होता है तो चित्त में शुभ विचारों की बाहुल्यता होते शरीर भी शुभ कार्यों में ही प्रवर्त हो जाता है। चित्त को शुभ विचारों के परिचय वाला बनाने ही में शरीर को और आत्मा का कल्याण है; यह इससे समझ में आ सकता है। वाह्य संयोगों पर लक्षण लाते चिद्वृत्ति की प्रतिध्वनि के अनुसार वर्त्ताव करने में ही उक्त उभय प्रकार का कल्याण समाया हुआ है। वाह्य संयोगों पर लक्ष नहीं देने के लिये इन्द्रिय निग्रह करने की आवश्यकता होती है और परिहो के अनुसार व्यवहार करना पड़े तो करना चाहिये परन्तु जैसे बने वैसे अशुभ विचारों से तो चित्त को दूर रखने का प्रयत्न करना ही चाहिये। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं कि 'हमको अपना भविष्य विचार रूपी ईंटों से ही बांधना चाहिये और वह भविष्य शुभ बंधता है या अशुभ यह हमें नहीं मालूम हो सकता * परन्तु भावार्थ स्पष्ट ही है कि जो अपने शुभ विचारों में लीन रहेंगे तो अपने कर्म पुद्गल शुभ बंधेंगे और अशुभ विचारों के परिणाम से अशुभ बंधेंगे (२४)

---

* we build our futur thought by thought for good or bad and know it not.

पंचम परिच्छेद

कर्त्तव्य और सङ्कल्पशक्ति।

[चिद्वृत्ति के अतिरिक्त एक ऐसी दूसरी शक्ति मनुष्य को प्राप्त है कि जिसके योग से चिद्वृत्ति की प्रति ध्वनि को उत्तेजना मिलती है। यह शक्ति संकल्प शक्ति है और वह शक्ति किस प्रकार हिताहित करती है और उसका सामर्थ कितना है यह इस परिच्छेद के श्लोक में समझाया है]

कर्त्तव्य-निर्वाहिका संकल्पशक्तिः ॥ २५ ॥

यत्राशुद्धनिमित्तवृन्दविजयः सत्कार्यविध्वंसको।
दुष्कृत्यं दुरितोद्भवं कृतिपथे, जागर्ति तत्र स्वयम् ॥
चेच्चिद्वृत्तिबलान्वितात्समये, संकल्पशक्तिः स्फुरेद्।
दुष्कृत्यस्य तदा भवेद्विलयनं सद्बुद्धिसत्त्वोदयः ॥

कर्त्तव्य का निर्वाह करने वाली सङ्कल्पशक्ति।

भावार्थः—कर्त्तव्य पालन करते और सन्मार्ग पर चलते बुरे निमित्त उपस्थित हों कि जिससे विचार में और कृति में दुष्कृत्यों की उपस्थिति होते मनुष्य का दुष्कृत्य की ओर झुकाव होने लगे और सत्कार्य को समीटने का समय आवे उस समय यदि चैतन्य की निर्मलता के साथ चिद्वृत्ति की स्फुरणा का कुछ भी परिस्फुट हो जाय और उसके साथ संकल्प शक्ति अर्थात् मानसिक बल प्रकट हो जाय तो दुष्ट विचारों के बल से उपस्थित दुष्कृत्य सम्बन्धी विचार शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं; और सद्बुद्धि के साम्राज्य का

अभ्युदय होता है; अर्थात् अशुद्ध निमित्त होते हुए भी कर्त्तव्य का प्रवाह फिर से प्रचलित हो जाता है।

विवेचनः—कई बार ऐसा होता है कि एक शुभ-कार्य में चिद्वृत्ति के अनुमोदन से और चित्त के शुभ विचार से प्रवृत्त होने पर मध्य में कोई ऐसे संयोग आकस्मिक रीति से आ जाते हैं कि जिनसे मनुष्य के कार्य की दशा बदल जाती है; जब ऐसा हो जाय तब समझ लेना चाहिये कि मनुष्य के चित्त में अनिष्ट संयोगों के साथ दुष्ट विकार उपद्रव करने लगे हैं और उन विकारों का पराभव करने को उसकी चिद्-वृत्ति असमर्थ है। चित्त से दुष्ट विकारों का पराभव करने में चिद्वृत्ति असमर्थ होते हुए भी उस समय उसकी सहायता को सङ्कल्प-शक्ति अवश्य ही आती है. यह सङ्कल्प-शक्ति अथवा मानसिक प्रबलता यदि चिद्वृत्ति की सहायता में उपस्थित होती है. तो उसके फल से दुष्ट विकार चित्त में अधिक समय तक स्थान नहीं पा सकते. उन विकारों को वह मारकर भगा देती है और फिर शुभ-कार्य की गति उसकी पूर्व-दिशा सी प्रवाहित हो जाती है। चिद्वृत्ति और सङ्कल्प-शक्ति के योग से सुबुद्धि का सुखदाई परिणाम अनुभव में आया हुआ कई समय दृष्टि गोचर होता है।

शुभ-कार्य से चलित होने पर भी चिद्वृत्ति और सङ्कल्प शक्ति के योग से फिर शुभ कार्य में अचल रीति से स्थिर रहने वाले शुद्ध क्षत्रिय वीर नर महाराणा प्रतापसिंह का दृष्टान्त भारतवर्ष के इतिहास में से प्राप्त हो जाता है। सम्राट् अकबर ने चित्तौड़ जीत लिया तब प्रतापसिंह अपने परिवार सहित पर्वतों में रहकर दिन बिताने लगे। उस समय उनके पास सैनिक भी न थे। केवल थोड़े से भील लोग उनकी सहायता के लिये थे; वे ही उनके भोजन का प्रबन्ध कर देते थे।

राणी पद्मावती गिरिकंदरा में हाथ से रोटियां करती और प्रतापसिंह तथा उनके पुत्र पुत्री खा लेते थे। ऐसा होते हुए भी अबतक प्रतापसिंह ने अकबर को सिर न झुकाया। एक समय अपने पुत्र पुत्री को एक रोटी के टुकड़े के लिये लड़ते देखकर प्रतापसिंह रोने लगे और अपनी इस समय की तथा पूर्व समय की स्थिति की तुलनाकर उनका हृदय दुःख से द्रवी-भूत हो गया। उसी समय वहां पर अकबर का दूत आ पहुंचा, तब आर्द्र चित्तवाले प्रताप ने सन्धि पत्र लिख दिया और अकबर का अधिपत्य स्पष्ट रीति से स्वीकृत कर लिया। शरीर को अनेक कष्ट होते हुए भी अभी तक एकत्रित कर रक्खा हुआ क्षात्रित्व का वह शुद्ध रक्त क्षणभर के आवेश में नष्ट हो गया। प्रतापसिंह इस प्रकार सुमार्गच्युत हुए। निकटवर्ती संयोगों के वश रहे हुए उनके चित्त ने और उस चित्त में उत्पन्न हुए विचारों ने उन्हें उनके सच्चे मार्ग से चलित कर दिया। चिद्वृत्ति का बल उस समय निरर्थक हुआ और और चित्त के विचारों के आधार से ऐसा साहस हो गया। परन्तु तुरन्त ही सङ्कल्प शक्ति चिद्वृत्ति की सहायता के लिये उपस्थित हो गई। प्रथम का अनिष्ट विचार विलीन हो गया और 'कार्यं साधयामि वा देहं पातयामि' ऐसी अपनी प्रतिज्ञा दृढ़ सङ्कल्प का उन्हें भान आया। उसी समय निश्चय किया कि चाहे जैसे दुःख भुगतने पर भी क्षत्रिय धर्म को कलङ्कित तो करना ही नहीं चाहिये। पुनः सुमार्गच्युत 'प्रताप' सुमार्गारूढ़ हुए और अकबर के साथ किया हुआ सन्धि-पत्र रद्द किया।

[कर्त्तव्य की सिद्धि कितने अधिक अंश में सङ्कल्प-शक्ति के आधार पर निर्भर है उसका निम्न श्लोक में निरूपण करते हैं]

सङ्कल्प शक्त्यधीना कर्त्तव्यसिद्धिः ॥२६॥

प्राबल्यंप्रभुता प्रभूतविभवः प्राज्यंच राज्यं यशः।
साम्राज्यञ्च समाजनायकपदं, सेनाधिपत्यं तथा॥
पुण्याधीनमिदं नरस्य निखिलं, साध्यं न शक्त्या स्वतः।
कर्त्तव्यन्तु यथोचितं शुभमनः,सङ्कल्पशक्त्याश्रितम्॥

[कर्त्तव्यको पूर्व-कर्म की अपेक्षा सङ्कल्प-शक्ति की विशेष आवश्यकता।

भावार्थः—अपने पक्ष को प्रबल बनाना हो, बड़प्पन प्राप्त करना हो बहुत द्रव्य मिलाकर वैभवी और धनाढ्य बनना हो, बड़े राज्य के उत्तराधिकारी बनना हो, चारों ओर कीर्त्ति फैलाना हो, सत्ता जमाना हो, समाज के अग्रसर बनना हो, अथवा सेनाधिपति का पद प्राप्त करना हो तो उसमें पूर्व पुण्य की आवश्यकता है। पुण्य बिना उपरोक्त समृद्धियाँ मनुष्य को केवल ऐहिक पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं होती, यह बात निस्सन्देह है। परन्तु कर्तव्य पालन हो तो उसमें कुछ पूर्व पुण्य की उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु केवल शुभ सङ्कल्प और मानसिक बल ही की उसमें आवश्यकता है। इस कर्त्तव्य का मैं अवश्य पालन करूंगा, ऐसे सङ्कल्प नीति बल सहित किया हो तो चाहे जिस स्थिति में और चाहे जिस स्थान पर कर्त्तव्य पालन कर सकते हैं।

विवेचनः—कर्म-वादियों में तथा ईश्वर वादियों में एक प्रकार का समान्य दोष बहुधा देखने में आता है। कर्मवादी संसार के सब व्यवहारों में कर्म को प्रधान गिनते हैं; और ईश्वर वादी ईश्वर को सृष्टि के पिता, जन्मदाता तथा संसार के सब व्यवहारों के कर्त्ता गिनते हैं। इस कारण से कर्म-वादी

कोई कार्य में इस प्रकार मान्यता करते हैं कि "कर्म में जैसा था वैसा हुआ" और ईश्वर वादी ऐसा मानते है कि "ईश्वर ने जैसा किया वैसा हुआ।" यह बात तो सत्य है कि पूर्वभव के पुण्य के पुद्गलों से बँधा हुआ सुकर्म मनुष्य को इस भव में अनेक प्रकार की ऋद्धि, सिद्धि, कीर्ति, महत्ता इत्यादि देता है और केवल पुरुषार्थ पूर्व-भव के पुण्य बिना ये वस्तुएं उपलब्ध भी नहीं होतीं। परन्तु मनुष्यत्व को योग्य कर्त्तव्य पालन करने में 'कर्म के उदयानुसार हुआ' या 'ईश्वर ने जैसा किया वैसा हुआ' ऐसा मानकर कर्त्तव्य में शिथिलता दिखाना एक प्रकार का दोष है। पुरुषार्थ किये बिना तो भाग्य हो वह भी नहीं फलता, कहा है कि :—

पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।
तस्मात् पुरुषकारेण विनादैवं न सिध्यति॥

अर्थात् पूर्व जन्म के किये हुए जो कुछ कर्म हैं वे ही दैव कहलाते हैं, और इसी भाँति पुरुषार्थ किये बिना तो दैव भी फलीभूत नहीं होते। शेक्सपियर ने "जुलीयस सीजर" में एक स्थान पर कहा है कि मनुष्य कई समय उनके भाग्य के स्वामी बन बैठते हैं जो कुछ दोष होता है यह अपने ग्रहों का नहीं, परन्तु अपने स्वतः का ही होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वथा दैव और कर्म पर ही आधार रखकर बैठे रहना और उद्यम या पुरुषार्थ नहीं करना यह एक प्रकार से कर्म पर की श्रद्धा नहीं परन्तु कर्म पर की अश्रद्धा ही है। कारण कि पूर्व जन्म में भी जो कुछ सुकर्म बाँधे होंगे वे भी पुरुषार्थ किये विना बंधे न होंगे। ऐहिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये पूर्व जन्म में बंधे हुए कर्म और उनके साथ इस जन्म के पुरुषार्थ की अवश्य ही आवश्यकता है परन्तु जहाँ कुछ कर्तव्य पालन करना है वहाँ तो केवल शुभ

संकल्प और नीति बल पूर्वक उत्तम प्रकार के पुरुषार्थ करने ही की आवश्यकता रहती है "इस कर्तव्य का मैं चाहे जैसा श्रम कर– चाहे जितना आत्म भोग देकर भी पालन करूँगा! ऐसा दृढ़ संकल्प हो तभी उस कर्तव्य के पालन करने में प्रवृत्ति होती है मुझे कर्मों ने जिस प्रकार बुद्धि सुझाई वैसा कार्य मैं करता हूं ऐसा बचाव करनेवाले एक प्रकार से आत्मविघातक ही गिनने योग्य हैं। भाग्य पर या ईश्वर पर अपने अच्छे बुरे कार्य का भार डालकर स्वतंत्रता से व्यवहार करनेवालों को रोकने के लिये और कर्तव्य निष्ठ रखने के लिये श्रीकृष्ण भी गीता में उपदेश देते हैं कि 'कर्मण्ये वाधि कारस्ते मा फलेषु कदाचन॥ इसलिये पूर्व जन्म में बंधाये हुए भाग्य के भरोसे न रहकर सङ्कल्प बल प्राप्त करना उसी से कर्तव्य सिद्ध हो सकता है।

[सङ्कल्प शक्ति इतनी आवश्यक होने पर भी वह चिद्वृत्ति के आधार पर चले तभी हितकर है, नहीं तो संकल्प शक्ति अहित कर हो जाती है, अब यह कथन करने में आता है [

संकल्पशक्तिर्मर्यादितैव हितकरी ॥२७॥

एषा नैवच सर्वथा सुखकरी संकल्पशक्तिः स्वयं।
किन्त्वात्मोन्नतभावनानियमिता यत्रास्ति तत्रैव सा॥
यत्राज्ञानपिशाचपाशकलितादुर्वासना वासिता।
स्यात्तत्राहितसम्भवः क्षतिततिः सञ्जायतेऽनेकशः॥

सङ्कल्पशक्ति मर्यादा में ही सुखकर है।

भावार्थ–सङ्कल्प शक्ति यद्यपि कार्य साधक है परन्तु उस पर आत्मा की उन्नत भावना और चैतन्य शक्ति का अंकुश होना चाहिये जहाँ ऐसा होता है वहीं वह उत्तम

कार्य सिद्ध हो सकता है। यदि वह चैतन्य शक्ति के अंकुश में न हो और अज्ञान, स्वच्छन्दता और औद्धत्य रूप पिशाच के फांस में फंस गई हो, और दुर्वासना से वासित हो गई हो तो वहाँ सङ्कल्प शक्ति हितकर कार्य साधने के स्थान पर बड़ा अनर्थ कर डालती है और संसार को उलटे मुँह डाल बहुत हेर फेर करने का कार्य कर देती है। इसलिये सङ्कल्प शक्ति पर ज्ञान का अंकुश रहना चाहिये ॥२७॥

विवेचनः—सङ्कल्प शक्ति और मानसिक प्रबलता एक साँचे के समान है। वह साँचा जो चिद्वृत्ति के यन्त्र को लग जाय तो चित्त में उत्पन्न हुई कुबुद्धि या अशुभ विचारों का पराभव कर सके. परन्तु जो वह चिद्वृत्ति को त्याग कर चित्त के अशुभ विचारों ही का लग जाय और उन्हीं की सहायता में रहे तो उसका फल बड़ा अनर्थकारी होता है। अपने व्यवहार में देखते हैं कि मनुष्य की कोई एक विशिष्ट शक्ति का यदि वह सदुपयोग करता है तो उसका फ़ल भी अच्छा ही मिलता है और यदि वह दुरुपयोग करता है तो उसकी वही विशिष्ट शक्ति उसे दुर्गुणी गिनाने के उपरान्त बुरा फ़ल प्राप्त कराती है। यही नियम सङ्कल्प शक्ति के सम्बन्ध में भी लागू हो सकता है। जो सङ्कल्प शक्ति स्वच्छन्दता और उद्धता रूप पिशाच के हाथ में चली गई हो तो वह शान्त और आत्म हितकारिणी चिद्वृत्ति के सहाय में नहीं आती परन्तु चित्त में जो अशुभ संयोगों से अशुभ विचार जन्मे हैं उनकी सहायता में वह आती और चिद्वृत्ति का पराभवकर चित्त के दुष्ट विचारों को विजय प्राप्त कराती है। पश्चात् उसका फ़ल यह मिलता है कि दुष्ट विचार शरीर को भी दुष्ट प्रवृत्ति में लगाते हैं और अनर्थ की परम्परा चलाते हैं। जो सङ्कल्प शक्ति पर ज्ञान का अंकुश हो तो वह

दुष्ट विचारों के सहाय में खड़ी भी नहीं रहती और चिद्वृत्ति के सहायभूत होती है। इससे समझ लेना चाहिये कि स्वच्छन्द विहारिणी, सङ्कल्पशक्ति हितकारिणी नहीं परन्तु ज्ञान के अंकुश में रहने वाली सङ्कल्पशक्ति ही हित-कारिणी है।

यहां अमर्यादित सङ्कल्प शक्ति के परिणाम का एक दृष्टान्त प्रासंगिक है। सम्राट् अलाउद्दीन खिलजी जो कि सामान्य रीति से 'अलाउद्दीन खूनी' के नाम से पहिचाना जाता है, उसका इतिहास उसकी अमर्यादित सङ्कल्पशक्ति के परिणाम रूप विलक्षण देखने में आता है। अलाउद्दीन अपढ़ था परन्तु गादी पर बैठने के पश्चात् वह कुछ पढ़ गया था अन्य देशों पर आक्रमण करके अपनी राज्य सीमा बढ़ाने की और अपने को 'दूसरा सिकन्दर' कहलाने की इच्छा उसने अपने सङ्कल्प बल से पूर्ण की थी। इतना होने पर भी वह महा घातकी, उद्धत और विचित्र स्वभाव का राजा हुआ कारण कि उसकी सङ्कल्पशक्ति अमर्यादित थी। उसने लोगों में सुख बढ़ाने की इच्छा की, परन्तु चिद्वृत्ति के अभिप्राय विना सङ्कल्प के सहारे उसने ऐसी योजनाएं की कि जो लोकों में सुख बढ़ाने के बदले उन्हें आपत्ति जनक हुई। उसने अपने राज्य के अन्तिम वर्षों में प्रत्येक जाति के धान्य के भाव राज्य की ओर ठहराये और उससे न्यूनाधिक देने वाले के लिये दंड ठहराया। किसानों को अमुक स्थान और अमुक ढोरों से अधिक न रखने देना इसका भी ठहराव किया; उसी प्रकार खानगी या सर्वसाधारण में राज्य सम्बन्धी चर्चा न चलाने का ठहराव किया। राज्य के उमरावों के लग्न राज्य की अनुमति विना न होवें. ऐसी आज्ञा निकाली। कर वसूल करने में भी उसने प्रजा को बहुत कष्ट दिया

जिससे प्रजा त्राहि २ चिल्ला उठी। भिन्न २ देश को जीतने वाला एक यशस्वी राजा जो चिद्वृत्ति के सहारे चलती हुई मर्यादित सङ्कल्प शक्ति वाला होता तो वह 'अलाउद्दीन खूनी' न कहलाता वरन् महान् अकबर कहलाता॥२७॥

[चिद्वृत्ति और सम्बन्धशक्ति का प्रभाव चित्त पर किस प्रकार होता है और उसका आत्मा तथा देह के साथ कैसा सम्बन्ध है? यह समझा कर अब चिद्वृत्ति तथा संकल्पशक्ति अशुद्ध हो तो उसको शुद्ध करने के लिये किस प्रकार का प्रयत्न सेवन में आना चाहिये. वह निम्न श्लोक में दर्शाने में आता है। कर्तव्य के परिपालन के लिये हृदय क्षेत्र शुद्ध होने की आवश्यकता है और यह आवश्यकता चिद्वृत्ति और सङ्कल्पशक्ति की शुद्धता से पूर्ण होती है। उसकी शुद्धि करने के पूर्व उसकी शक्ति का विस्तृत विवेचन करने में आया है और जो इस विवेचन को याद में क तो १९ वें श्लोक के साथ इस आगे के श्लोक का अनुसंधान समझ कि जिस श्लोक में हृदय क्षेत्र की शुद्धि का मार्ग दर्शाने आया है]

चिद्वृत्तिसङ्कल्पशक्तिविषये प्रयत्नः ॥२८॥

बाल्यादेव तथाविधोऽनवरतं यत्नो विधेयो जनै-
रभ्यासोऽपि तथैव धर्मचरणं शास्त्रप्रवेशस्तथा॥
चिद्वृत्तिर्विमला यथैव भवति ज्ञातुं पुनः शक्यते।
सत्सङ्कल्पबलं यथा च नियतं शुद्धात्मभावैः सदा॥

चिद्वृत्ति और सङ्कल्प-शक्ति को सुधारने का प्रयत्न।

भावार्थः—प्रत्येक मनुष्य को बाल्यावस्था ही से शिक्षण, व्यवहार, वर्ताव, धर्मानुष्ठान, शास्त्रश्रवण और प्रत्येक चेष्टा में सदैव ऐसा ध्यान रखना चाहिये कि चिद्वृत्ति और सङ्कल्प-शक्ति को बिलकुल कलङ्क न लगे आंतरिक निर्मलता

रहने के साथ वे दोनों सदैव निर्मल रहें और विधिनिषेधि रूप उनकी स्फुरणा अपनी समझ के बाहर न जाय. उसी भांति आत्म भावनाएं भी ऐसी शुद्ध और दृढ़ रहें कि सङ्कल्प शक्ति उसकी सीमा के बाहर टेढ़े मेढ़े जाकर भी अनर्थ न करावे किन्तु सीमा में रहकर उत्तम कर्त्तव्य पालन करने में सहायभूत हो ॥२८॥

विवेचनः—अशुद्ध हृदय क्षेत्र को मनुष्यत्व के गुणों से भूषित करने के लिये उसे शुद्ध करना चाहिये। हृदय क्षेत्र के जो कुछ परमतत्व हैं, उन तत्वों की शुद्धता ही हृदय क्षेत्र की शुद्धता गिनी जाती है। इस कारण से पहिले हृदय क्षेत्र के परमतत्व कहां २ हैं और उनकी शक्ति कैसी है. यह समझाया गया। अब वे परमतत्व जो अशुद्ध हों तो उन्हें शुद्ध करने के लिये किस प्रकार का प्रयत्न करना उचित है, उसका निदर्शन यहां करने में आता है। चिद्वृत्ति और सङ्कल्प शक्ति ये दोनों यदि सद्ज्ञान के अङ्कुश तले हों अर्थात् श्रेष्ठ प्रकार की हों तो फिर चित्त कुछ भी करने को समर्थ नहीं, ऐसा दर्शा दिया गया है और हृदय क्षेत्र के परमतत्व, चिद्वृत्ति और सङ्कल्प शक्ति को ही गिनना उचित है। इन परमतत्वों को शुद्ध करने का प्रयत्न बाल्यावस्था से ही करना चाहिये। एक बालक अपनी चिद्वृत्ति या सङ्कल्प शक्ति के दोष नहीं देख सकता, तो भी उन दोषों को उनके बाल्यावस्था के स्वभावों द्वारा उनके माता पिता देख सकते हैं। इसलिये भविष्य में बालक की ये उभय-शक्तियां श्रेष्ठ प्रकार की बनाने के लिये उनके माता पिता को बालक से उचित प्रकार के प्रयत्न कराना चाहिये। सुशिक्षण, सद्वर्तन, धर्मानुष्ठान, और शास्त्र श्रवणादि से वृत्तियां और विचार निर्मल बनते हैं, ऐसा प्रायः मानने में आता है और ग्रन्थकार भी वृत्तियों की शुद्धता के

लिये यह मार्ग श्रेयस्कर गिनते हैं। सुशिक्षण के लिये यत्न करना हितकर है, उसके लिये कहा है कि 'कुत्र विधेयो यत्नो ? विद्याभ्यासे सदौषधे दाने' अर्थात् यत्न कहां करना ? विद्याभ्यास में, शुभ औषधि में और दान करने में। धर्माचरण से कहां तक उन्नति होती है उसके लिये 'आपस्तंब' धर्म-सूत्र में कहा है कि 'धर्म-चर्य या जघन्यो वर्णः पूर्व पूर्व वर्णमापद्यते ज्ञाति परिवृत्तौ' अर्थात् जाति बदलने में हलका वर्ण भी धर्माचरण कर अपने से उत्तम वर्णता को प्राप्त होता है; उसकी इस वाक्य में सूचना है। धर्म-शास्त्र का सदैव श्रवण करने का आदेश करते 'धर्म-बिन्दुकार' 'प्रत्यहं धर्म श्रवण' ऐसे शब्द का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार ये सब शुभ क्रियाएं शुभ परिणाम देती हैं। 'कथा सुनते फूटे कान तो भी न आया ब्रह्मज्ञान' इस प्रकार केवल उपरोक्त क्रियाएं वाह्याडम्बर-पूर्वक करने में आने से उपरोक्त बचनानुसार लाभ नहीं हो सकता किन्तु वे सब निष्फल जाती हैं और इसलिये ये सब क्रियाएं करते समय जो मुख्य सूचना ग्रन्थकार देते हैं वह यह है कि "चिद्वृत्ति-र्विमला यथैव भवति" इत्यादि अर्थात् चिद्वृत्ति निर्मल हो और सङ्कल्प बल बढ़े. इसी प्रकार आत्म भावनाएं भी शुद्ध बनें, मुख्य ध्यान रखकर शिक्षण प्राप्त करना, शास्त्र श्रवण करना, धर्माचरण करना इत्यादि। बहुधा लोग केवल एक बेगार टालने की भाँति शास्त्र श्रवण कर जाते हैं, धर्माचरण करते हैं, शिक्षा प्राप्त करते हैं, परन्तु उनसे चिद्वृत्ति और सङ्कल्प-शक्ति की निर्मलता का लाभ हो; ऐसे विचारों में उनका चित्त लीन नहीं होता, और इस प्रकार शुभ कृति को केवल एक बेगार की भाँति कर डालने से भी शुभ परिणाम नहीं होता। इस श्लोक में 'यथा' शब्द साफ़ तौर से कहता है कि जिस

प्रकार उपरोक्त लाभ हो उसी प्रकार वे क्रियाएं करने में हृदय क्षेत्र के तत्वों के साथ साथ हृदय क्षेत्र की भी शुद्धता होती है ॥२८॥

[शक्तियों को कर्तव्य में लगाने की रीति अब बतलाते हैं]

स्वल्पशक्तावपि कर्त्तव्यसाधने युक्तिः ॥२९॥

उद्दिश्यैककृतिं कथञ्चि दपि चेत्संयोज्यशक्तीःसमा ।
दीनाद्दीनतरोपि यत्ननिरतः, किंचित्फलं प्राप्नुयात् ॥
लक्षीकृत्य समस्तकार्यनिकरं, शक्तीः, प्रसार्याखिलाः ।
कर्तुं चेत्सहसोद्यतोपि बलवान्नाप्नोति सिद्धिं क्वचित् ॥

शक्तियों को कर्त्तव्य में लगाने की रीति ।

भावार्थ और विवेचनः—एक मनुष्य कम से कम बलवान् हो और निर्धन से निर्धन हो अधिक अशक्त हो परन्तु वह मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार अमुक एक कार्य पर लक्ष लगाकर पूर्ण उत्साह से उस कार्य को सिद्ध करने में सर्व-शक्तियों का उपयोग करें तो अन्त में उस कार्य से कुछ न कुछ फल प्राप्त करने को समर्थ हो ही जाता है । उसके विरुद्ध अधिक से अधिक शक्तिमान् मनुष्य एक साथ बहुत से कार्य अपने लिये उठावे और अपनी शक्तियों को भिन्न २ कार्यों में लगावे तो एक भी कार्य में वह पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । अर्थात् कम २ और धीरे २ भी एक कार्य को सिद्ध कर दूसरे कार्य में लक्ष लगाया जाय तो बहुत से कार्यों में सफलता प्राप्त हो जाती है और एक साथ ही अनेक कार्यों में शक्तियां लगा देने से वे शक्तियां भी खण्डित हो जाती हैं और कार्य भी सिद्ध नहीं होता । अङ्गरेजी में एक कहावत है कि Jack of all trades is the master of none अर्थात् एक साथ

हों बहुत से व्यापार करने लगे तो एक भी व्यापार में कुश-
लता नहीं मिलती। ऐसा होने का कारण यह है कि प्रत्येक
मनुष्य के कार्य की शक्ति मर्यादित है. वह शक्ति जो थोड़े
कार्यों में बटी हुई हो तो वे थोड़े कार्य सफल हो जायँ,
वहां तक पहुँच सकी है और जो बहुत से कार्यों में बटी हुई
हो तो एक भी कार्य सफल नहीं हो सकता। मार्शल कहते
हैं कि "जिस मनुष्य की गति सब दिशाओं में है उस मनुष्य
की गति किसी भी दिशा में नहीं रहती।" कहने का तात्पर्य
यह है कि स्वशक्ति को कर्त्तव्य में इस प्रकार लगाना कि
जिससे वे थोड़े कार्य भी सर्वांश से सिद्ध हो जायँ अनेक
कार्य में शक्ति का वितरण करने से एक कार्य भी सफल
नहीं हो सकता। इससे थोड़े कार्य भी सम्पूर्णता से सफल
करना, यही हितकर मार्ग है (२९)

—०—

षष्ठ परिच्छेद

कर्त्तव्य-परायणता

कर्तव्यमेवोन्नति मूलम् ॥ ३० ॥

नो देशस्य समुन्नतिर्हदतरैर्वैभवैर्मीयते ।
नो द्रव्यैर्नच दिव्यहर्म्यनिकैःरैर्नाश्वैर्गजैः सैनिकैः ॥
स्वान्योद्धारकनीतिरीतिकुशलैः कर्त्तव्यनिष्ठैः सदा ।
शांतिक्षान्तिपरायणैः सुपुरुषैर्देशोन्नतिर्मीयते ॥

कर्त्तव्यकी उन्नतावस्था ही देशोन्नति है।

भावार्थः—किसी देश की उन्नति का माप करना हो तो उस देशके बड़े और सुदृढ़ दुर्गों से, राज्य के बड़े कोष से, वहां के वासियों की बड़ी २ हवेलियों से, हाथी, घोड़ा की अधिक संख्या से, सेना के विस्तार से, देश की उन्नति का माप नहीं होता. परन्तु अपना तथा दूसरों का उद्धार करने वालों से, नीति रीति में कुशल, शान्ति में मग्न, क्षमा के धारक और कर्त्तव्य पालन में लीन, ऐसे सज्जन पुरुषों की विशेष संख्या ही से देश की उन्नति का माप होता है अर्थात् जिस देश में कर्त्तव्य परायण मनुष्यों की अधिक संख्या हो; उसी देशकी अधिक उन्नति समझना चाहिये और जिस देशमें सम्पत्ति इत्यादि अधिक हो परन्तु नीति भ्रष्ट, कर्त्तव्य हीन मनुष्यों की अधिक भरती हो, तो वह देश अवनति का आभूषण है, ऐसा समझना चाहिये। ३०।

विवेचनः—सामान्यरीतिसे एक देश की जनसंख्या अथवा उन्नति सम्बधी जो माप करने में आता है, वह उचित नहीं. ऐसा आशय इस श्लोक में दिखाया है। अपनी स्थूल दृष्टि से स्थूल वस्तुओं में ही सम्पूर्ण संसार समा गया है; ऐसा लोग मानते हैं. परन्तु ऐसा मानने में एक बड़ी गम्भीर भूल होती हुई दृष्टि गत होती है। अमुक देश के राजाके अधिकार में इतने अधिक विस्तार वाले देश हैं, इसलिये वह देश उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ है अथवा उस देश के पास इतनी सेना फौज है, इतना धन है, इतनी व्यापार सम्पत्ति है, उस देश की इतनी जन संख्या है, इसलिये वह देश बड़ा है, यह मानना एक प्रकार की भूल है। सब प्रकार की स्थूल सम्पत्ति वाला एक देश उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ हुआ नहीं गिना जाता;

कारण कि सम्पत्ति के प्रमाण से उन्नति का प्रमाण बांधना यथोचित नहीं। सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले मनुष्यों के गुण जिस देश में विशेष परिमाण से हैं वही देश उन्नत हुआ कहलाता है। तात्पर्य यह कि स्थूल वस्तुओं को जन्म देने वाली सूक्ष्म वस्तुएं मनुष्य में गुण होने से विशेष बलवान् गिनी जाती हैं। जिस देश में अधिक गुणवान् मनुष्य हों अर्थात् जिस देश की प्रजा में अपनी तथा दूसरों की उद्धार करने की भावना प्रबलता से जग रही हो, जिस देश की प्रजा नीति रीति में कुशल होकर सन्तत सदुद्योग में लीन रहती हो, कलहादि को त्यागकर शान्ति में मग्न रहती हो, युद्धादि जैसे अनिष्ट प्रसङ्ग उपस्थित न होने देती हो, वही प्रजा अपने कर्त्तव्य में लीन गिनी जाती है और वही प्रजा उन्नति के शिखर पर पहुँची हुई समझी जाती है। देश की प्रजा कर्त्तव्यनिष्ठ नहो, तो चाहे जिस देश में संख्याबद्ध दृढ़ दुर्ग हों, परन्तु उससे क्या? देश में द्रव्य अधिक हो परन्तु धनवान् कर्त्तव्य निष्ठ नहीं और उनमें अनीति का प्रचार सबसे अधिक हो तो क्या वह देश अधोगति को पहुँचा हुआ नहीं गिना जाता? अवश्य। किसी देशमें हवेलियां अधिक सुन्दर होनेसे वह देश चक्षुओं को अवश्य रमणीक प्रतीत होता है परन्तु इन सुन्दर हवेलियों का उपयोग कर्त्तव्य को न समझने वाले प्रजा जन विलासादि में करते हों तो वे हवेलियां उस देश को उन्नत गिनाने में साधन भूत हो सकती हैं? देश में घोड़े हाथी या सैनिकों का पारावार हो परन्तु परस्पर द्वेष भाव से घिरेहों तो क्या शत्रु के सन्मुख अपने देश का रक्षण करने में स्वकर्त्तव्य के स्थान को त्यागी हुई वह सेना कुछ भी उपयोगी गिनी जाती है? इसके विरुद्ध चाहे उस देश में अधिक दुर्ग न हों, धन न हो, सुन्दर हवेलियें या बड़ी सेना न हो परन्तु केवल

परस्पर उद्धार करने में एकत्रता रखने की वृत्ति होगी तो केवल थोड़े ही सैनिक, दुश्मन के सन्मुख अपने देश की रक्षा कर सकोगे। नीति रीति में चतुर प्रजा होगी तो वह धन और सुन्दर मकान प्राप्त कर सकेगी। और जो कर्तव्य निष्ठ लोगों का बड़ा झुण्ड होगा तो वे अपने आधीन देशों को बढ़ाकर बड़ी सेना तथा संख्या बद्ध दृढ़ दुर्ग सम्पादन भी कर सकेंगे। अङ्गल कविवर गोल्ड स्मिथ ने अपने छोटे गांव का यशोगान करते हुए भी ऐसा ही कहा है कि जिस भूमि में धन अधिक हो और बड़े २ धनवान् तथा राजा निवास करते जाते हों जहां हर निर्धन और सरल स्वभावी का सामान्य प्रजावर्ग किसी गिनतीमें भी न गिनाता हो तो वह भूमि दुर्भाग्यवती ही गिनी जाती है। जिस इङ्गलैण्ड को आज आबाद मानते हैं उसी इङ्गलैण्ड के लिए यह कवि कहता है कि आज तो इङ्गलैण्ड में दुःख आ पड़ा है सच्ची आबादी तो बहुत वर्षों के पहिले थी जब लोग सन्तोष पूर्वक परिश्रम कर थोड़े ही में सन्तोष मान सुखी रहते थे।

निष्कपट भाव और आरोग्यता उनके मित्र थे और धन क्या, इस सम्बन्ध से अज्ञान रहना ही उनका धन था। देश की उन्नति और आबादी का यथोचित माप किस रीति से कर सकते हैं और कर्त्तव्य विषय का विस्तार समस्त देश और जगत तक किस रीति से होता है इसके लिये एक दो दृष्टान्त प्रासंगिक होंगे।

रोम के राज्य की प्राचीन समय की प्रभा समस्त संसार में प्रसिद्ध थी। रोम के राज्य की सत्ता एक समय समस्त यूरोप के भिन्न २ देशों पर थी, परन्तु उसका अस्त हुआ। वह उस राज्य के प्रजा की कर्त्तव्य भ्रष्टता ही का कारण था। रोम के लोगों की भ्रष्ट नीति से और उनके ऐश आराम तथा मौज

मस्ती में डूब जाने से वह पतितावस्था में आगिरा। रोम के अस्त काल में लोग ऐसा मानने लगे थे कि काम करना यह तो गुलामगिरी है। अपने महान् पूर्वजों के सुन्दर व्यवहार और सद्गुणों को इनने त्याग दिया था इस पर वर्ट ने कहा कि "ऐसी जड़ प्रजा का निःसंशय नाश होना ही चाहिये और इनका स्थान श्रमी और भार ग्रहण करने वाली प्रजा को मिलना ही चाहिये।" ग्रीस एक छोटा सा देश है और उसकी वस्ती भी कम है। उसका मुख्य नगर एथेन्स भी छोटा ही है। ऐसा होते हुए भी कला कौशल अक्षर शास्त्र, तत्वज्ञान, और देशाभिमान में उसकी उच्चता होने से वह समस्त संसार में सुप्रसिद्ध नगर गिना जाता था। परन्तु गुण के कारण जो उसमें उच्चता थी वह अवगुणों के आने से विलीन होगई एथेन्स में वस्ती वालों की अपेक्षा गुलामों की संख्या अधिक थी। उनके अगुआ पुरुषों में नीति के बन्धन ढीले थे और स्त्रियां भी अपवित्र थी। इस कारण से उसका सूर्य अस्त हो गया। उसकी साक्षी इतिहास के पृष्ठ स्पष्टता से दे रहे हैं। ३०।

[अब कर्त्तव्य परायणता ही सुजनतारूप है यह समझाने में आता है।

सौजन्यपरिच्छेदः ।३१॥

पाण्डित्येन न मीयते सुजनता वक्तृत्वशक्त्याथवा ।
चातुर्येण धनेन भव्यवपुषा राज्याधिकारेण वा ॥
किन्तूत्कृष्टदयाक्षमासरलता वात्सल्य धैर्यादिभि ।
रात्मोद्धारपरोपकारजनकैः सामीयते सद्गुणैः ॥३१॥

कर्त्तव्य परायणता या सुजनता का माप,

भावार्थ और विवेचन—जिसके उपस्थित होने से मनुष्य

कर्त्तव्य परायण या सज्जन गिना जाता है वह सौजन्य रूप सद्‌गुण होने की प्रतीति, पंडिताई, वक्तृत्वशक्ति, चालाकी चतुराई, वैभव, शरीर सौन्दर्य या राजसत्ता से नहीं हो सकती; कारण कि बहुत से मनुष्य प्रखर पण्डित होते हैं। छटादार चमकदार व्याख्यान देते हैं, हर एक बातमें बहुत चातुर्यता करते हैं, धनाढ्य और बहुत रूप वाले हैं। उसी प्रकार राज्य के बड़े अधिकार होते हैं तो भी वे सुजनता को बिलकुल नहीं जानते अर्थात् लेशमात्र भी सौजन्य वहां प्रतीत नहीं होता। इसलिये इन गुणों से सुजनता का माप नहीं होता। किन्तु अपना उद्धार करने वाले और दूसरों को शान्ति पहुँचाने वाले सद्‌गुण, जैसे कि दुखित और पीड़ित जन पर दया करना अज्ञ पुरुषों के अपकार की तरफ कोप न करते क्षमा रख उनका उपकार करना, हृदय में सरलता रखना, प्रत्येक मनुष्य से वात्सल्य भाव रखना, सङ्कट के समय में भी धैर्य करना, परस्त्री मातृवत् समझना, पर धन पत्थर समान गिनना, इत्यादि मानुषीय सद्‌गुणों से ही सुजनता का माप होता है इसी विषय पर जो सुभाषितकार कहते हैं वह उचित ही है:—

सौजन्यं यदि किंगुणैः सुमहिमा, यद्यस्ति किं मण्डनैः।
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना॥

अर्थात् जो एक मनुष्य सुजन हो और उसमें दूसरे गुण न भी हों तो उससे क्या? जो सत्कीर्ति फल रही हो तो फिर आभूषण पहिने तो क्या और नहीं पहिने तो क्या? सुविद्या हो फिर चाहे धन हो चाहे न हो उससे क्या? और जो अपयश प्राप्त हो गया है तो फिर उसके लिये यदि मृत्यु ही है तो क्या? तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी बाह्यिक गुण दृष्टि गत होते हों तो उनसे कुछ सुजनता का माप नहीं हो सकता, परन्तु आन्तरिक सद्‌गुणों ही से होता है।२१।

विद्यासौजन्ययोस्तुलना ।३२॥

चारित्रस्य न विद्यया प्रबलता, सौजन्यवृद्ध्या यथा ।
सौजन्येन हि नम्रता रसिकता, नो विद्यया दृश्यत ॥
मिथ्यादम्भमदादयः सहचरा, ज्ञानस्य शुष्कस्य हा ।
सौजन्यस्य तु नैव तेन परमं, सौजन्यमेवाश्रयेत् ॥

ज्ञान और सौजन्य में कौन श्रेष्ठ है ?

भावार्थः—चारित्र और सदाचार के साथ जितना सम्बन्ध सौजन्यता का है उतना विद्या या ज्ञान का नहीं अर्थात् बहुत से स्थान पर विद्या तो अधिक अंश में रहती है परन्तु चारित्र का बिलकुल ठिकाना ही नहीं होता। और सौजन्य जहाँ उपस्थित होगा वहां चारित्र अवश्य ही अच्छा होगा। इसलिये सौजन्य का चारित्र के साथ गाढ़ सम्बन्ध है। नम्रता विवेक, सभ्यता, रसिकता, शान्ति, क्षान्ति प्रभृति गुण सौजन्य के सहचारी हैं, परन्तु विद्या के सहचारी नहीं। इसके विरुद्ध मिथ्या दम्भ, अभिमान, कठोरता, प्रपंच कपट इत्यादि दुर्गुण शुष्क विद्या के सहवासी ज्ञात होते हैं। परन्तु सौजन्य के साथ ये दुर्गुण रह भी नहीं सकते इसलिये सौजन्य यही श्रेष्ठ सद्गुण है। मुक्ति के मार्ग में कहलानेवाली विद्या थोड़ी ही होगी तो भी काम चल सकता है, परन्तु सुजनता बिना एक पग भी नहीं उठा सकते। इसीलिये अहोरात्रि सुजनता का आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

विवेचन—पहिले चिद्वृत्ति के विषय में दर्शाया कि मनुष्य के चित्त पर चिद्वृत्ति संकल्प शक्तिका-अङ्कुश रहना चाहिये और जो सङ्कल्प शक्ति प्रबल तथा अशुद्ध हो तो वह चिद्वृत्ति की कुछ भी परवाह न कर चित्त को अशुद्ध मार्ग पर लेजाने

में जीत जाता है। जो सङ्कल्प शक्ति अशुद्ध हुई और उसके साथ विद्या तथा ज्ञान का बल भी मिल गया तो वह विद्या और ज्ञान अधिक हानिकारक प्रभाव उत्पन्न करने में सहायभूत होता है। इसी कारण सुभाषितकार कहते हैं।

साक्षरा विपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम्।

अर्थात्ः—विद्वान् जो विपरीत् मार्ग पर चलने लगते हैं तो वे राक्षस के समान ही काम करते हैं। इसीके अनुसार ज्ञान अथवा विद्या, जो सुमार्ग पर व्यय होती है तभी हितकारी हो सकती है और जो कुमार्ग पर व्यय होती है तो अत्यन्त भयङ्कर हो जाती है। कहा है कि—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परि पीडनाय।
खलस्य साधो र्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

अर्थात्—खल पुरुष विद्या को विवाद के लिये, धनको मद करने के वास्ते, और शक्ति को दूसरों को दुख पहुँचाने में उपयोगी गिनते हैं परन्तु साधु आत्मा इनको अनुक्रम से ज्ञान दान और रक्षण के लिये उपयोगी गिनते हैं। मोन्तेन कहते हैं कि अपन चाहे जितने विद्वान् क्यों न हो तो भी दो प्रकार की शक्तियां अपने को अपनी अपनी प्रकृति और प्रवृति के अनुसार नचाया करती हैं। उनमें से एक तो अच्छे भाव उत्पन्न करती है और दूसरी बुरे भाव, इस प्रकार विद्या और ज्ञान दो धारी तलवार के अनुसार कार्य करती हैं, परन्तु सौजन्य के ऐसी दो धारें नहीं होती, कारण कि वह तो एक बाजू और ही कार्य करता है और शुभ दिशा हा प्राप्त करता है। जितना उत्तम प्रमाणपत्र (सर्टिफिकेट) निःसंशय पूर्वक सौजन्य के लिये दिया जाता है उतना उत्तम प्रमाणपत्र सर्वदा विद्वता अथवा धनवत्ता के लिये नहीं दिया जा सकता, मनुष्य के व्यव-

हार पर सौजन्य, विनय, सत्यवादित्व आदि, सद्गुण जितनी उत्तम छाप विठा सकते हैं उतनी उत्तम छाप विद्या नहीं लगा सकती और इसके लिये कहा भी है कि—

गाढं गुणवती विद्या न क्षुदे विनयं विना।
मूर्खतापि क्षुदे भूयान् महत्सु विनयान्विता॥

अर्थात् अत्यन्त गुणवाली विद्या होते भी जो विनय न हो तो वह शोभा नहीं देती परन्तु बड़े पुरुषों में विनयवाला मूर्खता ही अत्यन्त शोभा देती, है ऐसा कहने में विद्या और ज्ञान की निन्दा की जाती है; ऐसा नहीं समझना चाहिये परन्तु कहने का तात्पर्य यह है कि विद्या के साथ सुजनता मिश्रित होनी चाहिये और जो कदाचित् विद्या न हो तो भी सुजनता तो अवश्य मनुष्य में होनी ही चाहिये; कारण कि मनुष्य को सच्चे चरित्र में यही प्रवर्ताती है। यहां एक दृष्टांत दिया जाता है। किसी समय एक बड़े नगर में से गांवड़े जाने के मार्ग जाने पर थूअर की बाढ़ के किनारे एक निर्धन और कुष्ट रोग से पीड़ित मनुष्य पड़ा २ बू में मरता था। उसके शरीर में पड़े हुए धब्बे और अवयवों की दूसरी स्थिति परसे ऐसा अनुमान होता था मानो उसे कोई महारोग हुआ है। उसके पास होकर जाते हुए तीन मित्र उसके दुःख की बू में सुनकर उसके पास गए और पूछा "भाई तुझे क्या होता है?" उस दुखी और दरिद्री मनुष्य ने कहा "भाई! मुझे विस्फोटक और रक्त पित्त का रोग हुआ है। मेरे गांवड़े से मैं पासके नगर में जाता था परन्तु थक जाने से अब मुझमें चलने की शक्ति नहीं रही और सारा शरीर जलरहा है, दुःख और पीड़ा से मैं इतना पागल बन गया हूं कि क्या करूं, यह मुझे नहीं सूझता। तुम मुझे सहायता देओ तो भगवान् तुम्हारा भला करेंगे!" उन तीन मित्रों में एक विद्वान् ब्राह्मण था वह बोला "देख

भाई ! मनुष्य को दुःख और सुख सदैव प्राप्त होते रहते हैं ; इसलिये दुःख में घबराना नहीं चाहिये । प्रभु जो कुछ दुःख दें उसे स्वीकार कर लेना चाहिये और ऐसा मानना चाहिये कि आज दुःख है तो कल सुख मिलेगा । और तुझे जो रोग हुआ तो यह तेरी कुछ आहार विहार सम्बन्धी भूल का परिणाम होगा कारण कि मनुष्य मात्र को जो रोग होते हैं वे ऐसी भूलों ही से और विशेषकर आहारादि की विषमता या अनियमता के फल ही से होते हैं, इसलिये भविष्य में इस विषय में सावधान रहना तो अच्छा हो जावेगा ! ”

आश्वासन और चतुराई के ये मुख्य शब्द उस रोगी को तनिक भी शान्ति नहीं पहुंचा सके वह बोला “भाई साहब ! ऐसा ज्ञान अभी मुझे नहीं चाहिये मुझे तो मेरी पीड़ा शान्ति हो ऐसी कुछ सहायता करो !” यह सुनकर उनके साथ में एक व्यापारी था वह बोला । “ले भाई ! ये सोना मुहर मैं तुझे देता हूँ । इनमें से अनुकूल व्यय कर तू किसी अच्छे वैद्य की औषधि लेना फिर तेरा रोग मिट जायगा, परन्तु भाई अब भी तू वू में मारना क्यों नहीं बन्द करता ?

रोगी बोला सेठजी ! मैं क्या करूं ? अभी तो आप की सोना मुहर भी मुझे कुछ भी सुख नहीं दे सकती” तीसरा मित्र जो कि एक चतुर रबारी था वह बोला: “भाइयो ? इस जङ्गल में पड़े रहने से इसको अधिक पीड़ा होगी इसलिये मैं इसे अपने कम्बल की झोली में सुलाता हूँ । उसको अपन थोड़ी २ दूर उठा कर नगर में ले चलें तो इसे सुख होगा” बनिये तथा ब्राह्मण ने ऐसा करने से इनकार किया और कहा कि इसे तो यह चेपी रोग है अगर यह हमें भी लग जाय तो ? रबारी लाचार होगया तो भी उसे दया और सुजनता ने

एक युक्ति सिखाई। अपने सिर पर पहिने हुए साफे के उसने टुकड़े किये और उन्हें पानी में भिगोये। रोगीको जिन २ अङ्गों से पीड़ा होती थी और पानी झर रहा था वे सब अङ्ग; चेप की कुछ भी परवाह न कर उसने पानीसे अपने हाथ से साफ किये और उन सब अङ्ग पर पानी के भिंगे हुए पट्टे बांधे। बू-में मारने से रोगी का गला सूखता था उसे थोड़ा पानी पिलाया। फिर उसे शान्ति हुई। लोहू गिरता बन्द हुआ। वह स्वस्थ होकर खड़ा हुआ। रबारी ने उसे अपनी लट्ठ टेकने के लिये दी और इस प्रकार तत्काल उस रोगी को सुख उपजा कर नगर में लेगया। ब्राह्मण की विद्या और धनिक के धन से रबारी की सुजनता ने उस दुःखी के दुःख को दूर कियः ॥ ३२ ॥

—०—

सप्तमपरिच्छेदः

कर्त्तव्योत्तेजकबल-उत्साह

[कर्त्तव्य परायणता अथवा सुजनता की अधिक आवश्यकता दिखा देने के पश्चात् कर्त्तव्य के बल की मीमांसा करने पर ग्रन्थकार उद्यत है]

[उत्साह की प्रशंसा में कर्त्तव्यपथगामी मनुष्यों को सम्बोधन कर ग्रन्थकार कहते हैं कि:— [

कर्त्तव्यसाधकबलम् ।३३।

उत्साहः किल कापि शक्तिरनघा विघ्नौघ विध्वंसिनी।
नैराश्याङ्कुरनाशिनी सफलतासांनिध्यसम्पादिनी ॥
सद्यः सिद्धिविधायिनी निरुपमानन्दौघसंस्यन्दिनी ।
श्रीसत्कीर्तिविवर्द्धिनी महति वा कार्ये फलाधायिनी ॥

उत्साहस्योग्र विघ्ना अकिंचित्कराः ।३४।

उत्साहो यदि मानसे प्रथमतो मध्येऽवसाने तथा ।
कुर्वेऽवश्यमिदं भवेद् दृढतरश्चैवं विधो निश्चयः ॥
आयान्तु प्रचुरास्तदा कृतिपथे विघ्नास्तथापि स्वयं ।
दीनास्ते बलहीनतामुपगता क्षीना भवन्ति क्षणात् ॥

कियत्पर्यन्तं विघ्नानां बलम् ॥३५॥

विघ्नास्सन्ति हि तावदेव बलिनः कर्त्तव्यसंरोधका ।
यावद् दुर्वलता मनःशिथिलता कर्तुं रुचेर्मन्दता ॥
चेदुत्साह विनिश्चयोभयबलं जागर्ति हृन्मन्दिरे ।
किं कर्तुं प्रभवन्ति दुर्वलतरा विघ्ना वराका इमे ॥

कर्त्तव्य का सच्चा बल उत्साह में ही है।

भावार्थः—वस्तुतः, कार्य करते समय उत्पन्न हुए मन के उत्साह में कोई भी अतुल अलौकिक शक्ति रहती है कि जो शक्ति कर्त्तव्य के मार्ग में आते हुए विघ्नोंके भारी समूह को क्षण भर में विलीन कर डालती है, निराशा के अङ्कुरों का समूल नाश करदेती है, कार्य सफलता की आशा के किरण डाल कर आश्वासन देती है और कर्त्तव्य साधन के परिश्रम को दूरकर मन की शांति उत्पन्न करती है; कठिन कार्य भी शीघ्र ही सिद्ध कर देती है और उससे अनुपम आनन्द प्रवाह प्रचलित होता है। इतना ही नहीं परन्तु श्रेय साधक अन्य शक्तियों को विकसित करने के साथ २ दूसरे बड़े और कठिन सत्कार्य करनेका मानसिक बल दे; उसी की ओर प्रयाण करने की भी प्रेरणा करती है।३३।

उत्साह के सामने विघ्नों की दुर्बलता, कार्य के प्रारम्भ में, मध्य में और अन्त तक जो मन का उत्साह वैसा ही बना रहता है और इसमें साथ "यह कार्य मैं अवश्य ही करूंगा" ऐसा दृढ़ मानसिक निश्चय होता है तो फिर कार्य को अटकानेवाली कीलियां चाहे जितनी आवे तथा विघ्न भी चाहे जितने जबर-दस्त आवें परन्तु उत्साह और दृढ़ निश्चय के सामने वे विघ्न बलहीन होकर दीन के समान एक क्षण में विलीन होजाते हैं एवम् उपस्थित कीलियां भी दूर होजाती हैं और कर्त्तव्य सुख-पूर्ण सिद्ध किया जा सकता है।३४।

विघ्न कहां तक रह सकते ?

जब तक कर्त्तव्य पालन करने की इच्छा प्रबल नहीं हुई तबतक मन में भी कितने ही सङ्कल्प विकल्प हुआ करते हैं। "यह कार्य कैसे पूर्ण होगा, अरेरे! इसमें मैं क्यों फँस गया निर्वाह करने के साधन मुझे कहां प्राप्त हैं? इस प्रकार मनुष्य डगमग होता हो दुर्बलता दिखाता हो, तब तक ही चारों ओर से विघ्न आना प्रारम्भ होते हैं और प्रबलता से कर्त्तव्य पालन करने में अटकाते हैं परन्तु जब उस मनुष्य के हृदय मन्दिर में उत्साह और दृढ़ निश्चय इन दोनों का बल प्रदीप्त होता है और शिथिलता, दुर्बलता, मन्दरुचि इत्यादि दूर भाग जाती हैं तब बिचारे विघ्न एक क्षण भर भी नहीं ठहर सकते तो फिर कार्य को अटकाने की बात ही कहां रही? अर्थात् मनुष्य दुर्बल बन जाता है तो विघ्न अपना प्रभाव जमाने लगते हैं परन्तु जब मनुष्य सबल होता है तब विघ्न कुछ भी नहीं कर सकते॥३५॥

विवेचन—उपर्युक्त तीनों श्लोक में उत्साह के अनुपम सामर्थ्य का कथन करने में आया है। सङ्कल्प शक्ति के तरङ्गरूपी सङ्कल्प को चित्त भूमिका से उत्पन्न हुआ विकल्प जो हरा देता है तो मनुष्य चाहे जितना सुशील, कर्त्तव्य का ज्ञाता, तथा

निर्मल चिद्वृत्ति वाला हो तो भी वह कर्त्तव्य में स्थिर नहीं रह सकता। सङ्कल्प जब विकल्प को जीत लेता है तभी वह शुद्ध चिद्वृत्ति के साथ रह कर कर्त्तव्य पालन करने में उद्यत रह सकता है। परन्तु इस प्रकार के विकल्पों को हरा कर चिद्वृत्ति तथा सङ्कल्पशक्ति का विजय कराने के लिये मनुष्य में कितने ही आन्तरिक गुणों की आवश्यकता है। एक गुण तो सङ्कल्पशक्ति के तरङ्ग और सङ्कल्पों में बलत्व का होना चाहिये कि जिससे वे चित्त के विकल्पों को अपने पर तनिक भी प्रभुत्व न जमाने दें और दूसरा गुण सङ्कल्पों तथा दृढ़ निश्चयों को आगे बढ़ाने के लिये, 'उत्साह' के होने की आवश्यकता है। बालमीकि ऋषि ने उत्साह का गुणगान करते 'रामायण' में लक्ष्मण के मुख से रामचन्द्र जी को कहलाया है कि—'उत्साहवन्तो नरा न लोके सीदन्ति कर्मस्वति दुष्करेषु'। अर्थात् इस लोग में उत्साही मनुष्य अति दुष्कर कर्मों में भी निराश नहीं होते। उत्साह का बल इतना अधिक है कि उससे सङ्कल्प शक्ति का विकाश होता है और मनोबल की वृद्धि होती है। अलबत्त उत्साह भी सङ्कल्पशक्ति की भांति दो धारी तलवार जैसा है, वह सुकृत्य में लगता है तो मनुष्य को कर्त्तव्य शील रख कर उन्नत बनाता है और दुष्कृत्य में लगता है तो अधःपतित करता है। इससे जो चिद्वृत्ति की ओर रह कर; उत्साह अपना कार्य करे तो उसके समान दूसरा एक भी बल नहीं। लक्ष्मण ने रामचन्द्र जी से कहा था कि—

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किञ्चिदपि दुर्लभम्॥

अर्थात्—हे आर्य! उत्साह यही बलवान् है और उत्साह से दूसरा बड़ा बल एक भी नहीं है कारण कि उत्साही

मनुष्यों को कुछ भी दुर्लभ नहीं है। ऐहिक कर्त्तव्य पालन करने में उत्साह इतनो विशेष बल देता है कि इससे विरुद्ध दीनता-मन की निर्बलता से-निराशा प्राप्त होने से कर्त्तव्य पथ में विचरता हुआ मनुष्य भी च्युत बन जाता है। इस तरह जब कर्त्तव्य पथ में विचरते मध्य में कुछ भी आकस्मिक विघ्न आपड़ें तब तो अल्प सङ्कल्प शक्ति वाले मनुष्य निराश होजाते हैं और कहते हैं कि "मैं इस उपाधि में कहां से पड़ गया ? मैंने कार्य ही प्रारम्भ नहीं किया होता तो अच्छा था।" जब मन ऐसा निर्बल होता है तब फिर उस निर्बल मन को अनेक छोटे बड़े विघ्न नये सिरे से उपस्थित होकर घेर लेते हैं, परन्तु उत्साही मनुष्य ऐसे कई विघ्न उपस्थित होने पर भी अपने मन को सम्बोधित कर वशिष्ठ मुनि की भांति कहते हैं कि—

> शीघ्र मुत्तिष्ठ भद्रंते नियतं कार्य माचर।
> न कालमति वर्तन्ते महान्तः स्वेषु कर्मसु ॥

अर्थात्—शीघ्र उठ। तेरा कल्याण हो। निश्चित किये हुए कार्य में प्रवृत हो। महाजन अपने कर्त्तव्य कर्मों का समय व्यतीत नहीं होने देते। इस प्रकार जब उत्साह जागृत होता है तब विघ्न की निर्बल जालें तड़ातड़ टूट जाती हैं और कर्त्तव्य में स्थिरता प्राप्त होने से आदि मध्य और अंत्य इन तीनों स्थिति में से सम्पूर्णता से पसार हो जाते हैं। कर्त्तव्य की लम्बी धारा कुछ केवल विघ्न विना पसार नहीं होती परन्तु ये विघ्न जब उपस्थित होते हैं तब उनके साथ इस प्रकार का वर्ताव रहना चाहिये कि जिससे वे विघ्न कार्य में क्षति न पहुंचाते अपने से दूर होजायँ और अपना कार्य विशेष स्थिर होजाय। मनुष्यों पर विघ्नों का भी एक उपकार है जब वे अपना दृश्य

दिखाते हैं तभी मनुष्य को अपने कर्त्तव्य कार्य में सुस्थिरता प्राप्त करने के लिये प्रमाद, त्याग, उत्साह धारण करने की आवश्यकता होती है। मार्कस पेन्टोनिनस ने विघ्नों के सन्मुख इस प्रकार का व्यवहार रखने के लिये कहा है कि जिस भाँति अपने को जला देने वाली वायु का धीरे २ भक्षण करके अग्नि पीछे से उसी वायु द्वारा अपने मुख में पड़े हुए काष्ठों का भक्षण करने में साधनभूत होती है उसी प्रकार महात्मा पुरुष भी अपने से विरुद्ध उत्पन्न हुए पदार्थों को ही अपना साधन बना लेते हैं। विघ्नों का बल इस प्रकार धीरे २ हरण कर लेने से वे विघ्न दुर्बल बन जाते हैं और पीछे से वेही विघ्न रूपान्तर अपने सहायक का काम करते हैं। विद्या प्राप्त करने में उत्साही क्रीएन्थीस नामक ग्रीक विद्वान् का दृष्टान्त यहां पर प्रसंगानुकूल है। वह विद्या प्राप्ति के लिये इतना उत्साही था कि श्रम न मिलते भूखे रहने का मौका अवसर आता परन्तु वह पाठशाला जाने में नहीं चूकता था। विद्या में उसका रस इतना बढ़ने लगा कि श्रम कर पेट के लिये पैसे कमाना भी उसे अभ्यास में विघ्न रूप प्रतीत होने लगा। इससे उसने दिन को श्रम करना भी त्याग दिया। और एक माली से प्रातः सायं बाग पिलाने का तथा एक बाई से दलना दलने का काम लिया। उसने दिन को परिश्रम बन्द कर दिया और रात को दलना दलने के लिये बाहर जाना प्रारम्भ किया जिससे उसके पड़ोसियों को सन्देह हुआ कि यह कदाचित् चोरी कर अपना पेट भरता होगा। न्यायाधीश के कान तक यह बात गई। उन्हों ने क्रीएन्थीस को बुलाया और वह किस प्रकार परिश्रम कर अभ्यास करता था सब बातें सुनीं। न्यायाधीश का हृदय ये बातें सुन कर भर आया और वे क्रीएन्थीस को पारितोषिक इनाम देने लगे परन्तु उसने नहीं लिया। यही

क्लिएन्थीस एक उत्तम ग्रीक फिलासफर हुआ। उत्साह क्या नहीं कर सक्ता? (३३-३४-३५)

[उत्साह की प्रशंसा में कर्त्तव्य पथगामी मनुष्यों को सम्बोधित कर ग्रन्थकार कहते हैं कि]—

उत्साह एव कल्पवृक्षाद्याः ॥३६॥

मुग्धाः कल्पतरुं वृथान्य भुवने पश्यन्ति सौख्याशया।
लब्धुं कामघटं तथा सुरगवीं भ्राम्यन्त्यहो किं वृथा॥
ते पश्यन्तु निरुक्तशक्तियुगले हृन्मन्दिरे निश्चले।
सर्वं कामघटादिकं फलयुतं दृश्येत साक्षादिह॥

उत्साह ही कल्प वृक्ष है।

भावार्थ और विवेचन—अहो! भद्र पुरुषो! वांछित मनोरथ की सिद्धि के लिये कल्पवृक्ष प्रभृति देखने को जहां तहां वृथा क्यों भटकते हो! उसी प्रकार कामकुम्भ अथवा कामधेनु-गाय प्राप्त करने को जहां तहां क्यों परि भ्रमण करते हो? तुम निश्चिन्तता से अपने हृदय मन्दिर ही में उपरोक्त उत्साह शक्ति और निश्चय शक्ति क्यों नहीं ढूंढते हो? कामधेनु कामकुम्भ और कल्पवृक्ष इत्यादि से जिस फल की प्राप्ति होनी चाहिये उस फल की सिद्धि और इष्ट समृद्धि उपरोक्त उत्साह और निश्चय शक्ति में साक्षात् प्रतीतिमान होगी। यहां रूप कोष के अनुसार उत्साह का व्यवहार करने में आया है। जिस प्रकार कल्पवृक्ष इच्छित फल देता है, काम धेनु जब इच्छा हो तब सुमधुर दूध देती है, और कामकुम्भ इच्छित कामनाएं पूर्ण करता है उसी प्रकार उत्साह भी जिस समय जैसी इच्छा हो उस समय उस इच्छा को पूर्ण करता है। कारण कि उत्साह से परिवर्द्धित मनोबल कोई भी कार्य सिद्ध कर सकता है इस

प्रकार का उत्साह और मनोबल दोनों अपने ही आत्मा में हैं और जब इच्छा हो तब उनसे उपयोग लेकर इष्ट फल की प्राप्ति कर सकते इतना सामर्थ्य भी है। और जब ऐसा है तब तो कल्पवृक्ष, कामधेनु या काम कुम्भ को प्राप्त करने के लिये जगत में परिभ्रमण करना यह क्या 'मुग्धता'—'मूर्खता नहीं है।

शङ्का—कितने ही समय विघ्न मनुष्य पर एक प्रकार का उपकार करते हैं। मनुष्य कोई दुष्कृत्य में उत्साह पूर्वक प्रवृत्त होता है तो उपस्थित विघ्नों से वह निराश होकर उस कृत्य से पीछे हट जाता है तो इससे विघ्न उसके हितकारी ही हुए!

समाधान—उपस्थित हुए विघ्नों के पराजय करने का और उत्साह धारण करने का उपदेश कर्त्तव्य विषय पर ही समझना चाहिये: अहितकर्ता विषयों में विघ्न उपस्थित हो और इन विघ्नों से अकर्त्तव्य में प्रवृत्त होनेवाले का पराजय हो, यही इष्ट है। विघ्नों की परवाह न करना यह कथन किस प्रकार के कार्यों के लिये है यह निम्न श्लोक में विस्तार से समझाने में आता है (३६)

कार्यं साधनीयं चेत् किं लोकोक्तिनिरीक्षणेन (३७)

सत्कार्यस्य विनिश्चये हृदि कृते, सत्यां स्वशक्तौ पुनः।
लोकाः किं कथयन्ति चेति विषये, नैवं निरीक्षोचिता॥
प्रायोऽन्योन्य विरुद्धता मुपगता, जल्पा जनानां ततो।
निष्ठां कापि लभेत नो स सुकृतौ, लोकोक्तिमीक्षतयः॥

लोकापवाद से क्या कार्य को त्याग देना चाहिये?

भावार्थ—कार्य साधन की जो अपने में शक्ति हो और उसके अनुसार सत्कार्य करने की इच्छा प्रबल होती हो तो

उसके लिये पहिले मन में निश्चय विचार कर, देश, काल, बले और कार्य के कठिनता की समानता कर एक निश्चय बाँधना चाहिये। बराबर निश्चय होने के बाद ही कार्य का प्रारम्भ होना चाहिये। प्रारम्भ करने के पश्चात् इस विषय में लोग क्या कहते हैं, ठीक या अनुचित ऐसे विचार लाकर मनको निर्बल करने की आवश्यकता नहीं। एक ही बात किसी को अच्छी लगती है तो किसी को बुरी, इसलिये एकही विषय में लोगों के अनेक मत भेद रहते हैं। कोई गुणगान करेगा तो कोई निन्दा करेगा लोकोक्ति पर विश्वास रख और लोकापवाद से डर कर जो कार्य से पीछे हट जाते हैं उनसे कोई छिन भी कोई कार्य सिद्ध हो सकेगा? नहीं। अभ्युदय के लिये उत्तम कार्य करना हो तो विचार पूर्वक निश्चय बल से सत्कार्य को करते ही जाना चाहिये, परन्तु लोकापवाद से डरकर पीछे न हटना चाहिये (१७)

विवेचनः—प्रत्येक अच्छे या बुरे कार्य में प्रवृत्त होते समय जो लोकापवाद होता है वह मनुष्य के लिये सबसे बड़ा विघ्न है। इस विघ्न के साथ किस प्रकार का वर्ताव रखना चाहिये यह सब से पहिले जान लेना आवश्यक है। सामान्य रीति से इस प्रकार के उपदेश का लोगों में प्रचार है कि जो कार्य लोकापवाद के योग्य हो उसे नहीं करना चाहिये अथवा दुनियां दुरङ्गी है इससे उसकी कुछ परवाह न कर अपनी इच्छानुसार कार्य में तत्पर रहना चाहिये।

परन्तु यह उभय प्रकार का उपदेश सब स्थान और सब समय अनुकरण करने योग्य नहीं होता। मनमें उत्पन्न हुए कुछ अनिष्ट तरङ्गानुसार का करने में मनुष्य तत्पर हो उस समय जो वह संसार दुरङ्गा समझ कर उसके अपवाद की परवाह न करे तो वह अपना अहित करता है, ऐसा समझना चाहिये। और कोई शुभ कार्य में प्रवृत्ति होते, द्वेषी उस काय की

निन्दा करे जिस से वह लोकापवाद से डरकर उस कार्य को छोड़दें तो उसने भी अपने हितकारी कार्य से पीछे पैर हटाये ऐसा समझना उचित है, तो अब लोकापवाद की परवाह कब करना और कब नहीं करना चाहिये ? इस श्लोक में सामान्य रीति से ऐसा उपदेश है कि लोकोक्ति पर विश्वास रख का से पीछे न हटना चाहिये परन्तु इसमें सूक्ष्म भेद है। किस कार्य से पीछे न हटना चाहिये ? "सत्कार्यस्य विनिश्चये हृदि कृते" ये शब्द ही इस श्लोकि में मुख्य हैं। अपनी शक्ति के अनुसार "सत्का करने का हृदय में निश्चय हो जाय तो फिर उस विषय में लोकोपवाद की परवाह नहीं करनी चाहिये। ऐसा कथन इसमें भरा हुआ है। सत्कार्य का "विनिश्चय" अर्थात् विशेष प्रकार से किया हुआ निश्चय। इस शब्द में भी कार्य सम्बन्धी पूछ ताछ किस रीति से करना चाहिये इसकी सूचना है। प्रथम उस कार्य के लिये अपनी शक्ति का विचार करना, फिर देश, काल और संयोगों का अवलोकन करना, लोकापवाद का भय उपस्थित न हो इसलिये किसी चतुर सज्जन से उस कार्य की सम्मति लेना, और अन्त में अन्तरात्मा निर्मल चिद्वृत्ति का अभिप्राय लेकर उस कार्य के करने या न करने का निश्चय करना चाहिये। इस प्रकार का निश्चय 'विशिष्टो निश्चयः' अर्थात् विनिश्चय कहलाता है, और ऐसा विनिश्चय होजानेपर कार्य का प्रारम्भ करना चाहिये। कार्य का प्रारम्भ किये पश्चात् उस विषयमें कोई अपवाद उठावे तो उसकी परवाह नहीं करनी चाहिये। यही लोकापवाद से नहीं डरनेका सच्चा मार्ग है। कोई दुष्ट कार्य में प्रवृत होते लोकापवाद उठे तो उस लोकापवाद की परवाह नहीं करने का सच्चा और वास्तविक मार्ग नहीं है। किसी भीरु पुरुषने एक ऐसा वाक्य रच निकाला है कि 'यद्यपि

शुद्धं लोक विरुद्धं नाचरणीयं ना करणीयम्' अर्थात् चाहे कितनाही अच्छा कार्य क्यों न हो, तो भी लोकापवाद के सामने हो कर उस कार्य को नहीं करना चाहिये। इस वचन को हित वचन कहना ही अनुचित है। कारण कि शुभ कार्य साधन के लिये लोक प्रियता प्राप्त करना यह अहित के मार्ग पर लेजानेवाला कार्य है। इस सब कथन का सारांश यह है कि सत्कार्य सम्बन्ध में विनिश्चय न किया हो और ऐसे कार्यों में लोकापवादादि विघ्न उठें तो वे विघ्न एक प्रकार से सुकृत्य के सच्चे मार्ग पर लेजाने वाले होकर ही हितकारी हैं। परन्तु सत्कार्य सम्बन्ध में विनिश्चय हो जाने पर प्रारम्भ किये हुए कार्य में ऐसे विघ्न उठें तो उन विघ्नों को हराकर या उनको सहकर उन्हें अपने कार्य के साधन बना प्रारम्भिक कार्य में सर्वदा तत्पर रहना चाहिये। ऐसी वस्तु स्थितिमें दुरङ्ग संसार के यद्वा तद्वा कथन को कुछ भी न गिनना चाहिये। अपने कर्त्तव्य में प्रवृत्त होते, बारबार लोकापवाद के भयसे भड़क उठनेवाले भीरु पुरुष तो कुछ भी नहीं कर सकते। (३७.)

अष्टम परिच्छेद।

कर्त्तव्यनाशकबल—आलस्य।

[जिस प्रकार मनुष्य को निज कर्तव्य में सन्तत प्रवृत्त रखनेवाला उत्साह है; इसी प्रकार कर्तव्य से च्युत करनेवाला 'आलस्य' नामक; उत्साह का विरोधी महाशत्रु है॥ उसका विवेचन अब प्रारम्भ होता है]

कर्त्तव्यनाशक बलम् ॥ ३८-३६ ॥

आलस्येन हि यावती क्षतितति: सञ्जायते दैहिकी ।
रोगेणापि न तावती किल भवेन्नासत्यमेतद्यत: ॥
आलस्यं मरणावधि क्षतिकरं नो भेषजाल्लीयेत ।
रोगस्त्वल्प दिनै रुपै त्युपशमं सद्योपि वा भेषजात् ॥
आलस्यस्य महोदये सति परं धर्मार्थकामक्षति-
र्दारिद्र्यं क्षुधया सह प्रविशति ख्याति: क्षयं गच्छति ॥
विज्ञानं विनिवर्तते निजकला संलीयते च द्रुतम् ।
कर्तव्यस्य तु का कथाऽति करुणापात्रं भवेज्जीवनम् ॥

आलस्य ही कर्तव्य नाशक बल है ।

भावार्थ:—आलस्य से उत्पन्न होनेवाली अनेक प्रकार की हानियों को एक ओर रखकर केवल शारीरिक हानि का ही विचार करते हैं । जन्म भर में एक मनुष्य को आलस्य से शारीरिक जितनी हानि पहुँचती है उतनी भिन्न २ जाति के रोगों के उत्पन्न होने से नहीं पहुँचती । इस मन्तव्य में तनिक भी असत्य प्रतीत नहीं होता, कारण कि आलस्य रूपी विष शरीर में प्रवेश करके जो हानि पहुँचाता है, वह केवल पांच दस दिन के लिये ही नहीं परन्तु मृत्यु पर्यन्तसाथ रह कर हानि पहुँचाता रहता है । उसका नाश किसी भी औषधि से नहीं हो सकता । शरीर में उत्पन्न हुए रोग तो प्राय: थोड़े ही दिन तक रहते हैं और समय पर औषधि करने से तुरन्त निवृत भी हो जाते हैं । इसलिये आलस्य रोगादि से भी अधिक हानिकारक है । जिस घर में आलस्य प्रवेश करता है, वहाँ धर्म अर्थ और काम की हानि होना प्रारम्भ होजाता है । इससे थोड़े

ही समय में द्रव्य का तो नाश हो जाता है और दारिद्र्य देव भूख को साथ लेकर स्वयं पधार जाते हैं, और उस घर या कुटुम्ब की ख्याति-प्रतिष्ठा का अन्त कर देते हैं। इनके ही प्रताप से प्राप्त हुई विद्या भी विस्मृत होकर नाश सी हो जाती है, उद्योग तथा कलाकौशल भी रुष्ट होकर उस घर से भाग जाते हैं, इनके साथ ही चहुँ ओर से दीनता प्रवेश करने लगती है, शक्ति क्षीण हो जाती है और उसकी जीवन वृत्ति निराभिमान होकर चौपट हो जाती है और वह व्यक्ति दूसरों की आशा पर ही अवलम्बित रहकर दीनहीन सा बन जाता है। हाय! ऐसी दशा में वहाँ कर्तव्यपालन करने की आशा और उत्साह यदि ईश्वर ही रक्खें तो रह सकती है, वरन् कदापि रहना सम्भव नहीं ? (१८)

विवेचनः—आलस्य-प्रमाद-सुस्ती यह एक बड़ा भारी दुर्गुण है, यदि इस दुर्गुण के दुःखमय परिणामों का ब्यौरा पढ़ने लगें, तो इसका पार भी नहीं पा सकते, भर्तृहरि ने इस दुर्गुण को महा शत्रुवत् समझकर कहा है कि :—

आलस्यंहि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।
नास्त्युद्यम समो बन्धुः कृत्वायं नावसीदति ॥

अर्थात्—मनुष्यों के शरीर में आलस्य ही एक परम शत्रु है और उद्योग के समान कोई भ्राता नहीं है इसलिये उद्योग करनेवाला पुरुष कभी दुःखी नहीं हो सकता। इस प्रकार आलस्य को शरीर के महारिपु का पद जो देने में आया है सो किस रीति से सार्थक है; यह इस श्लोक में विस्तारपूर्वक समझाया गया है। जिस प्रकार शत्रु अपने शरीर को हानि पहुँचाता है और इसके साथ ही आत्मा का भी अहित करने में कुछ न्यूनता नहीं रखता, उसी प्रकार

आलस्य रूपी महाशत्रु भी इन दोनों का अहित करता है। वह मनुष्य को किसी भी प्रकार का उद्यम कराना नहीं चाहता इससे वह मनुष्य आलस्य में ही दिन बिताने लगता है और स्वाभाविक व्यायाम के अभाव से अनेक शारीरिक रोगों में ग्रस्त होकर उनको भोगता रहता है। आलस्य के प्राबल्य से सुस्त पड़े रहने के कारण ही मन्दाग्नि, मेदवृद्धि, सन्धि सङ्कुचन अजीर्ण, शिथिलता, शारीरिक-स्थूलता इत्यादि २ अनेक रोग उत्पन्न हो जाते; ऐसा वैद्यक शास्त्र का भी मत है उपर्युक्त रोग यदि किसी शारीरिक क्रिया से उत्पन्न हुए हों तो उन्हें औषधि सेवन से तत्काल ही मिटा सकते हैं; परन्तु यदि आलस्य के कारण ये रोग उत्पन्न हुए हों तो वे शरीर के अङ्गोपाङ्ग के साथ वज्र लेप होकर ही रहते हैं और औषधि सेवन से भी उनका दूर होना असम्भव सा हो जाता है। इससे मृत्यु पर्य्यंत उनकी वेदना सहनी पड़ती है। शारीरिक रोग के विषैले परिमाणुओं का अभाव औषधि के परमाणु कर सकते हैं परन्तु आलस्य के परमाणुओं का विष तो इतना प्रबल होता है कि उनका समूल अभाव औषधियों से नहीं हो सकता। शरीर को अत्यन्त हानि पहुंचाने के साथ २ ही इस प्रकार यह परम शत्रु आत्मा को भी इस प्रकार हानि पहुंचाया है। उत्तराध्ययन सूत्र में एक स्थान पर आत्मा का रहना अहित करनेवाले प्रमाद का कथन केवल एक ही श्लोक में किया है परन्तु उस एक ही श्लोक में उसका आत्म-शत्रुत्व स्पष्ट रीति से समझाया है। उसमें बतलाया है कि:—

> इमं च मे अत्थि इमं च नत्थी इमं च मे किच्च इमं अकिच्च।
> तं एवमेवं लालप्पमाणं हराहरंति त्ति कहं पमाओ॥

अर्थात्—हमारे पास यह वस्तु है, हमारे पास वह वस्तु नहीं, हमें यह कृत्य करना है, हमें यह काम नहीं करना है।

वह इस प्रकार की बातें करता ही रहता है कि इतने में काल आकर उसे ले भागता है और वह अपने विचार आधिक्य का कुछ भी फल न पाकर अंत में खाली हाथ ही जाता है। हाय! यह क्या है? यही आलस्य में समाया हुआ आत्म-शत्रुत्व है। आलस्य में—

"बीती जतो समय तें न फरी पमाय"
"मीचाय आंख पछी कांई न हाय २"

जब मनुष्य को ऐसा स्मरण होता है तभी वह अपने प्रमाद को—अपने महाशत्रु को पहिचान सकता है। परन्तु उस समय तक यह शत्रु अपने देहरूपी साम्राज्य की इतनी अधिक भूमि अपने आधीन में कर लेता है कि जिससे मनुष्य को निराधार होकर अपने इस परम शत्रु के पंजे में लाचार होकर फँसा रहना ही पड़ता है, छूट नहीं सकता और वह फँसा हुआ ही जीवन मृत सा होकर अपनी अमूल्य आयुष्य के समय को केवल वृथा और भाररूप समझकर जैसे तैसे पूर्ण करता है। परन्तु स्मरण रहे आलस्य की वंश बेल इतने में ही समाप्त नहीं होती; आलस्य के कारण मनुष्य के मन में ऐसे बुरे विचार भी उत्पन्न होते रहते हैं कि जिससे उसकी मनोवृत्ति क्रमशः मलीन बनती जाती है। इस विषय में मोन्तेन अपना अनुभव इस प्रकार प्रकाश करते हैं कि निठल्ले बैठे रहने से नये २ बुरे भले और तुच्छ विचार उत्पन्न होते हैं इतना ही नहीं परन्तु अश्वारूढ़ मनुष्य के पास से भगे हुए घोड़े से भी अधिक प्रचंड चर्चा करने में भी वह स्वतन्त्र होकर उद्यत हो जाता है। निकम्मे बैठे रहने के समय मेरे मन में इतने बुरे भले विचार एक अनोखे ही ढङ्ग से इतने गढ़े जाते हैं कि उनमें से प्रायः व्यर्थ और निर्मूल से होते हैं।

सारांश यह है कि ऐसे असङ्गत एवं विलक्षण विचार मन में उत्पन्न होने लगते हैं कि मैं उनकी निरर्थकता तथा असंभवता पर विचार करके बड़ा आश्चर्य मग्न होता था। किसी समय मेरे मनको उन्हीं स्वच्छंद विचारों द्वारा लज्जित करने के अर्थ मैं उन विचारों को पत्र पर लिख लेता था इतनेमें ही आलस्य की सीमा पूरी नहीं हो जाती, उससे निरुद्यमता द्वारा द्रव्य की हानि भी होती है। और द्रव्य की हानि होने से दीनता, भूख इत्यादिका घरमें साम्राज्य चलता है। विद्या और कला ये सब दीनता के राज्यमें नहीं रह सकती वरन् भाग जाती हैं और नाम शेष रही हुई एक मात्र 'ख्याति' भी सब कुटुम्ब को धोखा देकर चली जाती है। बहुधा यह ख्याति सर्वदा के लिये ली जाती है और इस प्रकार केवल एक आलस्य का महारिपुत्व ही भविष्य की प्रजा तक चलता रहता है। यह महारिपु जिसके शरीर में राज्य करता हो उस देह में कर्त्तव्य सम्बन्धी पूछ ताछ का अवसर भी कहाँ से प्राप्त हो? सचमुच, आलस्य की अनर्थ परम्परा जीवनको अति करुणा जनक अवस्थामें ला रखती है (३८-३९)

[अब व्यक्ति विशेष को आलस्य के कैसे परिणाम अधिक मिलते हैं इसका निदर्शन करने में आता है]

आश्रयभेदेन परिणामवैचित्र्यम् ॥४०॥

यद्येतन्नृपतेस्तनौ निविशते राज्येऽन्धकारस्तदा।
सैन्ये चेत्समरे विनाशनमरेर्हस्ते तु राष्ट्रं भवेत् ॥
चारित्रात्स्खलनं च चेन्मुनितनौ कौटुम्बिकाधोगति-
श्चेदेतत्कुलनायके जनपदे चेद्देशनाशस्तदा ॥

भिन्न २ आश्रय में आलस्य का विचित्र फल,

भावार्थ—जो यदि यह आलस्य राजा के शरीर में प्रवेश करता है तो उस राज्य में चारों ओर अन्धकार फैल जाता है और राज्य अस्त व्यस्त हो जाता है। यदि यह रण संग्राम में चढ़े हुए लश्कर में प्रवेश करता है तो वह देश विनाश के मुख तक पहुँच जाता है। यदि यह आलस्य साधु मुनियों के शरीर में प्रवेश करता है तो वे चारित्र से स्खलित हो जाते हैं, यदि यह कुटुम्ब के अधिपति के शरीर में प्रवेश करता है तो उस कुटुम्ब का विनाश हो जाता है, और यदि देश के बड़े भाग में प्रवेश करता है तो उस देश का अधःपतन होता है यह अनुभव सिद्ध बात है।४०।

विवेचन—जिस रंग के कांच में दृष्टि डाल कर इस संसार को देखते हैं उसी रंग का सारा संसार बन गया है, ऐसा प्रतीत होता है। इसमें भी जो गुण हैं वे गुण कांच के रंग के हैं. इसी प्रकार किसी मनुष्य के शरीर में आलस्य अपना घर करे तो उस व्यक्ति की शक्त्यानुसार उस आलस्य का फल भी न्यूनाधिक शक्ति वाला हो जाता है, जगत् में सब से श्रेष्ठ राजा गिना जाता है। उसका दुष्ट और भयङ्कर कार्य करने का अधिकार सब से अधिक है और जो वह दृढ़ निश्चय करले तो सारे जगत का कल्याण करने की सामर्थ्य रखता है। उसके विशेष अधिकार का श्रेष्ठ काम में व्यय होना चाहिये। उसी अधिकार का सामर्थ्य यदि आलस्य को सहाय्यभूत होजाय तो अधिकार के सामर्थ्य के परिणाम में अहित भी बहुत बड़े अंश में होजाय। यदि विष एक जल के प्याले में डालें तो उससे प्याले का सब पानी विषमय बन जाता है। वही विष यदि पानी के कुए में डाला जाय तो सारा कुआ विषमय बन

जाता है और उस पानी के पीनेवाले सब का अहित होता है। आलस्य एक प्रकार का विष है और यह विष एक साधारण व्यक्ति रूप प्याले में मिलने से तो उस एक ही व्यक्ति का अहित होता है परन्तु जब राजारूपी कुए में मिलता है तो उससे उस कुए के आश्रित राज्य का नाश होजाता है। राजा का आलस्य इतना बड़ा भयङ्कर अहित करनेवाला होने से-राजा जुलियने कहा है कि "तत्त्वदर्शी मनुष्य तथा राजा जैसे वीर पुरुषों को तो एक श्वास तक लेने के लिये भी खाली बैठना न चाहिये" अर्थात् शुभ कार्य में इतने अधिक तन मन से प्रवृत्त रहना चाहिये, कि शरीर को आलस्य करने की इच्छा आने का अवकाश भी न मिले। आलस्य के फल से एक राजा की भाँति दूसरे व्यक्ति भी अहित का प्रचार करते हैं। जिस सततोद्यमी वीर सेना का धर्म शत्रु के साथ लड़कर देश की रक्षा करने का है यदि उसमें आलस्य का विष मिल जाय, तो उस देश की रक्षा होने के बदले देश रिपुओं के हाथ में चला जाय, और उसका अहित हो। मोक्ष के सुखार्थी जिन साधु मुनिराजों ने संसार का त्याग कर दिया है, वे भी अपना लक्ष्य साधन में आलस्य करें तो उनका त्याग निरर्थक होजाता है, और वे स्वधर्म च्युत होजाते हैं। कुटुम्ब का अधिकारी जो आलसी हो तो उसके आलस्य से उत्पन्न हुए दुष्परिणाम सब कुटुम्ब को भुगतने पड़ते हैं। यदि देश की प्रजा में आलस्य फैले तो वह देश अधः पतित, धन सम्पत्तिहीन और दुर्बल बन जाता है। ये सब आलस्य के परिणाम भिन्न २ पात्रों के न्यूनाधिक अधिकार के भेद से उत्पन्न होते हैं (४०)

[आलस्य की भयङ्करता दिखाने के लिये उसकी, विष के साथ समानता करने में आती है]

विषादपि प्रमादस्य भयङ्करता ।४१।

रे आलस्य तवोग्रनाशक कृतिं, दृष्ट्वा विषं लज्जितम् ।
न्यक्कारासहनाद्विहाय वसुधां, रुद्रस्य कण्ठे स्थितम् ॥
मन्ये तेपि तिरस्कृताः क्वचिदहो, गुप्तप्रदेशांश्रिता ।
दृश्यन्ते भुविनैव तेन यदहो, प्रेताः पिशाचादयः ॥

विष से भी आलस्य की बढ़ कर भयङ्करता

भावार्थः—हे आलस्य! समय और सद्गुण के विनाश करने की तेरी भयङ्कर पद्धति तो सचमुच में अलौकिक हो है। तेरी भयङ्करता के सन्मुख विष की भयङ्करता किस गिनती में है? अरे! विष तो तेरा नाश करनेवाला उग्र स्वरूप ही देख कर लज्जित होगया। इतना ही नहीं भयङ्करता के पश्चात् में तेरा विजय और उसका तिरस्कार हुआ। यह उससे सहन नहीं हुआ, जिससे मैं मानता हूं कि वह विष इस पृथिवी को त्याग कर शङ्कर के कण्ठ में छिप रहा है। उसी प्रकार भूत, प्रेत पिशाच इत्यादि जिनकी बातें लोगों से सुनते हैं वे भी अभी कहीं दृष्टि गत नहीं होते, उसका कारण भी मेरी कल्पना के अनुसार यह होना चाहिये कि वे भी अपने से तेरी अधिक भयङ्कराकृति देखकर लज्जित हो, तिरस्कार पा यहां से चले गए हैं। और किसी गुप्त प्रदेश में भग गए हैं (४१)

विवेचन:—आलस्य की भयङ्करता का का इस अन्योक्ति से व्यतिरेक मिश्रित उत्प्रेक्षोपमा द्वारा सूचना करने में आया है एक ऐसी कथा प्रचलित है कि जब समुद्र का मथन किया गया था उसमें से चौदह रत्न निकले थे, उनमें के तेरह रत्न तो भिन्न २ देवताओं ने लेलिये, परन्तु चौदहवां रत्न जब विष

निकला वह शङ्कर ने पी लिया, और वह उनके कण्ठ में रहने से उनका नाम 'नीलकंठ' पड़ा, इससे आलस्य को कहने में आता है कि तेरा विष इस समुद्र से निकले हुए विष से भी अधिक उग्र होना चाहिये, कारण कि तेरे उग्र स्वरूप के साथ अपने तुच्छ तीव्र स्वरूप का मिलान करने से विष लज्जित हो शङ्कर के कण्ठ में छुप कर बैठा है। और तू सर्व श्रेष्ठ विष की भाँति संसार में स्वतंत्रता से विचरता है। इसी प्रकार दुष्ट और भयङ्कर कार्य करने वाले भूत, प्रेत, पिशाचादि, मलीनसत्व भी इस जगत में दृष्टि गत नहीं होते। और किसी गुप्त प्रदेश में छिप गए ऐसा प्रतीत होता है। वे भी विष की भांति आलस्य से अपनी कम प्रबलता होने से लज्जित हो गये हैं ऐसा समझना चाहिये। ऐसी एक उत्प्रेक्षा मिलाने में आई है। यह उत्प्रेक्षा कल्पनायुक्त होने पर भी इसमें कितना यथातथ्य भरा हुआ है। वह सब पूर्वोक्त श्लोक में आलस्य में महाभयङ्कर परिणामों का निदर्शन करने में आया है उससे समझ में आ सकेगा। जिस दुर्गुण के शरीर में बसने से शारीरिक, आर्थिक और, आध्यात्मिक, सम्पत्ति का उच्छेद होजाता है उस दुर्गुण को विष और पिशाच से भी अधिक भयङ्कर कृत्य करनेवाला समझना ही चाहिये। विष और पिशाच की भयङ्करता केवल स्थूल देह पर ही प्रभाव करती है, परन्तु आर्थिक, और आध्यात्मिक, सम्पत्ति को किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचाने में समर्थ नहीं होती, तो फिर उससे अधिक भयङ्कर परिणाम उत्पन्न करने वाला आलस्य विष और पिशाच से बढ़ कर समझा जाय यह उचित ही है। आलस्य चित्त के स्वभाव से जन्म हुआ विष है। इससे चित्त के वशीभूत न हो कर, सन्तत उद्यम में लीन रहना, इन्द्रिय का निग्रह करना, और नियमित बनने का स्वभाव डालना इनके द्वारा ही आलस्य को चित्त और

शरीर से जर्जर कर सकते हैं सत्व रज, और तम, मनुष्य प्रकृति में ये तीनों प्रकार के गुण विद्यमान् हैं। इनमें से सत्व गुण न्यून हो, तो तमो गुण का आधिपत्य होने से आलस्य का राज्य देह पर जमने लगता है।४०।

[आलस्य का प्रकरण यहां समाप्त होता है, अब कर्त्तव्य के घातक कौन २ से दूसरे दुर्गुण मनुष्य की प्रकृति में हैं, और वे दुर्गुण किस प्रकार कर्त्तव्य की हानि करते हैं. यह दर्शाने के लिये अब ग्रन्थकार प्रवृत्त होते हैं]

नवम परिच्छेद

कर्त्तव्यघातक दोष-क्रोध ।४२।

क्रोधादप्रियताजनेषु परिता, व्याहन्यते गौरवं।
शान्तिर्नश्यति सत्वरं स्वसुहृदा, वैरं परंजायते ॥
चिद्वृत्तिस्खलनं मनोबलहतिः, सङ्कल्प-शक्ति-क्षतिः।
स्थैर्यस्यापि विनाशनं सहृदय क्लेशः कृतिर्निष्फला ॥

क्रोध।

भावार्थः—क्रोधी मनुष्य क्रोधित प्रकृति से आस पास के मनुष्यों में अप्रिय हो जाता है, जिससे वह मनुष्य चाहे जितना बड़ा हो तो भी सगे सम्बन्धियों के मन उससे अप्रसन्न रहने से उसका गौरव नहीं होता, शान्तिका भङ्ग होता है और अशान्ति फैलाती है। अपना और दूसरे का मन व्यग्र हो जाता है, चेतना परवश हो जाती है, और चित्तवृत्ति स्खलित होजाती है, मनोबल की हानि और सङ्कल्पशक्ति की क्षीणता हो जाती है किंबहुना चारों ओर के क्लेश से मन

व्याकुल और जीवन आपत्तिमय दिखाई देता है, जिससे कर्त्तव्य पालन करने के विचार उत्पन्न हुए हों तो भी शीघ्र ही दब आते हैं, और अकर्त्तव्य की ओर झुकाव होजाता है।

विवेचनः—क्रोध मनुष्य की प्रकृति में मलीन तमोगुण की अधिकता से प्राप्त होता है। अपनी इच्छा के प्रतिकूल अन्य किसी में कथन या व्यवहार से सामान्यतः चित्त में एक प्रकार की अग्नि उत्पन्न होती है। और उसका ताप चित्त प्रदेश में विस्तार पाता और स्वल्प समय में सर्व शरीर में फैल जाता है। जब यह अग्नि पूर्ण वेग में होती है तब चिद्वृत्ति दब जाती है, और सङ्कल्प शक्ति, उत्साह इत्यादि गुण चित्त में उत्पन्न हुई क्रोध की ज्वाला में पवन फूंकने का कार्य प्रारम्भ करते हैं। क्रोध की ज्वाला जिस स्थान पर उत्पन्न होती है वह उसी स्थल को दग्ध करती है अर्थात् वह ज्वाला क्रोध करने वाले के हृदय को ही जलाती है। विशेष में वह ज्वाला अपने वेग के परिणामों से आस पास के परिचय वाले सगे मित्र इत्यादि को भी जलाती है तथा सन्तप्त करती है। अन्त में क्रोधी मनुष्य से वे सब अप्रसन्न रहते हैं, उसके नाम, कीर्ति, तेज आदि का नाश होता है और वह सर्वत्र अप्रिय हो जाता है। क्रोध की ज्वाला क्रोधी की आन्तरिक हानि करने के उपरान्त बाह्यतः भी इसी प्रकार की गम्भीर हानि उत्पन्न करती है। इससे सुभाषितकार कहते हैं के 'नास्ति क्रोध समो वह्निः' अर्थात् क्रोध के समान दूसरी एक भी अग्नि नहीं। अग्नि अनेक प्रकार की है जैसे जठराग्नि, दावाग्नि, वाड़वाग्नि इत्यादि ये अग्नियां अनेक प्रकार की वस्तुओं को दग्ध करती हैं। परन्तु क्रोध रूपी भयङ्कर अग्नि तो इतनी प्रबल है कि स्वतः क्रोधी को दग्ध करने के उपरांत अनेक अन्य जनों को भी सन्तप्त कर बड़े २ अनर्थ उत्पन्न करती है। एरिस्टोटल कहते हैं कि "मनुष्य को क्रोध मनही मन पचाने में बहुत लंबा

समय लगता है। ऐसा मनुष्य अपने को या अपने प्रिय मित्रों को अतिशय दुःखदाई होजाता है" ये शब्द सर्वथा सत्य है। विचार परम्परा से जो क्रोधी के अनर्थों का विचार करने बैठें, तो उसका अन्त भी ज्ञात न हो। क्रोध एक ऐसे प्रकार की इच्छा है कि जिसके वश होकर मनुष्य अपने चित्त की तप्त और व्याकुल दशा में आत्मघात करने पर भी उद्यत होजाता है। इससे ऋषि जन कहते हैं कि:—

> क्रोधोमूलमनर्थानां, क्रोधः संसार बंधनम्।
> धर्मक्षयकरः क्रोधः, तस्मात्क्रोधं विवर्जयेत्॥

अर्थात्—क्रोध अनर्थ का मूल है, क्रोध ही संसार का बन्धन है धर्म का क्षय करने वाला भी क्रोध ही है। इसलिये क्रोध का त्याग करना चाहिये।

यहां एक दृष्टान्त दिया जाता है। पोलियो नामक एक धनाढ्य अमीर ने रोम के सम्राट् ऑगस्टस सीज़र को अपने घर निमन्त्रित किया। उसने राजा को प्रसन्न करने के लिये बङ्गला अच्छी प्रकार अलङ्कृत किया। राजा और पोलियो साथ बैठे थे, नाच होरहा था, इतने में पोलियो के नौकर ने कांच का एक वर्तन जमीन पर गिरा दिया। पोलियो ने इससे एक दम क्रोध से होकर कहा "इस हरामखोर को जलके तलाव में डाल दो"। राजा ने सन्मुख टेवल पर कितनी ही नमूनेदार सुशोभित कांच की वस्तुएं पड़ी थी उन्हें मंगाकर उनका चूर्ण कर डाला। पोलियो यो यह देख कर स्तब्ध ही होगया, और समझा कि मनुष्य के जीवन से कांच के वर्तन पर मैंने अधिक प्यार किया, इस अनुचित क्रोध के लिये राजा ने मुझे उपालम्भ दिया है। इस प्रकार सब भाँति इस के अनर्थ करनेवाले क्रोध के वश रह कर मनुष्य अपने कर्त्तव्य से च्युत हो कर

अकर्त्तव्य कर्म के व्यवहार की ओर उद्यत हो इसमें क्या आश्चर्य है? सचमुच क्रोध को कर्त्तव्य घातक ' ऐसा विशेषण लगाना ही सर्वथा योग्य है। (४२)

[पृथक् २ गुण और अधिकार वाले पुरुषों के आश्रित रहनेसे क्रोध कैसे २ अनर्थ उत्पन्न करता है उसका सार अब दिया जाता है]

क्रोधस्य क्रूरता ।४३।

यद्येषः प्रभवेत्समर्थपुरुषे, मान्येऽधिकार स्थिते।
दीनानामसहायिनां तनुभृतां त्रासस्तदा जायते॥
हीनानां तु भवेद्यं यदितदा, संतप्यते मानसम्।
तत्तापेन विवेकहानिरनया, दुःखं महत्प्राप्नुयुः॥

क्रोध की क्रूरता

भावार्थः—जो मुख्य अधिकारी, अथवा कोई भी बड़ा समर्थ पुरुष, क्रोध करने की आदत के वश होगया हो, तो उसके हाथ के नीचे कार्य करने वाले बिचारे बलहीन निर्धन मनुष्यों की निरपराध ही बड़ी दुर्दशा होती है, उसी प्रकार इस प्रचण्ड प्रकृति ने शक्तिहीन दीन पुरुषों को, अपने पंजे में ले कर क्रोधाधीन बनाये हों, तो उनके क्रोध को सफल करने वाला अन्य कोई पात्र न होने से वह क्रोध की ज्वाला उनके ही शरीर की ओर झुकती है, शरीर को जलाती है, लोहू को सोखती है, और निर्धनता, पराधीनता इत्यादि दुःखों से दग्ध मन को परिताप उपजाती है।

विवेचन—पण्डित मानविजय जी ने क्रोध की व्याख्या इस प्रकार का है:—'अविचार्यपरस्यात्मनोऽपायहेतुरन्तर्बहिर्वा स्फुरणात्मा क्रोधः' अर्थात् अविचार पूर्वक अपना और दूसरों का नाश करने में हेतु रूप आन्तरिक तथा वाह्यिक स्फुरणा

यही क्रोध कहलाता है। उक्त व्याख्या को इस श्लोक में सदृ-ष्टान्त समझाया है। जो क्रोध किसी राजा या राज्याधिकारी जैसे बड़े मनुष्य के चित्त में निवास करता है तो उसके आवेग के साथ ही उसके द्वारा नीचे के मनुष्य और दीन नौकर-चाकरों को अत्यन्त दुःख होता है। यहां पर वह क्रोध दूसरों का नाश करने में हेतु रूप बाहर तथा अन्दर स्फुरणा-यमान् हुवा दिखता है। परन्तु जो दीन और हीन मनुष्य हैं, उन्हें अपने क्रोध का आवेग निकालने को अन्य कोई मनुष्य नहीं मिलता इससे वे अपनी जाति पर, आत्मा पर क्रोध निकालते हैं, और इस प्रकारि वे अपना ही नाश करने में हेतु रूप आन्तर-बाह्य क्रोध को स्फुरित करते हैं। ऐसे दीन मनुष्य क्रोध की ज्वाला से अपने ही रुधिर को जलाते हैं अपने ही को आन्तरिक सन्ताप उपजाते हैं, और कोई समय अपनी ही देह को मार काट कर या दुःख पहुँचा कर अपने दुःख के कारण भूत बन जाते हैं। 'मूलं को हो दुहाण सव्वाणं' सब दुःखों का मूल क्रोध है यह सत्य ही है।

यहां इसका एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक अंग्रेज़ उमराव विलायत की बड़ी घुड़दौड़ की शर्त में ३ सहस्र पौंड अर्थात् ४५ सहस्र रुपये हार गया, और कर्म संयोग से विपक्षी एक दूसरे उमराव उसी शर्त में ७ सहस्र पौंड जीतगया। अपनी हार से उस उमराव को कुछ बुरा न लगा; कारण वह कई बार शर्तों में हार जीत के दावे करता रहता था परन्तु अपने विपक्षी की बड़ी जीत से उसे क्रोध चढ़ा, क्रोधान्ध हो कर वह घर आया, और कमरे के बाहर बैठ गया; नौकर ने चाय का प्याला लाकर रखा तो उसने एकदम उस प्यालेको उसी पर फैंक दिया, और बोला "अरे बदमाश! मेरा शरीर गर्मी से जल रहा है, फिर

भी तू मुझे "गरमागरम" चाय पिलाता है ? जल्दी सोड़ा और बरफ़ ला । यह सुनकर वह चला गया और पीछा नहीं लौटा । साहिब के क्रोधमें वृद्धि हुई; और स्त्री के कोठरी में जाकर उस पर नेत्र के प्रवाह करने प्रारम्भ किये, भयङ्कर शब्द कर वह कहने लगा "नौकर सब कहां मर गये ? मेरे लिये सोडा बरफ कोई क्यों नहीं लाता ? स्त्री भयभीत हो कर कोठरी के बाहर भाग आई । उसके पीछे उसका बालक चिल्लाकर दौड़ा और साहिब ने क्रोध में उसे भी एक लात मारदी । स्त्री मकान के बाहर चली गई, और साहिब के पागल हो जाने की बात प्रसिद्ध की, इससे नौकरों ने दिवानखाने के द्वार बन्द कर साहिब को कैद कर लिया । रात्रि भर साहिब ने उस कैद में बिताई । प्रातःकाल सिपाहियों को बुलाकर द्वार खुलवाया, तो मालूम हुआ, कि साहिब के दोनों हाथ लोही-लुहाण हो गए थे, और रात्रि में क्रोधान्ध हो कर उन्होंने अपने हाथ के बटके भरे थे । इसी अवस्था में उन्हें पागलों के दवा-खाने में पहुँचाने की आवश्यकता हुई ।

ऐसे क्रोधी मनुष्यों को क्रोध का परित्याग करने के लिये वृत्ति को शान्त रखना, और ऐसी ही टेव डालने के लिये किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, उसके मार्ग भिन्न २ ग्रन्थकारों ने भिन्न २ रीति से दिखाये हैं । आचाराङ्ग सूत्र में बतलाया कि "दुःक्खंच जाण अदुवागमिस्सं । पुढो फासाइंच फासे । लोयं च पास विप्फंद माणी ॥"

अर्थात्—क्रोधादिक आते समय कैसे दुःख होंगे, उसका विचार करना, और इस क्रोधादिक से लोग किस प्रकार बचते हैं यह ढूँढ़ना । जीरेमी टेलर कहता है कि "जब क्रोध आवेग में आने लगे, तब दूसरों

के दोषों का अपने मन ही से बचाव करना और इस प्रकार चाहिये कि स्थल, समय, अकस्मात् कष्ट इत्यादि के कारण अपने मित्र से, सगे से, या नौकर चाकर से कोई दोषयुक्त काम हो जाना स्वाभाविक है। इसके लिये मुझे क्रोध नहीं करना चाहिये, परन्तु उनके दोष पर, अनसमझ पर या उनकी असावधानी पर मुझे दया लानी चाहिये। जो एकाएक क्रोध उत्पन्न हो तो पहिले उसे विचार पूर्वक दवाना चाहिये, और फिर दोष करने वाले के ऊपर दयाभाव लाकर यह सोचना चाहिये, कि भविष्य में उसके हाथ से ऐसा दोष न होगा। एक ग्रन्थकार क्रोध शान्ति करने के कितने ही कृत्रिम उपाय बताते हैं। कि जब क्रोध उत्पन्न हो, तब ऐक लोटा पानी पी जाना, सौ से उलटे अङ्क अर्थात् १००, ९९, ९८ इस प्रकार गिनने में चित्तवृत्ति को लगाना, अथवा शरीर की कुछ क्रिया या गति बदलना या एकदम वहां से चले जाकर सो जाना, या उस स्थल को त्याग देना ॥४३॥

[यहां ग्रन्थकार एक शङ्का उपस्थित करते हैं कि कई समय गृहस्थ जनों को किसी के हित के लिये, अंकुश या दवाब रखने के लिये, क्रोध के उपयोग करने की आवश्यकता पड़ती है। यह क्रोध करना उचित है या नहीं? इस शंका का समाधान करने के लिये यह नीचे का श्लोक रचा है]

क्रोधस्य मर्यादा ॥४४॥

बालानां हितशिक्षणे भृतजनस्वेच्छालित्यसंबोधने।
दुष्टातिक्रमणेऽपराधिदमने स्वातापसंदर्शने॥
अस्यावश्यकता भवेद्यदि तदा सोप्यऽस्तु सद्भावजः।
शक्यो रोद्धुमपेक्षिते च समये स्याद्येन धर्मः सुखम्॥

क्रोध की सीमा—

भावार्थ—कदाचित् कोई यों कहेंगे, कि बालक की या अन्य किसी की भूल होती हो तो उसे सुधारने के लिये, उन्हें हित शिक्षा देने के लिये, किसी की बुरी आदत निकालने का उपदेश देने के लिये, दुष्ट मनुष्यों को दबाने के लिए, अपराधी मनुष्यों को दण्ड देने के लिये, और अपराधियों को दबा कर रखने में अपना प्रभाव दिखाने के लिये, गृहस्थियों को कुछ आवेश और जोश की आवश्यकता होती है। और इसके साथ क्रोध का मिश्रण भी होता है तो क्रोध की अनावश्यकता कैसे समझाते हो? उपरोक्त प्रसंगों में तो क्रोध की आवश्यकता होती ही है। इसके उत्तर में कहना चाहिये, कि जब तक केवल भूल सुधार का शुद्ध आशय है। और उसके लिये सप्रयोजन-मात्र दिखाने के लिये बनावटी क्रोध और वह भी अपनी इच्छानुसार अधिकार में रख सकें इतना मर्यादित होकर किसी का हितकर्ता हो तो निसन्देह उचित है। उससे क्रोध की बताई हुई कुछ भी हानि नहीं पहुँचती ॥४४॥

विवेचनः—गृहस्थियों को, संसारियों को, संसार के कितने ही प्रसंगों में कृत्रिम क्रोध बताने की आवश्यकता होती है। बालकों को दुष्ट जनों को, अपराधियों को, या दूसरों को बुरे मार्ग पर जाते हुए और अपराध करने से रोकने के लिये कृत्रिम क्रोध करने की आवश्यकता होना स्वाभाविक ही है। यहां इस प्रकार से क्रोध दिखाने का हेतु पूर्व के दोनों श्लोकों में समझाये अनुसार 'अपाय हेतुः' नहीं होता परन्तु दूसरों का हित साधक होता है और इसी से ऐसा कृत्रिम क्रोध दिखाने से कोई भी दोष नहीं उत्पन्न होता। ऊपर जो हानिकारक

क्रोध का स्वरूप दिखाने में आया है वह क्रोध द्वेष मिश्रित होने से ही हानिकारक है परन्तु यहां एक दूसरी बात भी ध्यान में रखना चाहिये कि कृत्रिम क्रोध कृत्रिम ही होना चाहिये और उस क्रोध का वेग एक क्षण मात्र में शमन करने की-या क्रोध बताने की आवश्यकता पूर्ण होने के पश्चात् चिद्वृत्ति और मुखमुद्रा समभाव चलाने की सामर्थ्य अपने में हो तभी ऐसे क्रोध का प्रसंगोपात उपयोग करना चाहिये। परन्तु कई समय ऐसा होता है कि ऐसे कृत्रिम क्रोध निदर्शन के सदैव के स्वभाव से मनुष्य सच्चे क्रोध बताने के स्वभाव वाले हो जाते हैं और फिर भी उनकी वृत्तियां क्षणमात्र में आवेश में खिच कर क्रोध परायण हो जाती हैं जिस अश्व को एक बार पूर्ण वेग से दौड़ाने के पश्चात् उसकी लगाम खींच कर उसे धीरे २ चलाने का सामर्थ्य यदि अपने में नहीं तो उस अश्व पर सवार ही न होना यही हितकारी है। इसी प्रकार जो कृत्रिम क्रोध को शीघ्र ही शमन करने की शक्ति अपने में हो उसी तरह उससे वृत्तियां सदैव क्रोध करने के स्वभाव वाली न बन जाय इतना संयम न करने का सामर्थ्य हो, तो ऐसे क्रोध का उपयोग करना, नहीं तो उसका साथ भी नहीं करना चाहिये, यही हितकारी मार्ग है। इसलिये सुभाषितकार ने कहा है कि—'आत्मशक्तिसमं कोपं कुर्वाणो न विनश्यति'

अर्थात्:—अपनी शक्त्यानुसार क्रोध करने वाले का कभी नाश नहीं होता।४४।

—:०:—

दशम परिच्छेद

कर्त्तव्यघातक दोष-मात्सर्य तथा निन्दा

[कर्त्तव्य घातक दोषों में एक बड़ा भारी दोष मात्सर्य है इसलिये उससे होती हुई हानि का विस्तार अब ग्रन्थकार दिखाते हैं ।]

मात्सर्यम् ॥ ४५ ॥

मात्सर्यं मृदुताहरं मदकरं, मिथ्याभिमानोच्छ्रितं ।
सत्यासत्यविवेकबुद्धिममलां, व्याहन्ति यच्चेर्ष्यया ॥
दोषं* दर्शयते गुणेषु गुणिनां, दोषे निजे वा गुणम् ।
बुद्ध्या तद्विनिवर्तनीयमनिशं, कर्त्तव्यसंसिद्धये ॥

मात्सर्य का त्याग ।

भावार्थ—कैसा भी कर्त्तव्य पूर्ण शुद्ध रीति से पालन करना हो तो "यह मैं ही करता हूँ, मुझ से ही हो सकेगा, तुम क्या कर सकते हो।" ऐसा मानरूप मत्सर भाव मन से सर्वदा के लिये निकाल देना चाहिये। कदाचित् वह बहुत समय से स्वभाव होने के कारण मन में जड़ जमा कर बैठा हो तो भी चाहे जैसे प्रयत्न कर सद्बुद्धि के सामर्थ्य से शीघ्र ही उसकी जड़ नष्ट कर देना चाहिये; कारण कि उससे कोमलता का नाश होता है, अभिमान और गर्व के द्वार खुलते हैं, मिथ्याभिमान का वेग आगे बढ़ता है, ईर्षा को आदर मिलने से सत्य और असत्य भिन्न २ दिखाने वाली निर्मल बुद्धि नाश होती है। गुणी मनुष्यों के गुण ग्रहण करने के बदले उनमें दोषारोपण करने का प्रयत्न प्रारम्भ होता है और अपने

१ णेरणात्मिलात्मनेपदम्

दोष दबा कर उनके स्थान पर गुण गिनाकर लोगों की दृष्टि में धूल डालने का प्रयत्न भी आरम्भ होता है, सारांश यह कि कर्त्तव्य से भ्रष्ट होता है। इसलिये मात्सर्य का त्याग करना चाहिये। (४५)

विवेचन—मद पूर्वक हर्ष धारण करना, इसका नाम मात्सर्यता है। निमित्त सिवाय दूसरों को दुःख पहुंचाने अथवा आखेटादि हिंसा कर अनर्थ का आश्रय लेकर मनमें प्रमुदित होने को ही मत्सर भाव कहते हैं। मनुष्य वृत्ति अनर्थ के आश्रय में रहकर प्रमुदित होती है उस वृत्ति को परोपकारादि स्वकर्तव्य पालन करनेका जो सच्चा उपदेश है नहीं प्राप्त होता। यह स्वाभाविक है। इसी कारण से हृदय के क्रूर और मदोन्मत्त मनुष्य धर्म नहीं साध सकते। इस विषय में देवेन्द्र सूरि ने कहा है कि:—

कूरो किलिठ्ठ भावो सम्मंधम्मं न साहिउं तरइ॥ (टीका-क्रूरः क्लिष्टभावो मत्सरादि दूषितपरिणामः सम्यक् निःकलंकं धर्मं न नैव साधयितुमाराधयितुं शक्तो) अर्थात् जो क्रूर अर्थात् क्लिष्ट परिणामी—मत्सरादि दूषित परिणाम (भाव) वाला होता है वह निष्कलंकता से धर्म का साधन-आराधन करने में समर्थ नहीं है। मात्सर्य की उत्पत्ति के साथ मनुष्य में दूसरे कितने ही प्रकार के बीज बोये जाते हैं। मूल में मद रूपी पिता, और क्रूरता रूपी माता, के समागम से मात्सर्य का जन्म हुआ है और जो सद्बुद्धि के सामर्थ्य से उनका जड़ मूल से विच्छेद न किया जाय, तो धीरे २ ईर्ष्या, मिथ्याभिमान, विवेक बुद्धि रहितता, अविनय, मिथ्या दोषारोपण इत्यादि दुर्गुण एक के पश्चात् एक प्रवेश करते जाते हैं। जैसे अनेक प्रकार की दुर्गन्ध से भरी हुई टोकरियों के शुद्ध करने का प्रयत्न मिथ्या होता है उसी प्रकार मनुष्य मात्सर्य के अतिरिक्त दूसरे

अनेक दुर्गुणों से भरा होता है। मनुष्य इसलिये उसे भी शुद्ध नहीं कर सकते और इससे उसकी प्रवृति फिर अकर्त्तव्य ही की ओर झुकी रहती है। इसलिये कर्त्तव्य की ओर रुचि रखने वाले मनुष्यों को सदा मत्सर भाव से दूर रह कर संसार में विचरना चाहिये, यही कर्त्तव्य निष्ठता है ॥ ४८ ॥

[मूर्ख मनुष्य जब कर्त्तव्य की क्लिष्टता के कारण कर्त्तव्य निष्ठ नहीं बन सकते और अकर्त्तव्य ही में प्रवृत्त रहते हैं तब अपनी निर्बलता या दोषों को छिपाने के लिये कर्त्तव्यनिष्ठ अन्यजनों के सत्कार्यों की निन्दा करने को प्रस्तुत होते हैं। ऐसा करने से वे कर्त्तव्य मार्ग च्युत दुर्जन दो प्रकार के पाप के भागी होते हैं, एक तो पाप यह है कि वे स्वयं कर्त्तव्य नहीं पाल सकते और दूसरा पाप कर्त्तव्य पालने वाले की निन्दा करना है। यह निन्दा मनुष्यों में इतनी दृढ़ जड़ जमा कर बैठी है कि उसके त्याग करने का उपदेश प्रचार करने के लिये ग्रन्थकार इस प्रकरण को कुछ विस्तार से समझाने के लिये उद्यत हैं।

निन्दापरिहारः ॥४६॥

निंदाऽसत्यसहोदरा गुणहरा, सौजन्यसंहारिणी।
दोषारोपणकारिणी गुणिगणे, क्लेशस्य संचारिणी ॥
चारित्रांशविघातिनी जनमनः, सन्तापिनी पापिनी।
त्याज्या दोषविनाशनाय विदुषा, कर्त्तव्यससिद्धये ॥

निन्दा का परित्याग

भावार्थ—निन्दा भी कर्त्तव्य के मार्ग में बड़ा भारी दोष उत्पन्न कर मनुष्य को कर्त्तव्य भ्रष्ट बनाती है; इसलिये कर्त्तव्य की शुद्धता चाहनेवाले चतुर मनुष्यों को इस दोष क

नाश करने के लिये शीघ्र ही निन्दा का त्याग करना चाहिये। कारण कि यह निन्दा असत्य की तो सगी बहिन है अर्थात असत्य के प्रतिपक्षी सत्य को तो दूर घसीट निकालती है। धैर्य, शान्ति, गाम्भीर्य्य इत्यादि गुणों का नाश करती है, कर्त्तव्य के मुख्य गुण सौजन्यका भी विनाश करती है। गुण के समुदाय में दोषों का आरोपण करती है, गुणवान् मनुष्यों में क्लेश के बीज को फैलाती है, देशसे सर्वथा चारित्र का विनाश करती है, मनुष्यों के मन में सन्ताप उत्पन्न करती है, सारांश यह कि अधिक पापस्थानको जन्म देने वाला निंद्य से निंद्य यह एक दुर्गुण है इसलिये शीघ्र ही इसका परित्याग करना चाहिये।

विवेचन—अपनी निर्बलता छिपाने के लिये किसी समर्थ मनुष्य के मान मर्दन करने का अनुचित उद्योग प्रारम्भ करना ही निन्दा कहलाती है। अपने दोष की ओर लक्ष न देकर दूसरों के दोषों को प्रकाशित करके उन पर इच्छानुसार टीका टिप्पणी करना यही निन्दा का सच्चा स्वरूप है। निन्दा का एक दृष्टान्त इस प्रकार है। एक समय एक यात्री एक बड़े नगर में आ पहुंचा। वह नगर सुशोभित और देखने योग्य होने से वह राज मार्ग पर चारों ओर दृष्टि डालता, तथा आस पास के सुशोभित और चित्रित महालय देखता २ आनन्दित होता हुआ चला जाता था। चलते २ उसे अचानक ठोकर लगी और वह गिर पड़ा। हाथ पैर के चर्म पर चोट आने से लोहू भी निकलने लगा। उसने आस पास इकट्ठे हुए लोगों से कहा, "इस नगर के कारीगर सचमुच ही में मूर्ख होने चाहिये, कारण कि उनसे अच्छी सड़क भी न बन सकी, जिससे मुझे ठोकर लगी। इससे मालूम होता है कि ये बड़े महालय भी बिना माल के और मूर्ख कारीगरों की संकड़ों

मूर्खता से भरे होंगे !" इस प्रकार नगर के मिस्त्रियों की निन्दा करने से यात्री दो प्रकार के दोष का भागी बनता है। वह अपना दोष नहीं देखता, और दूसरे के गुण को अवगुण कहता है। स्वतः मार्ग पर जाते हुए ध्यान से दृष्टि रख कर नहीं चला और न महालयों को देखने ही में दृष्टि से काम लिया इसलिये ठोकर लगी और वह गिर पड़ा। इसमें सड़क बांधने वाले का दोष न था, परन्तु अपने अज्ञान का ही दोष था। वह अपने दोष को छिपाने के लिये हृदय में दम्भ को आश्रय देता है और इससे सुजनता का स्वाभाविक रीति से ही त्याग करता है। कारीगरों की कुशलता कि जिससे ललचा कर उसकी दृष्टि मार्ग पर स्थिर न रह सकी, उसे तो वह ध्यान में भी नहीं लाता है और इसके बदले उन पर भी व्यर्थ दोषारोपण करता है इस प्रकार वह दो दोष करता है। निन्दा करने के स्वभाव के वश होने से सदैव क्लेश ही में मग्न रहता है। उपरोक्त दोषों के परिणाम से सच्चारित्र होना असम्भव प्रतीत होता है परन्तु दूसरों के मन को सन्तप्त करता रहता है, कारण कि अपने गुण का आदर होने के बदले अपने पर जब व्यर्थ दोषारोपण होता हुआ वह देखता है तब निन्दा करने वाले के अतिरिक्त जिसकी निन्दा की जाती है उसके चित्त को भी सन्ताप ही प्राप्त होता है। निन्दा करने वाला कितने दुर्गुणों का पात्र होता है यह इससे सहज ही समझ में आजायगा। निन्दक इतने दोषों का उत्पादक होने से वह कदापि कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं रह सकता। चक्रवर्ति सूरिने ऐसा कहा है कि—

परपरिभवपरिवादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म।
नीचै र्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम्॥

अर्थात्—दूसरे का परिभव और निन्दा करने से उसी प्रकार अपना उत्कर्ष करने से अनेक कोटिभवों में भी न छूट सके ऐसा नीच गोत्र मर्म प्रत्येक भव में वह मनुष्य बांधता है। किसी के सच्चे दोष किसी के सामने निष्पक्षपात से, तनिक भी अतिशयोक्ति बिना, अपने स्वतः का कुछ भी स्वार्थ न होने से तथा किसी का भला होना हो तो यह समझ कर, कहना निन्दा नहीं है। परन्तु मनुष्य का स्वभाव ऐसा विलक्षण है कि वह पर-दोष का कथन करते २ निन्दा के प्रवाह में आकस्मिक् रीति से घुस जाता है। इस कारण से कर्त्तव्य निष्ठ रहने के लिये अथवा भूल चूक से भी निन्दा के चारे न लगें, इसलिये मुनिजनों ने उपदेश दिया है कि "बोलो तो किसी के गुण ही बोलो नहीं तो चुप रहो।" अर्थात् सदा किसी के भी गुण का कथन करना परन्तु दोष का कथन कभी नहीं करना कि जिससे अकस्मात् दोष कथन से निन्दावाद के कुमार्ग पर न चढ़ सको, निन्दा का परित्याग करने के लिये दोष कथन ही न करना सर्वोत्तम है।

निन्दासत्त्वेऽपरगुणानां निष्फलता ॥४६॥

आस्तां सच्चरणे परार्थकरणे प्रीतिः सुनीतौरति-
र्धैर्यं वीर्यमनुत्तमं भवतु वा शुद्धं प्रबुद्धं मनः ॥
विज्ञानं विपुलं तथापि किमहो कार्यं शुभैस्तद्गुणै
रेको यद्रसनाश्रितो रसहरो निंदाभिधो दुर्गुणः ॥

निन्दा दूसरे गुणों पर पानी फेरने वाली है।

भावार्थ तथा विवेचन—सदाचरण परायण रहने में, और परोपकार के मार्ग चलने में चाहे प्रीति हो, न्याय और नीति के मार्ग में अडिग निश्चल चलने की रीति साध्य की हो,

विपत्ति के बादलों का चूर २ करने के लिये धीरज भी रख सकते हों, उत्तम से उत्तम मानसिक वीर्य भी खिला हो, मन भी सुन्दर उपदेश से शुद्ध हो, और अनेक शास्त्रों के तत्व को समझ कर विज्ञान भी प्राप्त किया हो, ये सब गुण तब तक ही उपयोगी और हितकर हैं कि जब तक एक निन्दारूपी दुर्गुण का पंजा न लगा हो; परन्तु जो कदाचित् दुर्भाग्य से अधिक नहीं तो एक ही निन्दारूपी दुर्गुण का स्वभाव मनुष्य को लग गया तो समझ लेना कि अब उसका जीवन व्यर्थ गया और सदाचार परायणता प्रभृति गुण थोड़े ही समय में नष्ट होने वाले हैं। पूर्व श्लोक में निन्दारूपी दुर्गुणों से प्रवेश होने का कथन किया है, वे दुर्गुण ऐसे हैं कि मनुष्य के चाहे जैसे सद्गुणों को भी गुप्त कर सकते हैं। मनुष्य सदाचारी हो, धैर्यवान हो, बुद्धिमान् हो, नीति रीति में प्रीति करने वाला हो, मन का शुद्ध हो; परन्तु यदि उसमें केवल एक निन्दा ही का दुर्गुण हो तो भी निन्दा सौजन्य का नाश करने वाली होने से उक्त सब सद्गुणों का विनाश कर डालती है। ४६।

[अब निन्दारूपी दुर्गुण को सजीवारोपण कर ग्रंथकार उसके दोष दिखाते हैं, और अप्रशस्त वस्तुओं के साथ उसकी तुलना कर जनसमाज उससे पृथक् रहना योग्य समझे इसलिये नीचे के संयुक्तिक श्लोकों की रचना करते हैं]

निन्दाशूकरयोः सम्बन्धः ॥४७॥

रे त्वं काऽसि ? न वेत्ति मां किमु
　　भवान्निन्दाभिधानास्म्यहं।
त्वं चैका ? नहिं शूकरोऽस्ति सहजः
　　कार्यैक्यमस्त्यावयोः ॥

किंकार्यं युवयोः भवेत्किमपरं
मुक्त्वा च भुक्ति क्रियां।
भोज्यं किं ? मलमाशि मानसमहं
बंधुस्तु तज्जाठरम्. ॥
पृष्ठमांसोपमा निन्दा ॥४६॥
तस्मादेव पिशाचिका त्वमसि किं
चाण्डालिका डाकिनी।
नो चेद्ब्रूहि किमन्यकारण महो
सद्यो ब्रुवे श्रूयताम् ॥
भोज्यं मेऽन्तिमतीर्थकृत्समुदितं
तत्पृष्ठ मांसोपमं।
तस्मान्मां कथयन्तु केनचिदिमे
नाम्ना सहे सर्वथा ॥

निन्दा और शूकर (सूअर) का सम्बन्ध।

भावार्थ—(एक समय किसी मनुष्य को स्वप्न में एक स्त्री के समान आभास हुआ और उससे बातचीत करते निम्न रीति से सम्भाषण प्रारम्भ हुआ)

मनुष्य—अरे! तू कौन है ? और तेरा नाम क्या है ?

स्त्री—क्या तुम मुझे नहीं पहचानते ? मैं एक स्त्री हूँ। लोग मुझे "निन्दा" के नाम से पहिचानते हैं और बुलाते हैं।

मनुष्य—क्या तू यहां अकेली ही आई है या दूसरा कोई तेरे साथ ?

स्त्री—नहीं, नहीं, मैं अकेली ही नहीं, मेरा भाई सुअर भी मेरे साथ है।

मनुष्य—शूकर तेरा भाई किस प्रकार हो सकता है ?

स्त्री—जो काम शूकर का है वही काम मेरा है इसलिये वह मेरा भाई है।

मनुष्य—तुम दोनों का क्या काम है ?

स्त्री—खाने पीने के सिवाय और दूसरा क्या काम है ?

मनुष्य—तो तुम क्या खाते हो ?

स्त्री—मनुष्यों के जठर का मल अर्थात् विष्ठा, यह मेरे भाई का खाना है," और मनुष्यों के मन का मल मेरा खाना है। अर्थात् ग्राम की विष्ठा ढूंढने को मेरा भाई निर्माण हुआ है, और मनुष्यों के मन की विष्ठा ढूंढने को मैं उत्पन्न हुई हूँ और दोनों का काम एकसा है इसलिये शूकर मेरा भाई और मैं उसकी बहिन हूँ ॥४८॥

निन्दा की गुदा के मांस से उपमा।

पुरुष—अरे निन्दा ! तुझे कोई मनुष्य तो पिशाचिनी कहकर और कोई चाण्डालिनी कहकर, कोई डाकिन कह कर पुकारते हैं। यह क्या सत्य है ? और मैं मानता हूँ कि उसका कारण भी यह तेरा नीच धन्धा और निन्द्य खानपान ही होगा, कारण कि तेरा खाना उपरोक्त उपमाओं के योग्य ही है।

स्त्री—जी हां, यह बात तो सत्य है परन्तु इसके अतिरिक्त एक और कारण है।

पुरुष—दूसरा क्या कारण है ? कह न ?

स्त्री—दूसरा कारण यह है कि जैनियों के चरम तीर्थङ्कर

महावीर स्वामी ने मेरे खानपान को और मुझे बहुत ही नीच बतलाया है।

पुरुष—किस प्रकार नीच बतलाई है ?

स्त्री—अरे ! किस रीति से क्या ? मेरे खानपान को और मुझे गुदा के मांस की उपमा देकर अत्यन्त नीच और हलकी दिखाई है।

पुरुष—तब तो तेरी जैन समाज में अत्यन्त ही अवहेलना होती होगी, और तुझे बहुत हलके नाम से पुकारते होंगे।

स्त्री—जी हां ! महावीर स्वामी ने मेरा बल तोड़ डाला है। इसलिये वे चाहे जैसे हलके नाम से पुकारें या नीच कहें, मुझे दुर्बलता के कारण सब सहन करना ही पड़ता है।

विवेचन—उपरोक्त दोनों श्लोकों में से एक श्लोक में निन्दा को शूकर की बहिनरूप कल्पित किया है और दोनों के सम्बन्ध की शृङ्खला जोड़ने के लिये उनका लगभग एकसा भोजन बताया है, जिस प्रकार निन्दा मनुष्य के मानसिक मल को—दुष्ट वासना और दुर्गुणों से—पोषित हो बलवान् बनती है। शूकर जिस प्रकार शारीरिक मल का आहार करता है उसी प्रकार निन्दक पुरुष मनुष्यों के दुर्गुणों को ढूंढ़ता फिरता है और उसका वह मानसिक मल ही है, जिसे अपने मुख द्वारा चूसकर आनन्द मानता है। मल चूसना यह कार्य एक चाण्डाल—भंगी का है और इससे शूकर और निन्दा दोनों ही को चाण्डाल गिने हैं।

चाण्डालः पक्षिणां काकः पशूनां चैव शूकरः।
कोपो मुनीनां चाण्डालः सर्व चाण्डाल निन्दकः॥

अर्थात्—पक्षियों में कौआ चाण्डाल है, पशुओं में शूकर चाण्डाल है मुनियों में क्रोध चाण्डाल है और सब किसी में-मनुष्यों में निन्दक चाण्डाल है। कौआ और शूअर विष्ठा के भोगी हैं। इसी प्रकार एक मुनि में जो क्रोध हो तो वह क्रोध भी विष्ठा का भोगी—अप्रशस्त गिना है और मनुष्यों में निन्दक मनुष्य को विष्ठाका भोगी चाण्डाल गिना है। इसलिये निन्दा को शूअर की बहिन गिनने की नीचोपमा यथार्थ घटित होती है। जिस प्रकार चाण्डाल, मनुष्य की विष्ठा उठा कर लेता है जिससे मनुष्य को स्वच्छता प्राप्त करने की लाभ प्राप्ति होती है, उसी प्रकार निन्दक मनुष्यरूपी चाण्डाल निन्दा करने से मनुष्यों के मानसिक मल का भक्षण कर जाता है, जिससे जिसकी निन्दा की जाती है, उसके दोष और पाप रूपी मल धुला जाने से परिणाम में स्वच्छता का लाभ होता है। सामान्य लोकोक्ति सुनने में आती है, कि "अमुक निन्दक मनुष्य तो दूसरे मनुष्य के पाप धोता है इसी प्रकार निन्दक विष्ठा साफ करने वाली चाण्डाल का काम करता है। दूसरे श्लोक में निन्दा को गुदा के मांस की उपमा दी है इस हीनोपमालङ्कार का उपयोग चरम तीर्थङ्कार श्री महावीर स्वामी के शब्दों से सूत्र में इस प्रकार लिखा हुआ है—

अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्य अंतरा। पिठिमंसं न खाएज्जा।..

अर्थात्--हितैषी पुरुष विना पूछे न बोले, दूसरे बात चीत करते हों तो उनके मध्य में न बोलें, और गुदा का मांस न खावें अर्थात् किसी की निन्दा न करें।

इस उपमा की घटना यथार्थ ही है। मांसाहारी, पशु और पक्षियों के मांस का भक्षण करते हैं। मांसाहार सर्वदा

गुण दूसरे गुणों से अधिकता से रहता है इसीलिये वह शिक्षा अधिक गुणवाली समझी जाती है। इस नियमानुसार तमोगुणी, रजोगुणी, और सत्वगुणी शिक्षा मनुष्य को किस तरह लाभ हानि पैदा करती है और चेतस-मन को कैसा असर दिखाती है वह उपरोक्त बताये हुए लक्षणों पर से सहज ही समझ में आ सकता है। इस पर से सब से श्रेष्ठ शिक्षा सत्व गुण विशिष्ट गिननी चाहिये और अन्य गुण विशिष्ट शिक्षा मध्यम तथा कनिष्ट प्रकार की है इस [illegible] योग्य समझनी चाहिये ।७६।

—

चतुर्थ परिच्छेद।

शिक्षक और शिक्षा

कीदृशः शिक्षकः ॥७७-७८॥

कालोऽयं सफलस्तदा यदि भवेत्प्रामाणिकः शिक्षकः।
सत्याचार विचार कार्य निपुणः सौजन्य शाली बुधः ॥
शिष्याणां हित चिन्तकश्च चतुरश्चित्ते प्रसन्नःसदा।
निःस्वार्थः करुणापरः सहृदयः पूज्यः पवित्रः परः ॥
दृष्ट्वा बालस्य निरीक्ष्य यं प्रमुदितं प्रेम्णा सुपुष्टं भवे।
श्रोतुं यद्वचनं प्रसन्नमनसो वाञ्छन्ति बालाः सदा ॥
यं शिष्या गुरु भावतो हृदि मुदा मन्यन्त एव स्वतो।
योग्यो बालक शिक्षणे स मनुजो विद्यार्थिवर्गार्चितः ॥

शिक्षक कैसा होना चाहिये।

भावार्थः—विद्यार्थी अवस्था की सफलता का आधार कितने ही अंश से शिक्षक की योग्यता पर निर्भर है। बालकको शिक्षा देनेवाला शिक्षक असत्यवादी अप्रामाणिक न हो, आचार विचार में शुद्ध और कर्तव्य निपुण हो, जिसके वचनों में और कृति में सुजनता स्फुरित हो रही हो विद्यार्थियों का हित जिसके हृदय में रम रहा हो देश, काल को समझने वाला चालाक और विद्वान हो, चित्त में हमेशा प्रसन्नता भरी हो, स्वार्थ बुद्धि बिलकुल न रखता हो, हृदय हमेशा कृपा से आर्द्र रहता हो, जो विद्यार्थियों का सच्चा मित्र हो और जिसकी पवित्रता से विद्यार्थियों के मन में अपनी इच्छा से ही उसके प्रति पूज्य भाव प्रकटित होते हों ऐसी योग्यता जिसमें हो वही मनुष्य शिक्षक पद के योग्य हो सकता है। ७७।

जिनके देखने से बालकों का मन यमराज को देख रहा हो ऐसा भयभीत न हो किन्तु अपने पूज्य पालक को देख रहा है ऐसे प्रेम से प्रफुल्लित और प्रसन्न हो उसी तरह जिसके हित वचन और शिक्षा वचन ऐसी शैली से निकलते हों कि बालक अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक उन्हें मान्य करें और उन्हें सुनने के लिये अति उत्सुक रहें। जिनके निर्दोष चाल चलन से आकर्षित हुये विद्यार्थी उन्हें स्वतः ही हर्ष पूर्वक गुरु भाव से मानते रहें ऐसे विद्यार्थी समुदाय को माननीय और उपरोक्त योग्यता-वाले मनुष्य बालकों को शिक्षा देने योग्य शिक्षक हो सकते हैं। ७८।

विवेचनः—गुरु की ओर शिष्य का पूज्य भाव और शिष्य की ओर गुरु का वत्सल भाव इन दोनों गुणों से एक विद्यार्थी अपने अभ्यास में जितना सफल हो सकता है उतना सफल अपने में चाहे जैसी तीव्र बुद्धि हो और गुरु में चाहे

जितना ज्ञान भरा हो तो भी सफलीभूत नहीं हो सकता। इस कारण से गुरु की योग्यता ऐसी होनी चाहिये कि जिससे शिष्य उनकी ओर पूज्य भाव रक्खें। शिष्य का पूज्य भाव प्राप्त करने के लिये प्रथम गुरु में शिष्य की ओर पुत्रवत् वत्सल भाव होने की आवश्यकता है। जो गुरु शिष्यों का आकर्षण अपनी अतुल विद्वता से अथवा चमचमाती हुई साड़ी से करते हैं वे गुरु वत्सल भावों की न्यूनता से अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। इस सबब से गुरु में अनेक शांत और सरल गुणों के होने की ज़रूरत है। जिस तरह बालक की भविष्य की ज़िन्दगी को गढ़ने वाले माता पिता हैं उसी तरह शिक्षक भी है और शिक्षक के बोध तथा चाल चलन की छाप बालक पर पड़ती है क्योंकि प्रत्येक विद्यार्थी के लिये नीतिमान शिक्षक होना आवश्यक है। जो शिक्षक असत्यवादी, अप्रामाणिक और खराब व्यवहार वाला होता है तो शिष्य भी उसके वर्तावानुसार वर्तात्र करने में दोष नहीं समझता, इसलिये शिक्षक सद्‌गुण युक्त ही होना चाहिये। मोन्तेन ने कहा कि "बालकों के सगे सम्बन्धियों को मैं विज्ञापन देता हूँ कि वे ज्ञान सम्पन्न शिक्षक ढूढ़ने के बदले सुवृत्त शिक्षक ढूँढ़ने के लिये अधिक फिक्र करें। हाँ जो दोनों गुणों युक्त शिक्षक मिल जाँय तो ढूंढ़ निकालें परन्तु इन दोनों वर्ग के शिक्षकों में से केवल ज्ञान सम्पन्न शिक्षक की अपेक्षा सब से श्रेष्ठ व्यवहार वाले और विनय शील शिक्षक को पसन्द करना श्रेष्ठ होगा।" इस कथन का सारांश यह है कि एक शिक्षक में जिन प्रधान गुणों के होने की आवश्यकता है वे आंतरिक सद्‌गुण हैं उनमें कम या ज़्यादा विद्वता हो उस पर ध्यान देना प्रधानता नहीं परन्तु गौणता है। आज कल उच्च परीक्षाएं पास कर विद्वान बने हुये शिक्षकों को पाठशालाएं

सौंपना पसन्द किया जाता है परन्तु उनके गुणों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता यह कायदा शिक्षक को चुनने के लिये ठीक नहीं है। गुरु बनने का धंधा अति पवित्र और पुण्य कारक है, यह धंधा करने से कुछ अतुल धन सम्पत्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती परन्तु यह धंधा भविष्य की प्रजा का हित करने वाला होने से ही सब धंधों के सिरपर आरूढ़ होता है। गुरु के निर्वाह के लिये उन्हें न्यूनाधिक द्रव्य मिलना आवश्यक है परन्तु वह धन उनके श्रम के प्रमाण में पूर्ण नहीं मिलता। एक बालक को नीतिमान, सदाचारी, उच्च भावना-युक्त और विद्वान बनाने वाले गुरु को तो अतुल राज्य सम्पत्ति दी जाय तभी उसका उन्हें पूर्ण बदला दिया गया समझा जाता है। परन्तु इतना धन उन्हें न मिले तो भी वे असंतुष्ट न होकर संसार के हितार्थ यह धंधा कर रहे हैं ऐसा समझना चाहिये। जो इस हित दृष्टि से ही गुरु का धंधा करते हैं वेही सच्चे गुरु और महात्मा गिने जाने योग्य हैं। नहीं तो धन प्राप्ति तो अनेक दुष्ट धंधों से भी हो सक्ती है और धन कुछ भी महत्व की चीज़ नहीं, गुरु में एक गुण की विशेषतयाः ज़रूरत है कि वह शांत प्रकृति और मधुर वचन की है। शांति पूर्वक और मीठी वत्सल वाणी द्वारा गुरु अपने शिष्य को जो कुछ ज्ञान या विद्या दे सक्ता है वह उसे भय से या दण्ड से नहीं दे सक्ता। जिस गुरु को देखकर शिष्य डरते हैं उस गुरु को शिष्य अपना शत्रु समझते हैं और वह शत्रु चाहे जैसी हितकारक विद्या देता हो तो भी शिष्यों की संकुचित हुई वृत्ति, उस विद्या को ग्रहण करने में कभी तत्पर नहीं हो सक्ती और वे गुरु की ओर पूज्य भाव भी नहीं रख सक्ते। मनुस्मृति में कहा है कि:—

अहिंसयैव शिष्याणां कार्यं श्रेयोनुशासनम्।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्म मिच्छता ॥

अर्थात्:—धर्मकी चाह करनेवाले विद्या गुरु शिष्यों को बिना पीटे अच्छा उपदेश देकर पढ़ावें और बचन भी धीमे और मीठे बोलें।

गुरु की उत्तम पदवी दुखदाई होने पर भी कितनी कल्याण-कारी है उसका एक दृष्टांत महाभारत के आदि पर्व में द्रोणा-चार्य का दिया हुआ है। द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा एक समय दूसरे धनवानों के पुत्रों को दूध पीते देखकर अपने को दूध न मिलने से रोने लगा। द्रोणाचार्य ने गाय प्राप्त करने के लिये बहुत प्रयत्न किया परंतु कहीं गाय मिली नहीं फिर दूसरे बालकों ने अश्वत्थामा की हँसी की और दूध जैसा चावल का पानी उसे पिलाया परंतु अश्वत्थामा मन में दूध पिया समझ कर आनंदित हो नाचने लगा। इससे लोग अश्वत्थामा के पिता गरीब द्रोण को धिक्कारने लगे तब द्रोणा-चार्य ने मन में सोचा कि "मैं ब्राह्मणों से त्याज्य हुआ और निंदित हुआ, अस्तु, इनसे दूर रहूंगा परंतु धन के कारण पापिष्ठ पर सेवा तो कभी न करूंगा।" बालकों को विद्याभ्यास कराने का उद्योग द्रोणाचार्य ने फिर प्रारंभ किया परंतु दूध के लिये रोते हुए बालक की दया से घबराकर धन के लिये नौकरी चाकरी स्वीकृत करना योग्य नहीं समझा। कारण कि शिक्षा-गुरु का धंधा धनवानों के धन की अपेक्षा विशेष मान-प्रद और पवित्र है ऐसा वे समझते थे। इसलिये इस उत्तम पद को सार्थक कर सकें वैसाही शिक्षकों को व्यवहार रखना चाहिये यही उनका परम धर्म है। ७७। ७८।

[उक्त गुणों युक्त अर्थात् योग्य शिक्षक न हो तो शिष्य को कैसी अनिष्ट शिक्षा मिलती है वह दिखाते हैं]

योग्य शिक्षकंविना शिक्षण निष्फलता। ७६।

शिक्षा सा सफला भवेत्सुनिपुणैःप्राज्ञैर्जनैर्निर्मिता।
शिष्टो नो यदि शिक्षको भवति सा शिक्षा पुनर्निष्फला॥
बालाः सन्त्यनुकारिणः प्रकृतितः पश्यन्ति यद्यत्स्वयं।
मान्ये मुख्य जने तथाऽनुकरणे प्रायो यतन्ते स्वयम्॥

योग्य शिक्षक के विना शिक्षा की निष्फलता।

भावार्थः—शिक्षा में प्रारंभिक पुस्तकें चाहे जैसी उच्च दर्जे की हों और चाहे जैसे शास्त्रवेत्ता देशकाल रूप प्राज्ञ पुरुषों की रची हुई हों तथापि वे स्वतः निर्जीव होने से शिक्षक के मार्फत ही शिक्षा पूर्ण होती है अर्थात् उस शिक्षा की सफलता शिक्षक की शिष्टता-योग्यता पर निर्भर है। जो शिक्षक शिष्टता संपन्न योग्य न हो तो उच्च दर्जे की पुस्तकों के अंदर भरी हुई शुभ शिक्षा पद्धति भी प्रायः निष्फल हो जाती है कारण कि बालकों की प्रकृति प्रायः अनुकरण शील रहती है। वे माननीय मुख्य मनुष्य का चरित्र अच्छा हो या खराब हो उसे अच्छा ही समझ उसकी नकल करने की कोशिश जल्द ही करने लगते हैं अर्थात् उच्च शिक्षा का बालकों के मगज पर जो असर होना चाहिये वह असर नालायक पाठकों के विरुद्ध वर्ताव देखने से और उसकी नकल करने से नहीं होता इस लिये शिक्षक पूर्ण योग्यता वाला होना चाहिये। ७८।

विवेचनः—पूर्व कहा है कि एक शिक्षा जो गुरु के समान सब योग्यता रखती है वह शिष्य के मगज पर शुभ छाप बिठा सकी है। इसके विरुद्ध शिक्षक चाहे जैसा विद्वान हो परंतु जो शिष्टता योग्यता वाला न हो तो उनके द्वारा शिष्य को प्राप्त

हुआ शिक्षण निष्फल ही जाता है। कारण कि पुस्तकें पढ़ने से मगज जितनी त्वरा से बोध ग्रहण कर सकता है उससे अधिक त्वरा से शिष्य की आँखें शिक्षक के सदासद्वर्तन, और उसके कान मीठी या कटुवाणी का सुबोध कुबोध ग्रहण करते हैं:—इससे पुस्तकों में भरे हुए ज्ञान की अपेक्षा शिक्षक के चरित्र द्वारा दिया हुआ ज्ञान विशेष असर कारक होता है। और इससे बालक को शिक्षा देने का क्रम आरंभ करने के पूर्व योग्य शिक्षक चुनना न भूलना चाहिये। पुत्रों को विद्वान, विनयी, और आज्ञांकित बनाना हो तो उन्हें योग्य शिक्षकों के हाथ में सौंपना चाहिये (७९)

[विद्याभ्यास में योग्य शिक्षक मिलने पर शिष्य में कितने दोष होने से शिक्षण क्रम में विघ्न उपस्थित होते हैं उन दोषों का निम्न श्लोक में निदर्शन किया है]

शिक्षणान्तरायाः । ८० ।

निद्रायां कलहे तथा प्रलपने हास्ये प्रमादे पुनः ।
क्रीडायां भ्रमणे वृथा विवदेन नाट्यादि सम्प्रेक्षणे ॥
चापल्ये विषयेषु यः सु समयं बाल्ये क्षिपेत्सन्ततं ।
विद्यां साधयितुं क्षमो न स भवेद्रोगी च योगं यथा ॥

भावार्थ:—जो विद्यार्थी बातूनी होकर हर किसी से बातें करने में या गप्पे सप्पे सुनने में अमूल्य समय नष्ट करते हैं आनन्द मोद की लहरों में ही रात दिन मन को टकराते हैं जहाँ तहाँ चारों ओर परिभ्रमण करते फिरते हैं आलसी प्रमादी और ऊंघते रहते हैं खानपान और विषय विलास में लुब्ध रहते हैं और चित्त की चंचलता रखते हैं वे 'विद्यार्थी सचमुच में मूर्ख ही रहते हैं जिस तरह बातूनी, खिलाड़ी,

प्रमादी, चपल और विषयासक्त भोगी योग क्रिया नहीं साध सक्ता उसी तरह उपरोक्त टेव वाले विद्यार्थी विद्या का सम्पादन नहीं कर सके इस लिये विद्यार्थियों को वातें, क्रीड़ा, परिभ्रमण, आलस्य, विषया सक्तता और चपलता इत्यादि जो २ शिक्षा में अंतराय देने वाले दोष हैं उनसे अलग रहना चाहिये। ८०।

विवेचनः—शिक्षा के योग्य सब सामग्री उपलब्ध होने पर भी उसमें कितने हो विघ्नों का उपस्थित होना संभव है। ये विघ्न शिष्य के ही दोष रूप गिने जाते हैं। विद्यार्थी के धर्म को नहीं समझने वाले शिष्य विद्याभ्यास के लिये गुरु के पास रहने पर भी अनेक प्रकार के दोष कुसंगति आदि दुर्गुणों के असर से धारण कर लेते हैं और वे दोष अभ्यास में अंतराय दे देते हैं। इस श्लोक में एक विद्यार्थी की और योगी की स्थिती की समानता दिखाई है। 'विद्याभ्यास' भी एक प्रकार का योग है और इस योग की साधना में भी विद्यार्थी को योगी के गुण ही धारण करने पड़ते हैं। वार्तप्रलापी, रमनेवाले, प्रमादी, चपल और विषयासक्त मनुष्य अर्थात् भोगी मनुष्य योग की क्रियाओं में स्थिर नहीं रह सक्ता और योग की पंक्तियों में बहुत परिश्रम से जो थोड़ी सी सीढ़ियां चढ़ता भी है तो पुनः भ्रष्ट होकर पतित हो जाता है। उसी तरह विद्यार्थी भी उक्त दोषों के कारण विद्याभ्यास में स्थिरता प्राप्त नहीं कर सक्ता। अति परिश्रम से वह थोड़ा अभ्यास करता है परन्तु पुनः प्रमाद, विषया-सक्ति इत्यादि दोषों में लिप्त होने से वह सब सीखा हुआ भूल जाता है और विद्याभ्यास में अधः पतित हो जाता है 'चाणक्य नीति में भी ऐसे ही आठ दोष प्रत्येक विद्यार्थी को छोड़ने के लिये कहा हैः—

कामं क्रोधं तथा लोभं स्वादु शृंगार कौतुकम्।
आलस्य मतिनिद्रां च विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत्॥

अर्थात्:—विद्यार्थियों को कामवासना, क्रोध, लोभ, स्वाद, शृंगार, नाचरंग, आलस्य और अति निद्रा इन आठों का त्याग करना चाहिये। इन दोषों के त्यागने की आज्ञा इस लिये दी है कि इनसे अभ्यास में एकाग्रता नहीं रह सकी। उद्यम और एकाग्रता ये दोनों अभ्यास के मुख्य लक्षण हैं और इन दोनों लक्षणों को हानि पहुंचाने वाले जो २ दोष हैं उन्हें अगर दूर न करें तो विद्याभ्यास में अंतराय पड़ती है। विद्यार्थियों के धर्म को भूल कर खराब रस्ते पर जाने वाले विद्यार्थी चाहे जैसे बुद्धिमान हों तो भी उद्यम और एकाग्रता के अभाव से वे अपने अभ्यास में कभी सफलता नहीं पा सक्ते। ८०।

[शिक्षा में विघ्न रूप पड़ने वाले दोषों का वर्णन होगया। अब इसे मदद रूप होने वाले साधन कहां २ हैं वे दिखाते हैं]

शिक्षण साधनानि ॥ ८१ ॥

एकान्तस्थल सेवनं व्यवहृतौ नैश्चिन्त्य सम्पादनम्।
व्यर्थोपाधि विवर्जनं स्वविषयादन्यस्य नो प्रेक्षणम्॥
चित्तैकाग्र्यसमार्जनं त्रिकरणैर्वीर्यस्यसंरक्षणं।
योगस्येव सुशिक्षणस्य कथयन्त्यङ्गानि चैवं बुधाः॥

शिक्षा के साधन रूप अंग

भावार्थ:—योगियों को योग के मार्ग में जिन साधनों की ज़रूरत है उन्हीं साधनों की विद्यार्थियों को विद्या प्राप्त करने में प्रायः आवश्यकता पड़ती है। जिस तरह कि योगियों को योग साधने के लिये मनुष्यों की जहां आवाज न हो ऐसे

एकान्त स्थल की ज़रूरत होती है, उसी तरह विद्यार्थियों को भी पाठ करने के लिये वैसे ही शांति दायक एकान्त स्थल की आवश्यकता रहती है, योगियों को मन की स्थिरता के लिये निश्चिन्तता की ज़रूरत है, विद्यार्थियों को भी वैसा ही निश्चिंतता प्राप्त करनी चाहिये नहीं तो सीखे हुए पाठ भूल जाते हैं।

योगियों को, धन, स्त्री इत्यादि उपाधिएं योग भ्रष्ट कर देती हैं इस लिये इन उपाधियों को दूर करना चाहिये उसी तरह विद्यार्थियों को भी इस अवस्था में इन उपाधियों की खटपट से दूर रहना चाहिये योगियों को योगके साधनके सिवाय दूसरे विषय की ओर चित्त न दौड़ाना चाहिये उसी तरह विद्यार्थियों को भी अभ्यास में प्रचलित विषयके सिवाय दूसरे विषय में चित्तवृत्ति न दौड़ानी चाहिये। योगियों को चित्त की एकाग्रता प्राप्त करना चाहिये, उसी तरह विद्यार्थियों को पाठ याद करने के लिये एकाग्रता रखना चाहिये। योगियों को योग बल प्राप्त करने के लिये मन, वचन, काया से ब्रह्मचर्य का रक्षण करना चाहिये, उसी तरह विद्यार्थियों को भी विद्यार्थी अवस्था में विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालना चाहिये। ये साधन जिस तरह योग के अंग हैं उसी तरह विद्या साधन के भी अंग हैं। इस लिये विद्यार्थियों को इन साधनों का त्याग न करना चाहिये (८१)

विवेचनः—पूर्व श्लोक की तरह इस श्लोक में भी विद्यार्थी की अवस्था एक योगी की अवस्था के साथ मिलाई गई है। विद्यार्थी को विद्याभ्यास करने में जो विघ्न आते हैं वे ही विघ्न योगी को योग क्रिया में अंतराय भूत होते हैं। इस पर से यह तो स्पष्ट ही है कि जो साधन योगी को योग साधन में सहायरूप दिखते हैं वे ही साधन विद्याभ्यास करने में भी

सहायक होने चाहिये सारांश यह कि एक योगी की तरह विद्यार्थी को भी इन साधनों को प्राप्त करना चाहिये अभ्यास के लिये एकान्त में बैठना, निश्चिंतता प्राप्त करना, स्त्री प्रभृति संसार की उपाधियों से दूर रहना, अन्य विषय की ओर जाती हुई चित्त वृत्ति को रोक कर ऐकाग्रता सम्पादन करना, और अखण्ड ब्रह्मचर्य पालना ; इन मुख्य साधनों का विद्यार्थियों को सेवन करना यही उपदेश इस श्लोक में दिया है। विद्यार्थियों को कितनी ही आदतें डालने की आवश्यकता है जैसे हमेशा जल्द उठना, व्यर्थ समय न खोना, निरन्तर उद्यमी रहना, इत्यादि, परन्तु ये सब धर्म पूर्व श्लोक में तथा इस श्लोक में दिखाये हुए विषयों में समा जाते हैं अभ्यास के लिये एकान्त स्थल प्राप्त करते समय यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि "एकान्त विकारका उत्पादक है"। और विशेष कर चंचल वृत्ति के विद्यार्थियों को अकेले रहने की अधिक आदत के कारण विकार के भेट होना पड़ता है। परन्तु जो विद्यार्थी सिर्फ अभ्यास के लिये ही एकांत ढूंढते हैं और दूसरा समय भी एकान्त में आलस्य के वश बैठ कर नहीं बिताते परंतु मित्रों के सहवास में बिताते हैं वे ही विकारी विचारों से भिन्न रह सकते हैं। इस श्लोक में 'एकान्त' को शिक्षा के साधन रूप समझा है अर्थात उसका उपयोग जो अभ्यास करने में ही करना हो तो एकान्त में रहना चाहिये। परंतु विचार तरंगों को दौड़ाते एकान्त में प्रमादी बन कर पड़े न रहना चाहिये नहीं तो 'एकान्त विकार का जन्मदाता' बन कर दर्शन देता है। एकान्त, निश्चिंतता, निरुपाधिक स्थिति, अन्य विषय तरफ से चिद्वृत्ति की रोक और अखंड ब्रह्मचर्य, ये सब साधन 'चित्त की एकाग्रता, और उद्यम रूपी मुख्य साधनों के ही उपसाधन हैं और ये मुख्य साधन सम्पादन करने में ही इन उपसाधनों

का उपयोग विद्यार्थियों को करना चाहिये, अन्य रीति से नहीं (८१)

पंचम परिच्छेद ।

ब्रह्मचर्य ।

[विद्यार्थी अवस्था के कर्तव्यों की सफलता के लिये जो धर्म विद्यार्थी को पालना चाहिये उन में मुख्य धर्म 'ब्रह्मचर्य रक्षा है' इस परिच्छेद में यह विषय विस्तार पूर्वक समझाया है और विद्यार्थियों को बाल्यावस्था में लग्न न करने का आग्रह किया है]

ब्रह्मचर्य रक्षणम् । ८२ ।

कालो वत्सर पञ्चविंशतिमितो विद्यार्थमाजन्मतो ।
मस्तिष्कादिविकाशगात्र रचना कालोपि तावान् पुनः
तस्मिंस्तेन सुरक्षणीयमनघं सद्ब्रह्मचर्य व्रतं ।
तद्भङ्गे किल सम्भवन्ति बहवो दोषा महा दुःखदाः ॥

ब्रह्मचर्य भंगे पोषणा पेक्षया घर्षणाधिक्यम् ॥ ८३ ॥

अन्नाद्रक्त मतोपि वीर्य मुचितं तस्मात्तनोः पोषणं ।
तस्माच्चैव मनोबलं दृढतरं सञ्जायते देहिनाम् ॥
तद्वीर्यं यदि रक्ष्यते न मनुजैर्बाल्ये विवाहाच्चदा ।
दौर्बल्येन शरीर बुद्धि मनसा शीघ्रं भवेत्सङ्क्षयः ॥

ब्रह्मचर्य की रक्षा ।

भावार्थ—बालक की पच्चीस वर्ष की उम्र हो वहां तक का काल साधारण रीति से विद्यार्थी अवस्था का गिनते हैं और मनुष्य के मस्तिष्क का विकास और शरीर के अंग भी अधिकता से इस समय तक ही प्रफुल्ल होते हैं। अर्थात् इस समय में खिलते हुए अंगों का पोषण करने के लिये और अभ्यास से थकित हुए मगज की पुष्टि के लिये लोही का सत्व जो वीर्य है उसकी रक्षा की विशेष आवश्यकता है; इसलिये विद्यार्थियों को विद्यार्थी अवस्था तक निर्मल भाव से अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। जिन्हें दुर्भाग्य से अपनी इच्छानुसार या माता पिता की कृपा से विद्यार्थी अवस्था में ब्रह्मचर्य भंग करने का समय आ जाता है अर्थात् जिनका विवाह बाल्यावस्था में हो जाता है उन्हें शारीरिक और मानसिक महा दुःखदायक अनर्थों के साथ अधिक हानि पहुंचना संभव है॥ ८२॥

ब्रह्मचर्य के भंग से पोषण होने की अपेक्षा निर्बलता की अधिकता।

ऐसे कठिन अभ्यास के भार से कि जिस में मगज पच्ची करना पड़े मगज को अधिक धक्का लगता है और जैसे २ अभ्यास का परिश्रम बढ़ता जाता है वैसे २ मस्तिष्क का धक्का भी बढ़ता जाता है। जितने प्रमाण में मस्तिष्क को धक्का पहुंचे उतने से अधिक उसे पोषण मिलना चाहिये। धक्के की त्रुटि पूर्ण कर मगज को पोषण देनेवाला जो कुछ तत्त्व है तो वह वीर्य है। इसलिये इसकी सर्वथा रक्षा होनी चाहिये। जो ऐसा हो तो जीवन की आबादी और मगज की परिस्थिति को प्रायः धक्का नहीं पहुंचता परन्तु मगज और शरीर का

पोषण करनेवाले वीर्य तत्त्व को जो अपरिपक्व दशा में किसी भी तरह हानि पहुंचना संभव हुआ तो फिर मगज का पोषण होना तो दूर रहा परन्तु रक्षा होना भी कठिन हो जाता है।८३।

विवेचनः—वीर्य का जितना सम्बन्ध मनुष्य की स्थूल देह के साथ रहता है उसी तरह मानसिक शक्ति के साथ भी रहता है। जो बद्धवीर्य अर्थात् विशुद्ध ब्रह्मचारी होते हैं उनकी शारीरिक सम्पत्ति अच्छी रहती है। इतना ही नहीं परन्तु उनका मस्तिष्क (मगज) भी ताजा रहता है। उनके विरुद्ध जो अखंड ब्रह्मचर्य का सेवन नहीं कर सकते उनकी शारीरिक तथा मानसिक शक्ति दिन २ क्षीण होती जाती है। इस सबब से ही वीर्य को शरीर का तथा मस्तिष्क का राजा कहा है। वीर्य सम्पूर्णता से परिपक्व होने का समय आरोग्य शास्त्र के विद्वानों ने २५ वर्ष तक का गिना है और उन्हीं का अनुकरण कर विद्वानों ने उपदेश दिया है कि विद्यार्थियों को प्रथमावस्था में विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालना चाहिये इस अवस्था में जो विद्यार्थी ब्रह्मचर्य नहीं पाल सकते तो वे शारीरिक स्वास्थ्य का अनुभव भी नहीं ले सकते। उसी तरह उनकी मानसिक शक्ति क्षीण होने के साथ साथ स्मरण शक्ति कम होते २ नष्ट होजाती है और विद्याभ्यास भी बराबर नहीं हो सक्ता। सतेज स्मरण शक्ति विना विद्याभ्यास में यथेष्ठ प्रगति नहीं हो सक्ती। इस लिये जिस वीर्य का शारीरिक तथा मानसिक शक्ति के साथ निकट का सम्बन्ध है उसका क्षय अपरिपक्व दशा में—(प्रथमावस्था में बाल्यवय में) तनिक भी न होने देना चाहिये। विद्याभ्यास से स्मरणशक्ति पर भार गिरता है यह तो ठीक ही है परन्तु इस भार से मस्तिष्क को—मगज को जो कुछ धक्का पहुंचता है वह धक्का ब्रह्मचर्य पालन से वीर्य के दुर्व्यय न होने से पूर्ण

होजाता है और पुनः मस्तिष्क और स्मरणशक्ति ताजी हो जाती है और ताजी ही रहती है।

ऐसे विद्यार्थी हमेशा विद्याभ्यास करने के लिये सर्वथा योग्य ही रहते हैं। परन्तु एक तरफ विद्याभ्यास से मगज की और स्मरण शक्ति को धक्का लगाती है और दूसरी तरफ वीर्य के दुर्व्यय से इस धक्के की त्रुटि के पूर्ण होने के बदले यह खामी बढ़ती जाती है तो उनका मगज विद्याभ्यास के लिये पुनः ताजा बना रहना कभी संभव नहीं। इस कारण से विद्याभ्यास का और ब्रह्मचर्य का तथा गृहस्थाश्रम का एक साथ निभना कठिन है। शुक्रनीति में कहा है कि 'विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात्' अर्थात् विद्याभ्यास के लिये तो ब्रह्मचारी ही रहना चाहिये। उपरोक्त दो श्लोकों में के प्रथम श्लोक में ग्रंथकार ने 'ब्रह्मचर्य व्रतम्' इस शब्द के प्रयोग के पूर्व अनघम् अर्थात् 'निर्मल' 'निष्पाप' और 'सद्' अर्थात् 'अच्छा' ऐसे जो विशेषण रक्खे हैं ये दोनों विशेषण कितने ही विशिष्ट अर्थ के वाचक हैं 'ब्रह्मचर्यका अर्थ 'वीर्य व्यय नहीं करना' इतना ही नहीं होता, मन वचन, और काया से ब्रह्मचर्य पालना यही ब्रह्मचर्य है और इसी अर्थ में अब अब 'अनघ' और 'सद्' ब्रह्मचर्य को समझ लेना चाहिये काया से ब्रह्मचारी न रह सके तो मगज और शरीर का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता इसी तरह मन और वचन से जो ब्रह्मचर्य न पाला जाय तो चित्त की एकाग्रता नहीं रहती और व्यग्र चित्त वाला विद्यार्थी विद्याभ्यास के लिये अयोग्य रहता है इस कारण से ब्रह्मचर्य के विरोधी विचारों को मस्तिष्क में स्थान भी नहीं देना चाहिये और जो ऐसी बातें करते हैं उनके पास भी न रहना चाहिये तथा ऐसी भाषा का उपयोग भी नहीं करना चाहिये। मानसिक और वाचिक ब्रह्मचर्य नहीं पाल सकने वाले जवान विद्यार्थी

शरीर से ब्रह्मचर्य पालते हैं तो भी उनके मगज को तथा शरीर को शारीरिक अब्रह्मचर्य के बराबर धक्का पहुंचता है शारीरिक अब्रह्मचर्य्य पालने पर भी यह हानि कौन करता है ? पहिले के अब्रह्मचर्य सम्बन्धी विचार ही। मनुस्मृति में विद्यार्थियों को त्यागने योग्य प्रसंगों में 'स्त्रीणां च प्रेक्षणालंभ' अर्थात् स्त्रियों के सामने देखना तथा उनका आलिंगन करना ये प्रसंग भी लिये हैं। विकार जनक नाटक देखना, ऐसी ही पुस्तकें पढ़ना, इत्यादि। सब प्रसंग अब्रह्मचर्य के प्रावेशिक मार्ग हैं और इस लिये ऐसे प्रसंगो से हमेशा विद्यार्थियों को सर्वथा दूर रहना चाहिये एक अंग्रेज कवि ने विद्यार्थी को सम्बोधन कर कहा है कि—

"सब से पहिले तुझे संसार मार्ग में विचरता हुआ आनन्द का सुन्दर और मधुर झुंड लुभावेगा कि जिसमें 'घातकी विकार' की भयंकर और बलवान सेना खड़ी रहती है।" इस घातकी विकार के लश्कर से जिन विद्यार्थियों का मगज नहीं हारता वेही विद्यार्थी विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन कर सके हैं और वेही विद्यार्थी विद्याभ्यास में सम्पूर्ण रीति से लाभ प्राप्त कर सके हैं। (८२-८३)

[विद्यार्थी अवस्था में विद्यार्थी पर अब्रह्मचर्य का प्रसंग कब आता है ? बाललग्न होने पर। इस बाल लग्न से होती हुई भयंकर हानि का ग्रंथकार बाचक वृंदों को दिग्दर्शन कराते हैं]

बाललग्न परिणामः।

विद्याभ्यास परिश्रमेण मनसः सङ्घर्षणश्चैकतो।
हानिर्बाल विवाहतो ह्यपरतो वीर्यस्य चेज्जायते ॥
मृत्युर्यक्ष्ममहागदः प्रति पलं संप्रेक्षते तत्पथं।
विद्याशा नु वृथैव येन वपुषो नाशः पुरो दृश्यते ॥

हिन्दी कर्त्तव्य-कौमुदी के द्वितीय खण्ड की विषयानुक्रमणिका।

प्रथम परिच्छेद।

द्वितीय परिच्छेद।

तृतीय परिच्छेद।

चतुर्थ परिच्छेद।

पंचम परिच्छेद ।

षष्ठ परिच्छेद ।

सप्तम परिच्छेद ।

अष्टम परिच्छेद ।

नवम परिच्छेद।

दशम परिच्छेद।

एकादश परिच्छेद।

द्वादश परिच्छेद।

त्रयोदश परिच्छेद ।

चतुर्दश परिच्छेद ।

पंचदश परिच्छेद ।

षोडश परिच्छेद ।

इति द्वितीय खण्ड समाप्त ।

कर्तव्य-कौमुदी।

द्वितीय खंड।

समस्त जीवन की चार अवस्थाओंके चार भाग कर प्रत्येक अवस्था के प्रमुख कर्तव्य का उपोद्घातिक कथन विस्तार के साथ प्रथम खंड में समझाया है और साथ ही चारों अवस्थाओं में एकसा व्यवहार हो ऐसा सामान्य कर्तव्य भी इसी खंड में विस्तार के साथ कहा है अब 'विशेष कर्तव्य' के उल्लेख का प्रारंभ करते हैं। और क्रमानुसार प्रथम बाल्यावस्था के विशेष कर्तव्य की विवेचना करते हैं प्रथम खंड में जो कर्तव्य निर्देश है उसे 'सामान्य कर्तव्य' इसलिये कहा है कि वह कर्तव्य प्रत्येक अवस्था में पालन करने योग्य है और 'विशेष कर्तव्य' भी उन्हीं अवस्थाओं में उपयोगी होता है। इसका सम्बन्ध दूसरी अवस्थाओं के कर्तव्यों के साथ नहीं रहता कदाचित रहता है तो भी न्यून।

'शिक्षण' यह प्रथमावस्था का प्रमुख कर्तव्य है। अपन सामान्यतः संसार में शिक्षा का प्रारंभ जिस समय से गिनते हैं उस समय के बहुत ही पहिले से उसका प्रारंभ होना ग्रंथकार समझते हैं। अपन सामान्यतः मानते हैं कि एक बालक एक आध वर्ष का होकर बुद्धि के चमत्कार कुछ २ ध्यान में लाने लगता है तब से उसका शिक्षण-काल प्रारंभ हो सक्ता है। पश्चात्य विद्वानों ने इतनी छोटी उम्र के बालकों को शिक्षा देने के लिये 'किंडर गार्टन' अथवा 'बालोद्यान' की

पद्धति निकाली है। अर्थात् इसी उम्र से बालक का शिक्षा-काल प्रारंभ होता है। अथवा लोग उस बालक को जब से पाठशाला में पढ़ने के लिये भेजने लगते हैं तब से उस की शिक्षा प्रारंभ हुई ऐसा समझते हैं। परंतु ऐसा मानना एक भूल है। 'किंडर गार्टन' से बालक को शिक्षा दी जाती है उस के प्रथम ही वह बालक शिक्षा प्रारंभ कर चुका है। ग्रंथकार कहते हैं कि बालक गर्भ में रहता है तब ही से वह मनुष्य दृष्टि से गुप्त रूप शिक्षा प्राप्त करता है। 'मोन्तेन' नामक एक फ्रेन्च लेखक कहते हैं कि "मानव जीवन के लिये जितने शास्त्र हैं उन सब शास्त्रों से गहन तथा महत्व का शास्त्र बाल-शिक्षा का है कारण कि कृषि विद्या सम्बन्धी शास्त्र कहता है कि वृक्षारोपण होने बाद अथवा उसके प्रथम से की हुई सब विधि जो कि निश्चित, सुस्पष्ट और सरल है तो भी बीज बोने के पश्चात् वह फूटकर निकले उसके पहिले तक जिस तरह कई क्रियाएं करनी पड़ती हैं और वह बीज सम्पूर्णता से अंकुरित होकर पूर्णता से वृक्षाकार में आता है तब तक उसकी उपाधियें दूर करने की आवश्यकता होती है इसी तरह सब विधि मानव जीवन के लिये भी करनी पड़ती है।" ये शब्द बीजारोपण के साथ ही शिक्षा का प्रारंभ होता है ऐसा स्पष्ट कह रहे हैं। इससे गर्भ में रहे हुए बालक की माता को बालक में उच्च संस्कार भर उसे उत्तम शिक्षा देनी चाहिये तथा उसके आचार विचार का असर गर्भ पर किस प्रकार पड़ता है। उस समय की शिक्षा ही इस खंड के प्रारंभ में है।

प्रथम परिच्छेद।

गर्भ संस्कार।

गर्भ संस्काराः ॥६३॥४॥

वाले गर्भगते तदीय जननी चेत्सेवते दीनतां।
वालो दीनतरो भविष्यति तदा शूरश्च शौर्यं यदि॥
यद्येषा कलहं करोति नितरां स क्लेशकारी तदा।
तुष्टास्याद्यदि सा भविष्यति तदा पुत्रः प्रसादान्वितः॥
धर्मं वांच्छति गर्भिणी यदि तदा पुत्रो भवेद्धार्मिको।
भोगान् वांच्छति चेत्तदेन्द्रिय सुखासक्तो विलासी भवेत्॥
विद्यां वांच्छति चेत्तदा प्रतिदिनं विद्याभिलाषी भवे-
त्सच्छास्त्र श्रवणं करोति यदि सा पुत्रोपि तादृग भवेत॥

गर्भ के संस्कार से शिक्षा का प्रारंभ।

भावार्थः—जब वालक गर्भ में आता है तब उस वालक की माता जो दीनता दिखाकर जहां तहां रोने रोया करती है तो उस वालक के मगज़ में भी दीनता के संस्कार पड़ते हैं और उससे भविष्य में वह वालक भी प्रायः जहां तहां रोने रोया करता है। जो वालक की माता हिम्मत के विचार और वहादुरी के कार्य करती है, तो शौर्य के संस्कार से वह वालक भी शूर होता है। जो वह गर्भ के समय किसी से क्लेश व द्वेष करती है, तो वालक भी कलह प्रिय और द्वेषी होता है जो वह उस समय हमेशा आनंद में रहती है तो

भविष्य में वह बालक भी आनंदी स्वभाववाला होता है; परंतु शोकातुर नहीं होता (६३)

सगर्भावस्था में बालक की माता अहर्निश जो धर्म के विचार किया करती है और धार्मिक कार्य में मशगूल रहती है तो गर्भ स्थित बालक के मगज़ पर धर्म की छाप पड़ती है और भविष्य में वह बालक धर्मिष्ट बनता है जो वह इन्द्रिय विषय सुखों में लीन रहती है और रात दिन ऐसे ही विचार किया करती है तो प्रायः वह बालक भी काम भोगासक्त और विषय विलासी बनता है। जो गर्भिणी विद्याविलासी बन, पुस्तक पढ़ने में या तत्वज्ञान सम्पादन करने में मग्न रहती है तो बालक भी ऐसे ही स्वभाव वाला तत्वज्ञाता और विद्या-विलासी बनता है और जो वह सत्संग, शास्त्र श्रवण करने की मन में उत्कृष्ट रुचि रख ऐसे सत्कार्यों में समय बिताती है तो वह गर्भस्थ बालक भी सत्संग और शास्त्र श्रवण की रुचि-वाला कर्तव्य निपुण बनता है ।६४।

विवेचनः—मानस शास्त्रज्ञ पंडित कहते हैं कि यह सब सृष्टि मन से उत्पन्न होती है। एक चीज़ के या प्राणी का आकार बनने अथवा एक अवयव के उत्पन्न होने का आधार गुप्त मनः शक्ति पर निर्भर है, का और विचार के अनुसार शरीर के घाट और मन की वृत्तियां घड़ी जाती हैं। ऐसी पंडितों की मान्यता का तथ्यांश यह है कि मन की सूक्ष्म क्रियाओं का परिणाम स्थूल रूप से परिणत होता है और वे ही सूत्र गर्भ में रहे हुए बालक को लागू होते हैं। जिस प्रकार के विचारों का पोषण माता की ओर से अपने उदर में रहे हुए गर्भ को प्राप्त होता है, वैसी ही शिक्षा गर्भस्थ बालक को अदृश्य रीति से प्राप्त होती है। उस प्रकार के संस्कार का बीजारोपण गर्भ के बालक के मगज़ में उत्पन्न होता है और

पैदा होने के पश्चात् अनुकूल संयोगों में वे संस्कार विकसित हो, उनका व्यवहार उसी रूप में घटित होता है। गर्भावस्था में माता धर्म के विचार करती है तो वैसे ही संस्कार गर्भ पर गिरते हैं। फिर बालक के जन्म होने के पश्चात् उन गुप्त संस्कारों के विकास के लिये अनुकूल संयोग प्राप्त होते हैं तो बालक की धर्म वृत्ति खिलती है; और भविष्य में वह धर्मिष्ठ मनुष्य होता है। इसी तरह माता विषय सुखाभिलाषिनी होती है तो उसका बालक भी वैसा ही होता है। विद्याविलासिनी होती है तो बालक भी वैसा ही होता है। अगर माता शास्त्र श्रवण की इच्छा किया करती है तो उसकी संतान भी शास्त्र-श्रवण-प्रिय पैदा होती है और इनके विरुद्ध जो वह दीनता-जनक विचार करती है, कलह में दिन बिताती है, तो बालक भी ऐसे ही गुण वाला होता है। संसार के इतिहास में से माता के विचारों के असर से वैसे ही जन्मे हुए अनेक बालकों के दृष्टांत मिल सकते हैं। धर्मिष्ठता का दृष्टांत कवि बर्न्स का है, उस कवि की माता सिर्फ़ गरीब अवस्था में जन्मी थी परंतु उसमें अनेक सद्गुण थे। उसके मन की समतुलना अति विलक्षण थी। उसके धार्मिक विचार अति गहन और स्थिर थे। उसे कई अच्छे गीत पसंद थे और गर्भावस्था में अवकाश के समय को वह मधुर गीत गाकर ही बिताती थी। इससे उसके उदर से कवि बर्न्स का जन्म हुआ। बर्न्स का पिता भी नीति मय और धार्मिक था, गर्भ में अपनी माता के विचारों से जो बर्न्स को धार्मिक शिक्षा मिली थी उसे उसके पिता ने वैसी ही शिक्षा देकर विकसित की और उसके फल से कवि बर्न्स भक्ति रस के उत्तम काव्य करने वाला निकला।

एक स्त्री अत्यंत आलसी, निरुद्यमी तथा जड़ बुद्धि वाली थी। वह निरंतर घर पर बैठी रहती थी और शृंगार रस के

गीत गाकर कालक्षेप करती थी। ऐसी स्थिति में उसके एक पुत्री हुई। वह भी उसकी माता ने गर्भावस्था में उसका जिन विचारों से पोषण किया था उनही विचारों के अनुकूल हुई। एक स्त्री ने उसके पति के साथ क्लेश किया जिससे कितने ही समय तक वह पति से न बोली परंतु उस समय वह गर्भवती थी उसके जो लड़का हुआ वह दूसरे सब स्थान पर या दूसरे सबके सन्मुख हंसता था, बोलता था और खेलता था, परंतु उसके बाप की गोद में जाते ही उसका खेलना हंसना, व बोलना बंद हो जाता था। वह लड़का पांच वर्ष का हुआ तब तक उसके पिताने उसे हंसाने बुलानेका प्रयत्न किया परंतु सब व्यर्थ गया सब तरह से निराश हो जाने पर उसके बाप ने उस लड़के को एक वक्त ऐसा डर दिखाया कि मेरे साथ न बोलने की तू हठ कायम रक्खेगा तो मैं तुझे खूब शिक्षा दूंगा। इस तरह उस लड़के को खूब पीटा परंतु वह लड़का एक शब्द भी मुंह से न बोला। सगर्भावस्था में माता के विचारों का पोषण बालक को इस तरह मिलता है और यह अदृश्य शिक्षा मनुष्य के समस्त जीवन में सब से मुख्य भाग की शिक्षा समझी जाती है। इसलिये जो माताएं अपने बालकों को विद्वान, धर्मप्रिय, सत्संगी, उदार, शूर इत्यादि गुण वाले बनाना चाहती हों तो उन माताओं को अपने गर्भ के बालकों को अपने ऐसे ही उत्तम विचारों से या कार्य रूपी संस्कारों से शिक्षा देनी चाहिये कुपुत्र या दुराचारी संतान को देखकर उन पर क्रोध करने वाली माताओं को समझ लेना चाहिये कि उन्हें यह क्रोध बालकों पर करना योग्य नहीं, परंतु अपने खुद पर ही करना योग्य है, कारण कि गर्भावस्था में अपने बालक को उच्च विचार और उत्तम कार्यों से सुशिक्षा नहीं दी; उसी का यह परिणाम है, (६३-६४)

[माता के विचारों से ही गर्भ को शिक्षा मिलती है इसका कारण क्या? कारण यही है कि उस गर्भ के मगज़ का सम्बन्ध माता के साथ ही रहता है वह यहां दिखाते हैं:]

मस्तिष्कस्यमातासहसंबंधः ।६५।

प्रायो मानव जीवनं वरतरं सद्बुद्धितो जायते ।
सद्बुद्धिस्तु सुसंस्कृताच्छुभतरान्मस्तिष्कतः प्राप्यते ॥
बालस्तन्निजमातुरेव लभतेऽत्रापतः प्रमाणं परं ।
सा माता यदि नोत्तमा शिशु मतौ श्रेष्ठा कथं संस्कृतिः ॥

वालक के मगज़ का माता के साथ सम्बन्ध ।

भावार्थः—मनुष्य के जीवन की श्रेष्ठता का आधार शुभ बुद्धि पर निर्भर है। शुभ बुद्धि होने का आधार मगज़ के शुभतर संस्कार पर निर्भर है और मगज़ में शुभ संस्कार पड़ने का आधार वालक की माता पर निर्भर है। कारण कि वालक के मगज़ का भाग अपनी माता से प्राप्त करता है (यह बात जैन के पवित्र सूत्र भगवती और ठाणांग में श्रीमन्महावीर प्रभु ने स्पष्टता से कही है) जिस माता पर वालक की बुद्धि और समस्त जीवन का आधार निर्भर है। वह माता उच्च कोटि की होनी चाहिये। अगर ऐसी न हो तो उसकी संतति की बुद्धि में शुभ संस्कार कैसे प्रवेश कर सक्ते हैं? निस्सन्देह मुख्याधार पूर्व कर्म पर निर्भर है तथापि पूर्व कर्मोदय भी निमित्ताधीन हैं शुभ निमित्त से शुभ का ही उदय होता है। ६५।

विवेचनः—वालक को माता की ओर से कितने ही अवयव प्राप्त होते हैं और कितने ही अवयव पिता की ओर से प्राप्त होते हैं—पिता और माता दोनों के गुण वालक में प्रवेश

होते हैं यह बात सत्य है परंतु उसको पिता की अपेक्षा कितनी ही विशेष प्राप्ति माता से होती है। ऐसा होने का कारण यह है कि बालक की उत्पत्ति के साथ पिता का संबंध सिर्फ बीजारोपण का है और माता का सम्बन्ध उसे चिर-काल तक पोषण करने का है। यह पोषण जिस तरह माता के शरीर में से मिलता है उसी तरह माता के मगज से और उस मग़ज़ में उपस्थित अनेक प्रकार के विचारों से भी प्राप्त होता है। माता के विचारों का प्रभाव गर्भस्थ बालक पर किस तरह पड़ता है वह पहिले के दो श्लोक में समझा दिया है। बालक के मगज़ के तंतु भी अधिक भाग में माता के मगज़ में से प्राप्त होते हैं इसी से मगज का सम्बन्ध पिता की अपेक्षा माता के मगज़ के साथ विशेष है। ठाणांग सूत्र में तथा भग-वती सूत्र में कहा है कि—"कइणं भंते माइ अंगा पण्णत्ता गोयमा तओ माइ अंगा पण्णत्ता तं जहा मंसे सोणिए मत्थुलुंगे"। अर्थात्—हे प्रभो! बालक को उसकी माता की ओर से कितने अवयव प्राप्त होते हैं? श्री भगवान उत्तर देते हैं कि बालक को माता से तीन अंग प्राप्त होते हैं; १ मांस २ रुधिर ३ मगजः—माता की ओर से मग़ज़ की प्राप्ति का एक दृष्टांत चार्ल्स किंग्स्लीका है। वह जब अपनी माता के उदर में था तब उसकी माता ने पवित्रता से शांत ज़िन्दगी बिताने का विचार किया और दुनियादारी की सब लालसाओं को त्याग वह एक छोटे ग्राम में एकान्त में रहकर इस सृष्टि सौंदर्य का पान करने लगी। फल यह हुआ कि उस गर्भ से उत्पन्न चार्ल्स किंग्स्ली ने सृष्टि सौंदर्य की विद्वतापूर्ण १ पुस्तक लिखी और वह एक माननीय धर्म का गुरु बना। माता का मगज़ ही संतान को विशेषता से प्राप्त होता है। पिता के मगज़ के साथ उसका अति न्यून सम्बन्ध है उसका एक दूसरा दृष्टांत भी है।

एक सुदृढ़ देह और दृढ़ मनवाली माता, अपनी १६ वर्ष की पुत्री को डॉ० फाउलर के पास लेगई और कहने लगी कि यह मेरी लड़की कुछ ऐब होने के कारण तनिक धमकाने से जल्दी ही रो देती है और हमेशा उदासीन सी रहती है सब दिन यह धार्मिक पुस्तकें ही पढ़ा करती है, तो इसका क्या कारण है? डाक्टर फाउलर ने मस्तिष्क विद्यानुसार विचार किया तो मालूम हुआ कि उस लड़की की माता ने अपने पिता माता का कहना न मानकर एक ख़राब स्वभाव वाले पुरुष के साथ ब्याह किया था और वह पुरुष उस पर जुल्म करता था इसलिये वह हमेशा उदासीन हो दिन भर "बाइबिल" पढ़ा करती थी। इस अवस्था में उसे यह पुत्री हुई कि जिसका मगज़ उसके पिता के समान खराब और क्रूर नहीं है परंतु उसकी माता के जैसा उदास और धर्म पुस्तक पढ़ने की वृत्ति वाला है।

शंका:—कई बुद्धिमान बालकों के देखने से अनुमान होता है कि उनका मगज़ उनको उनके पिता से ही मिला है क्योंकि उनकी माता बहुधा निरक्षर पाई गई हैं। इसका क्या कारण है?

समाधान:—ऐसे दृष्टांतों से जो परिणाम दृष्टिगत होता है उसे सर्वांश में पिताकी ओर से मिला हुआ समझना भूल है। वस्तुत: जन्म होजाने पश्चात् पिता की ओर से प्राप्त शिक्षण से अथवा पूर्व कर्म के बलाबल से ऐसा संस्कार होता है। हमेशा यह एक स्वाभाविक नियम है कि एक प्रकार के संस्कार पर दूसरे प्रकार के संस्कारों का बल पड़ता है तो पहिले के संस्कार दब जाते हैं और दूसरे संस्कार प्रधान बन जाते हैं, इतना ही नहीं बल्कि पहिले के संस्कार दूसरे संस्कार से मिलकर उनके अनुसार ही बन जाते हैं। दूध में मधुरता

के रज-कण हैं और दही में खटाई के रजकण हैं। दूध की मधुरता के रजकणों में जितनी प्रबलता है उससे दही की खटाई के रजकणों में अधिक प्रबलता है। इससे जो दही को दूध में मिलावें तो दूध पर दही के खट्टे रजकण विजय प्राप्त कर लेते हैं इतना ही नहीं दूध के मधुर रजकणों पर दही के खट्टे रजकण अपनी छाप मारते और दूध को भी दही रूप बना देते हैं। इसी तरह माता का जो निरक्षर मगज बालक को मिला हो उस पर पिता के प्रबल बुद्धिमान मगज के संस्कारों द्वारा बालक बुद्धिमान उत्पन्न हो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। ६५।

—०—

द्वितीय परिच्छेद।

—०—

गृह शिक्षण।

गृह संस्काराः ।६६।

वालो दास करे तु रक्षण कृते यद्यर्प्यते शैशवे।
द्वौदासौ हि भविष्यतःकिल ततः संसर्ग माहात्म्यतः॥
कर्तुं यद्यभिलष्यते कथमपि श्रेष्ठं शिशोर्जीवनं।
बाल्यादेव सुयोग्य रक्षक करे बालस्तदा योज्यताम्॥

रक्षक के सहवास का प्रभाव।

भावार्थः—कम उम्र के बालक को पालने और क्रीड़ा कराने का कार्य जो एक हलकी प्रकृति के नौकर को सौंपा जाता है तो कुछ काल पश्चात् ही एक से दो नौकर तैयार हो जाते हैं अर्थात् एक नौकर तो वह है ही, और दूसरा बालक

जो नीच प्रकृति वाले नौकर से पाला गया है उसमें भी सह-वास के बुरे असर से नौकर के जैसे संस्कार और उसके समान ही बुद्धि प्राप्त होगी और वह भी एक नौकर सा ही पैदा होगा इस तरह दो नौकर हो गए सारांश यह कि नीच रक्षक से बालक का जीवन भी नीच हो जाता है इसलिये जो बालक का जीवन श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि बाल्यकाल से ही योग्य रक्षक की रक्षा तले बालक का जीवन व्यतीत हो ऐसा बंदोबस्त करें।

विवेचनः—कई धनाढ्य पुरुष अपने बालकों को क्रीड़ा कराने और पालने का कार्य अपने नौकरों को ही सौंप देते हैं। नौकर उस बालक को समस्त दिन अपने साथ ही रखता है, क्रीड़ा कराता है और अंकुश में रखता है। इससे वह बालक अपने माता की अपेक्षा नौकर के साथ विशेष रहता है और किसी समय तो वह नौकर का इतना पक्ष ग्रहण करता है कि अपने माता पिता के पास रहना भी उसे अच्छा नहीं लगता। नौकर हमेशा क्षुद्र विचार के तरंगी और व्यसनी एवम् आलसी होते हैं। वे दूसरों के साथ असभ्य भाषा में बात चीत करते हैं क्लेश करते हैं और इच्छानुसार बकते हैं। ऐसे नौकरों के नित्यके सहवाससे बालक भी वैसे ही बन जाते हैं। बालक का निर्दोष और सरल मन हमेशा अनुकरण करने में तत्पर रहता है, वे जो कुछ बोलते हैं, चलते हैं, करते सब दूसरों के पास से अनुकरण रूप ग्रहण किया हुआ ही है इस कारण से जैसी क्षुद्र प्रकृति के नौकर होते हैं वैसी ही नीच प्रकृति का वह बालक भी बन जाता है (अर्थात् घर में उस बालक रूपी एक नौकर की वृद्धि होती है)। इस कारण से एक माता का अपने पुत्र को नौकर के हाथ सौंपना उस बालक के भविष्य को बिगाड़ने के समान है। माता को अन्य गृह-कार्य करना आव-

श्यक होने पर भी उसको अपने बालक को नौकर के हाथ सौंपना योग्य नहीं। गृह-कार्य नौकर से कराने में इतनी हानि नहीं है उससे असंख्य गुनी हानि बालक को नौकर के हाथ सौंपने से होती है, कहा है कि 'दुर्जन जन संसर्गात्सज्जन पुरुषोऽत्र दोषमायाति' अर्थात् दुर्जन के संसर्ग से सज्जन भी दोषयुक्त हो जाते हैं। तो फिर विचारा निर्दोष बालक नौकर से क्षुद्र मनुष्य के संसर्ग से क्षुद्रता प्राप्त करे इसमें कौन सा आश्चर्य है? और भी नौकर के हाथ बालक को सौंपने से कई हानि होती है। बालक को खेल खिलाना—रोने न देना यह एक नौकर का कार्य है इससे वह कितने ही कृत्रिम उपायों द्वारा बालक को रोने नहीं देता है। एक वक्त एक स्त्री अपने बालक को नौकर को सौंप किसी काम के लिये बाहर गई। बालक पीछे से रोने लगा परंतु नौकर की इच्छा भी किसी खानगी काम के लिये बाहर जाने की हुई। उसने बालक को पालने में सुला दिया। और उसपर बाघ के खिलोने का भयंकर सिर बांध दिया। बालक उस बाघ के भय से डर कर चुप हो गया और नौकर अपने काम पर चला गया। पीछे से जब माता ने आकर देखा तो वह सुकोमल बालक बाघ के सिर के भय से डर कर पालने में मर गया था। नौकर के हाथ में बालक को सौंपने का यह एक विशिष्ट फल हुआ। इस लिये बालकों को कम उम्र में योग्य रक्षक के हाथ में ही सौंपना चाहिये और क्षुद्र प्रकृति के नौकरों के हाथ न सौंपना चाहिये। ६६।

[अब बालक की रक्षा करने को कौन सर्वांश में योग्य है? इस प्रश्न का उत्तर निम्न श्लोक में दिया है।]

मातैव शिशु रक्षण कार्ये योग्या । ६७ ।

लोके बालकरक्षिकास्ति जननी सा चेद्भवेद बालिशा ।
पुत्रस्तादृश एव संभवति चेद्दत्ता तदा दक्षिण: ॥
पापिष्ठा यदि सोपि पाप निरतश्चेद्धार्मिकी धार्मिको ।
माता स्यात्खलु यादृशी शिशु रपि प्रायो भवेतादृश: ।

यत्र योग्या मातरस्तत्रैव सज्जन बाहुल्यम् ।६८।

यत्राङ्गीक्रियेत जनैर्जन पदे स्त्रीणां महत्त्वं मुदा ।
शिक्ष्यन्ते महिला कला: सुमुचिता: शिक्षालयेता: पुन:
सत्कार्यैक परायणा जनपदोद्धारं विधातुं क्षमा-
स्तद्देशे सुलभा भवन्ति नितरां शीलोत्तमा: सज्जना:

योग्य रक्षक माता ही है।

भावार्थ:—अपनी संतति को सुधारने की इच्छा जितनी माता को होती है उतनी दूसरे को भाग्य से ही हो सकती है' इससे बालक को सुधारने और पालने का कार्य माता को अपने हाथ में ही लेना चाहिये और प्राय: होता भी ऐसा ही है लेकिन वे माताएँ योग्य होनी चाहिये नहीं तो बालक का जीवन सुधरने के बजाय बिगड़ जाता है। क्योंकि जो माता भ्रष्ट आचरण वाली अशिक्षित तथा वहम आदि दोषों वाली हो तो उसकी रक्षा में पला हुआ बालक भी वैसाही होता है और यदि माता समझदार विवेकी और चालाक हो तो उसकी संतति भी वैसीही हुशियार और विवेकी होती है। बालक को पालने वाली माता क्रूर स्वभाव वाली निर्दयी हो तो बालक पर भी क्रूरता की छाप पड़ती है और वह क्रूर ही

बनता है इसके विरुद्ध जो वह अच्छी स्वभाव वाली, सत्य-वादिनी और धर्म परायण होगी तो बालक भी कोमल स्वभाव वाला तथा धर्मिष्ठ होगा। इसलिये बालक के मानसिक जीवन की उच्चता और नीचता का भविष्य कितने ही अंशो में उसे पालने वाली माता के हाथ में है। इससे वह चाहे जैसा या अपने जैसा अपने पुत्र का जीवन बना सक्ती है।

योग्य माता के योग्य पुत्र।

जिस देश में स्त्री जाति का गृह कार्य करने वाली लौंडी समझ हक कम नहीं किया जाता है, किंतु अपनी प्रजा को सुधारने वाली उत्तम पाठिका का कार्य करने वाली मान, गृहिणी समझ, योग्यता पूर्वक गौरव दिया जाता है, उसी तरह स्त्री जाति के कामकाज में मन और बुद्धि को विकसित करने के लिये व्यवहारिक, नैतिक, और धार्मिक शिक्षा दी जाती है, उस देश में समाज और देश के उद्धार करने वाले वीर नर रत्न उत्पन्न हों, नीति और धर्म के धुरंधर कर्तव्य परायण उत्तम चारित्र के धारक अनेक सज्जन महात्मा हों तो इसमें क्या आश्चर्य है?

विवेचनः—पुत्र की रक्षा करने या पुत्र का पालन करने में सर्वांश योग्य माता ही है जहां उच्च विचार वाली माताएं हैं वहां बालक भी वैसे ही होते हैं तथा अपने समाज और देश को दिपाते हैं। गर्भ में पुत्र को माता के सदासद् विचारों का पोषण मिलता है। फिर जन्म होने पश्चात् भी उसे माता की तरफ से स्थूल और सूक्ष्म रीति से पोषण मिलता है यह पोषण रूपी शिक्षा गोद में मिली हुई है। वैद्यक शास्त्र कहता है कि जब माता बच्चे को दूध पिलाती है उस अवस्था के विचाराचार के गुण दोष बालक में भी प्रवेश कर जाते हैं। इससे जो माता वहेमी, अविचारी, और अशिक्षित होती

है तो पुत्र भी वैसे ही होते हैं । और माता धर्म निष्ट, विवेकी सत्यवादिनी तथा अन्य गुण वाली होती है तो पुत्र भी वैसा ही होता है माता अपने विचारों की उत्तमता—नीचता से बालक को दूध पिलाते समय जैसे गुण देना चाहें वैसे गुण दे सक्ती है। इस सबब से बालक को सद्गुणी बनाने की इच्छा रखने वाली माता को बालक को दूध पिलाने की अवस्था में दुष्ट विचार नहीं लाने चाहिये* घर में दुष्ट उद्गार नहीं निकालने चाहिये या दुष्ट वर्ताव नहीं करने चाहिये । कारण इसकी यथातथ्य छाप बालक के कोमल हृदय पर जल्द ही पड़ती है । एक माता अपने पुत्र का अनिष्ट नहीं चाहती । वह गुणी और विवेकी निकले ऐसी ही उसकी इच्छा रहती है इसी-लिये वह हर एक प्रसंगोपात में बालक को अनिष्ट संयोगों से बचा लेती है । और वहमी और अनिच्छा वाली माताएं पुत्र की उत्कृष्ट शुभ वांच्छना तो रखती हैं परंतु उन्हें चाहे जैसे वर्ताव करने देती हैं और चाहे जैसे संसर्ग में रहने देती है इससे उनका फल बुरा ही होता है । माता के समान चाकर में गुण होना कदापि संभव नहीं और इससे माता कितनी ही वहमी अज्ञानी, और निरक्षर हो तो भी उसकी अपेक्षा नोकर में बालक को पालने की शक्ति अधिक नहीं हो सक्ती । मनुस्मृति में कहा है कि:—"उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् प्रत्यहं लोग यात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री बंधनम्" अर्थात् बालक उत्पन्न करना, उनका पालन करना, और प्रति दिन गृह के काम काज करना ये स्त्री के प्रत्यक्ष काम हैं । इस रीति से योग्य माताएं

---

*एक माता अपने पड़ोसी से लड़ कर घर पर आई और क्रोधा-वस्था में ही उसने अपने बालक को दूध पिलाना प्रारंभ किया । बालक का दूध पीना था कि पेट दुखने लग गया क्यों कि माता के क्रोध का विष बालक के उदर में भी प्रवेश कर गया ।

अपने बालकों को नौकरों के हाथ में न सौंप अपने हाथ ही पालती है और अपने सद् विचारों की ही शिक्षा देती है तो पुत्र भी योग्य निकले इसमें कुछ भी शक नहीं। स्त्रियों को उन्नत करने और उच्च भावना युक्त बनाने के प्रयास का जो मुख्य तात्पर्य है वह यह है कि भविष्य की प्रजा भी वैसी ही बने। भविष्य की प्रजा उत्तम हो इसके लिये उत्तम पिता की जितनी ज़रूरत है उससे अधिक ज़रूरत उत्तम माता की है। सबब माता को व्यवहारिक, नीति विषयक, तथा धार्मिक शिक्षा देने से ही प्रजा को उन्नत विचार वाली बना सकते हैं। ६७-६८।

[अब पाठशाला में प्राप्त शिक्षा की अपेक्षा गृह में प्राप्त हुई शिक्षा की उत्तमत्ता दिखाते हैं]

गृह शिक्षणम् ॥६९ ॥

मन्यन्ते खलु मानवाः प्रथमतः शालां सुशिक्षार्पिकां ।
मन्येहं जननी सुशिक्षिण कृते योग्या परंशिक्षिता ॥
भित्तेर्मूल मिवादिमा वलवती स्याच्चेत्तदा सा दृढ़ा ।
गच्छेदुच्चपदं ततोपि महितं स्थानं न चेदन्यथा ।

घर की शिक्षा ।

भावार्थः—पाठशाला, स्कूल, कॉलेज इत्यादि प्रसिद्ध शालाएं बालकों को शिक्षा देती हैं, ऐसा लोक मानते हों तो बेशक मानें ; परंतु मैं तो यह समझता हूं कि सुशिक्षित माता ही बालक को सच्ची शिक्षा देती है। माता की शिक्षा नींव रूप है। जो भीत की नींव दृढ़-मज़बूत बनाई जाय तो भीत अधिक मजबूत होती है और अनेक महल धारण कर सकती है।

परंतु पाया कच्चा हो तो वैसा कभी न होगा। इसी तरह बालक के मगज़ में माता की ओर से शिक्षा का दृढ़ पाया जमा होगा तभी शाला की शिक्षा उपयोगी होगी। (६९)

विवेचनः—प्रथम समझ चुके हैं कि बालक की शिक्षा उसे पाठशाला में बिठाते हैं तब से ही प्रारम्भ नहीं होती बल्कि उसके प्रथम ही प्रारम्भ हो चुकी है। जन्म होने के पूर्व गर्भ में उसे जो शिक्षा मिलती है तथा जन्म होने पर माता की गोद में भी जो शिक्षा प्राप्त होती है इनमें से स्तन-पानावस्था की शिक्षा बालक के जीवन में मुख्य भाग की समझी जाती है–विद्वानों ने शिक्षा के दो भाग किये हैं। एक शिक्षण गृह में मिलता है और दूसरा स्कूल, कालेज अथवा, पाठशाला में दिया जाता है।

यह दो प्रकार का शिक्षण भिन्न २ स्थलों में दिया जाता है तो इनमें प्रधान शिक्षा कौनसी? यह प्रश्न उपस्थित होता है। आधुनिक काल में शाला-पाठशाला में विद्या की शिक्षा दी जाती है परंतु वर्ताव (character) की शिक्षा नहीं मिलती नीति की शिक्षा देनेवाले पाठों का अभ्यास कराया जाता है परंतु वे पाठ 'विद्या' के साथ जितना घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं उतना व्यवहार के साथ नहीं रखते। जो नीति पाठशालाओं में सिखाने का प्रयत्न किया जाता है उस नीति का अनुसरण व्यवहार द्वारा होता है या नहीं वह देखने का सच्चा स्थान तो "घर" ही है व्यवहार में कुशलहोने की शिक्षा घरमें, माता पिता ही दे सकते हैं बालक को, असत्य अनीति, कुसंग इत्यादि से दूर रखकर सत्यावादी, नीतिमान, सत्संगी, सुविचार शील, बनाने की शिक्षा माता पिता घर में जितने अधिक अंश से दे सकते हैं उतने अंश से विद्याध्ययन कराने वाले स्कूलों में वह शिक्षा नहीं

मिलती। जो विद्या मनुष्य के व्यवहार पर शुभ असर नहीं जमा सकती वह विद्या तो तात्विक दृष्टि से देखते कुछ भी उपयोगी नहीं और इससे दूसरे प्रकार के स्कूल से प्रथम प्रकार की गृह शिक्षा शालाही श्रेष्ठ है। बालक को उसके जन्म के साथ ही माता रूपी अध्यापिका द्वारा शिक्षा प्राप्त होती है और यही शिक्षण बालक को पढ़ने के लिये स्कूल में रक्खे पश्चात् भी प्रा भ रहना चाहिये।

बालक को सद्वर्तनशील बनाने का जो धर्म प्राचीन समय में गुरु बजाते थे—माता पिता के धमा का भी यथार्थ पालन करते थे ऐसे गुरु वर्तमान समय में न रहे। इस लिए स्कूल की शिक्षा के साथ ही साथ गृह शिक्षा भी प्रारंभ ही रहना चाहिये और उसे किसी प्रकार भी बंद न करना चाहिये। जो गृह की शिक्षा उत्तमता से दी जाय तभी स्कूल की शिक्षा इष्ट असर कारक होती है और इसी लिये दोनों प्रकार के शिक्षणों में से घर में दिये जाने वाले शिक्षण पर माता पिताओं को विशेष लक्ष रखना आवश्यक है। स्कूल में सब से अधिक मार्क प्राप्त कर बहुत अच्छा विद्याभ्यास करने वाले विद्यार्थी के उच्च प्रकार की गृह शिक्षा के अभाव से दुराचारी और बुरे रास्ते जाने के अनेक दृष्टांत प्राप्त होते हैं। उसी तरह घर की शुभ शिक्षा से स्कूल की शिक्षा पाये बिना ही सच्चरित्री होने के अनेक पुरुषों के दृष्टांत प्राप्त होते हैं इस सबब से उभय प्रकार के स्कूलों में गृह रूपी शाला ही प्रथम पद पर आरूढ़ हो सक्ती है। (६६)

[स्कूलों में दी जानेवाली शिक्षा से घर में दी हुई शिक्षा के उत्तम होने के कारणों का प्रतिपादन कर उभय प्रकार के शिक्षण की तुलना नीचे के श्लोक में करते है]

प्रथम द्वितीय शालयोस्तुलना। ७०।

आद्ये वर्ष युगे शिशोर्भवति यन्मात्रान्तिके शिक्षणं।
न स्याद्वर्ष शतेपि शिक्षणमिदं शिक्ष्यस्य शिक्षालये॥
बाह्यं शिक्षणमेव तत्र हि भवेत्तस्य स्वकालावधि।
सत्यं शिक्षणमान्तरं किल भवेदाजन्मनस्तद्धितम्॥

प्रथम और द्वितीय दोनों प्रकार की शालाओं की शिक्षा की तुलना।

भावार्थः—बालक को अपनी माता से प्रारंभ के दो वर्षों में जितनी शिक्षा प्राप्त होती है उतनी शिक्षा दूसरी शालाओं में सौ वर्ष तक भी मिलना मुश्किल है इसका कारण यह है कि दूसरी शालाओं में जो शिक्षा मिलती है वह वाह्यिक शिक्षा है और सीमान्तर्गत है। उस शिक्षा का प्रभाव अधिकांश से बुद्धि पर या मगज पर पड़ता है परंतु हृदय पर कुछ नहीं होता। इसी तरह माता की ओर से जो शिक्षा प्राप्त होती है वह आंतरिक है अर्थात् इस शिक्षा से मानसिक स्थिति सुधरती है और मन शिक्षित होता है। मानसिक सद्गुणों की शिक्षा पर ही वाह्य शिक्षा की जय प्राप्त करने का आधार है इसलिये शिक्षा आंतरिक ही उत्तम है और उसका प्रारंभ प्रायः गर्भावस्था से ही होता है। (७०)

विवेचनः—बाल्यावस्था में बालक के सुकोमल और अनुकरण शील अज्ञान हृदय में जो संस्कार पड़ते हैं वे ऐसे वज्र लेप हो जाते हैं कि समस्त जीवन में उन संस्कारों का प्रबल प्रभाव प्रगटित हुए विना नहीं रहता। माता के विचार बुद्धि और व्यवहार की शिक्षा इसी अवस्था में बालक को प्राप्त

होती है कारण कि बालक माता के स्तन द्वारा दूध पान करता है उस दूध में से उस देह का ही पोषण नहीं मिलता है परंतु मन का पोषण भी मिलता है और बालक माता के व्यवहार विचार तथा बोली में से परागम्य दृष्टि से शिक्षा भी प्राप्त करता है। डॉ० ट्रोल कहते हैं कि "मानसिक विकार जैसे क्रोध, शोक, खेद, चिंता, प्रभृति सब देह के दूध इत्यादि रसों को विकारी बनाते हैं और अंत में इन रसों को चूसने वाले बालक के तन-मन को बिगाड़ते हैं" इस सबब से बालक के जन्म होने पश्चात् दो वर्ष तक की स्तनपानावस्था में बालक को जो शिक्षा प्राप्त होती है वह शिक्षा समस्त जीवन भर चाहे जैसी विद्या पढ़ाई जाय परंतु नहीं प्राप्त हो सक्ती। इसी कारण से बुरी प्रकृति की, दुष्ट विचारवाली और अनिष्ट आहार करनेवाली धाय माता राज कुटुम्ब के और श्रीमंत जनों के बालकों के लिये नहीं रखनी चाहिये यही लोकाभिप्राय है, गृह रूपी शाला और विद्याभ्यासी शाला इन दोनों स्कूलों की समानता करते मनुष्य जीवन की सफलता के लिये विशेष तात्विक शिक्षा देने वाली पाठशाला तो गृह रूपी शाला ही है। और इसीलिये यह शाला श्रेष्ठ है। विद्याभ्यासी शाला की शिक्षा बुद्धि पर असर करती है और गृह रूपी शाला व्यवहार पर प्रभाव जमाती है गृह शाला में बालक की शुभ-अशुभ जैसी शिक्षा मिलती है भविष्य में वह बालक वैसा ही व्यवहार करता है विद्याभ्यास के साथ व्यवहार का अत्यंत अल्प सम्बन्ध है क्योंकि यह शिक्षा बाह्यिक है, आंतरिक नहीं। ७०।

['शिक्षा माता के स्तन के सिवाय और किस प्रकार मिलती है'? इस प्रश्न का उत्तर निम्न लिखित श्लोक में दिया जाता है।]

सहवास निरीक्षणानुसारिणी चारित्र्य रचना ।७१।

बाल्ये यच्च निरीक्षते निजगृहे कृत्यं शुभं वाऽशुभं ।
संस्कारा निपतन्ति बाल हृदये शीघ्रं तथैव क्रमात् ॥
निर्माणं मनस-स्तथैवभवति प्रायो विचारास्तथा ।
चारित्रं च तथैव हेत्वनुसृतं निर्मीयते शैशवात् ॥

सहवास और निरीक्षण का चारित्र्य पर प्रभाव।

भावार्थः—बालक कम उम्र में घर के अंदर या घर के बाहर, घर के मनुष्यों या बाहर के सहवासियों की जिन शुभ या अशुभ चेष्टाओं का निरीक्षण करता है अर्थात् अपनी दृष्टि से जो २ कृत्य देखता है उन कृत्यों की छाप उसके मगज पर पड़ जाती है अर्थात् शुभ कृत्य देखता है तो हृदय में शुभ संस्कार पड़ते हैं और खराब कृत्य देखता है तो खराब संस्कार जमते हैं। उन संस्कारो का पहिले के संस्कारों के साथ मिश्रण होता है और उनके अनुसार ही मानसिक बंध का बंधन जमता है तथा विचार भी उसके अनुकरणीय हो जाते हैं। उनके चारित्र्य का बंध भी उन्हीं संस्कार, मन और विचारों के अनुसार जमता है इसलिये बालक के साथ उनके माता पिताओं को या साथियों को कभी किसी प्रकार की खराब चेष्टा न करनी चाहिये। (७१)

विवेचनः—पहिले कह दिया है कि बालक का मगज अनुकरण करने वाला है इससे जो कुछ देखता है उसी का वह अनुकरण करता है बालक का नित्य का सहवास अपनी माता का है इसी तरह उसके साथ खेलने वाले समवयस्क बालकों का है। उसके अति सहवासी जन जो २ कार्य करते

हैं वह बालक उन्हीं कार्यों के करने का प्रयत्न करता है। जैसा वे बोलते हैं वैसा ही बोलना वह बालक सीखता है और भविष्य में वह बाल्यावस्था में प्राप्त की हुई शिक्षा का अनुकरण करता रहता है। इस सबब से बालक की दृष्टि के सामने किसी भी प्रकार की अधम चेष्टा न हो ऐसा माता पिताओं को पूरा २ ध्यान रखना चाहिये और दुष्टाचार वाले समवयस्क बालकों के सहवास से भी बालक को दूर रखना चाहिये (७१) ।

—o—

तृतीय परिच्छेद ।

—o—

बाह्य शिक्षा ।

[अब बाह्य शिक्षा के प्रारंभ का काल क्रम बताते हैं]

विद्यार्थीकालः ।७२।

प्राप्ते सप्तम वत्सरे शुभतरे यद्वाष्टमे वत्सरे ।
योग्ये बुद्धिवपुर्बले समुचित. कालस्तु विद्यार्जने ॥
ये गर्भे च गृहे बहिश्च जनिताः संस्कार बीजाङ्कुरा ।
स्तेषां पोषण कृत्य मत्र विकसेच्चेत्सुष्टु शिक्षा क्रमः ॥

विद्यार्थी अवस्था ।

भावार्थः—मगज में इतना सामर्थ्य आजाय कि वह अभ्यास का भार उठा सके और मनोबल और शरीर बल इतना दृढ़ हो जाय कि वह शिक्षक की धाक सह सके तभी विद्यार्थी अवस्था प्रारम्भ हुई समझी जाती है। अधिक अंश से ऐसा समय बालक की सात या आठ वर्ष की उम्र में प्राप्त होता है।

अर्थात् सातवें या आठवें वर्ष से निर्मल विद्यार्थी अवस्था का प्रा भ शास्त्रोक्त गिना जाता है। गर्भावस्था से आज तक गृह में या बाहर बालक के मगज़ में जो जो शुभ और हलके संस्कार के बीज आरोपित हुए हैं उन में से खराब संस्कारों को जला कर शुभ संस्कारों को अच्छी शिक्षा से सींच कर बढ़ाने और प्रफुल्लित करने का कार्य विद्यार्थी अवस्था में प्रारम्भ रहना चाहिये और शिक्षण क्रम भी ऐसा ही होना चाहिये। (७२)

विवेचनः—पाठशाला का विद्याभ्यास-क्रम कब से प्रारंभ होना चाहिये, यह इस श्लोक में बताया गया है—इस कार्य के प्रारंभ के लिये वय निर्माण करने में भिन्न भिन्न विद्वानों के भिन्न भिन्न अभिप्राय हैं। आश्वलायन गृह सूत्र में कहा है कि "द्वादश वर्षाणिवेद ब्रह्मचर्यम्" अर्थात् विद्याभ्यास का ब्रह्मचर्य बारह वर्ष तक समझो! अंग्रेज विद्वान सात वर्ष के बालक को पाठशाला में अभ्यास करने के लिए भेजना योग्य समझते हैं परंतु इन भिन्न भिन्न अभिप्रायों का तात्पर्य यह है कि जब बालक की स्मरण शक्ति दृढ़ होने लगे और उसका शारीरिक तथा मानसिक बल अभ्यास का परिश्रम सहन करने में पूर्ण विकसित होजाय उसी तरह गुरु जी के तरफ के कुल धर्मों की उसे समझ हो जाय तब बालक को पाठशाला भेजने में किसी प्रकार की तकलीफ नहीं आती। यह सब शक्ति बालक में ७ या ८ वर्ष की उम्र तक पहुंचने से पहिले ही आ जाती है ऐसा देखने में आता है इसलिये बालक का पाठशाला में अभ्यास क्रम के लिये भेजने का समय उसकी ७ या ८ वर्ष की उम्र ही है। इस उम्र में बालक को पाठशाला में बिठाया जाय तो उस समय उसे किस प्रकार का अभ्यास कराना चाहिये? प्राचीन काल में पाठशाला की शिक्षा बालकों को सिर्फ विद्याभ्यास कराने के लिये ही नहीं दी जाती थी।

रत्नों की अपेक्षा धर्म का भण्डार अधिक बहु मूल्य है। धर्म ही सत्यता को प्राप्त कराता है। धर्म को कोई भी नहीं टाल सकता. धर्म का हृदय प्रेम है और इस का अन्त शान्ति है। और मधुर सम्पूर्णता है अतएव धर्म का पालन करो।

(दि लाईट आफ एशया)

जो मनुष्य बनना चाहे उसे चाहिये कि वह अपने हृदय पर अधिकार जमावे. लालसाओं को नष्ट करके उनपर अपना सिंहासन बनावे, आशा और भय के राजविद्रोह का दमन करे और स्वतन्त्रता से अत्युन्नत राज्य भोगे।

(शैली)

हमारे कर्त्तव्य के पास वह कुंजी है जो हमारे लिये स्वर्ग के द्वार का ताला खोलेगा। न शीघ्रता से और न विलम्ब से, बल्कि यथोचित समय पर जो मनुष्य पहुंचेगा वही स्वर्गीय दृश्य को देख सकेगा।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपने दैनिक कर्त्तव्य की दृढ़ता के साथ परिक्रमा करे।

(गेटे)

जब तुम अपनी आत्मा को देखो तो कड़ी और तीव्र दृष्टि के साथ देखो; परंतु जब दूसरे को देखो तो अनुकम्पा से देखो।

(इला व्हीलर विलकाक्स)

अपने घर में उसी प्रकार और वैसे ही हर्ष से भोजन करो जैसे किसी राजा के घर पर करते हो।

कन्फ्युशियस

बुद्धिमान मनुष्य वही है जो संकट उपस्थित होने पर न उनसे मुँह छिपाता है और न घबराता है, बल्कि शान्ति के साथ स्थिर रहता है।

कहना चाहिये कि जो अर्थ समझे विनाही अपनी एक सी गति में घूमा करता और पशु की तरह सिर्फ काम ही दे सक्ता है।७२।

[शिक्षा बालक की बुद्धि पर कैसा असर पैदा करती है यह नीचे के श्लोक में चित्रपट की उपमा द्वारा समझाते हैं]

बुद्धि पटे शिक्षणात्मको वर्णः ।७३।

ज्ञानाद्यावरण क्षयोपशमतः प्राप्तो वरो हृत्पटो ।
मात्रादेः शुभयोगतोत्र पतिताः सत्संस्कृतेर्विन्दवः ॥
यावच्चात्र तथापिसुन्दरतरो वर्णः सुशिक्षात्मकः ।
नोपूर्येत न तावताऽति रुचिरो दृश्येत चेतःपटः ॥

बालक के बुद्धि पट में शिक्षाका रंग।

भावार्थ और विवेचन—किसी भी जाति का नक्शा चित्रित करना होता है तो प्रथम नक्शे का पट तैयार किया जाता है फिर जिस तरह के चित्र चित्रित करना हो उसके बिंदु लगाने में आते हैं तथा रूप रेखाएं खींची जाती हैं फिर उसमें भिन्न २ रंग भरे जाते हैं। इसी तरह बालक का हृदय या उसकी बुद्धि भी एक नक्शे के पट समान है यह पट ज्ञानावरणादि कर्म के आधुनिक या पूर्वकालीन क्षयोपशम आदि से तैयार होता है यह पट पूर्वभव से ही अधिक अंश से साथ रहता है। उसमें गर्भावस्था के और जन्म हुए पश्चात रक्षक माताके शुभ योग से और उसकी योग्य शिक्षा से शुभ संस्कार रूपी बिन्दुएं लगती हैं अथवा रूप रेखाएं खींची जाती हैं तथापि जब तक नैतिक और धार्मिक शिक्षा रूप भिन्न भिन्न रंग उन रूप रेखाओं में न भरे जाएंगे तब तक वह पट सुन्दर न दिखेगा और नक्शा पूरा होगया हो ऐसा न समझा जाएगा

इसलिये बालक के बुद्धि रूप पट में सुशिक्षा रूपी रंग भरने की आवश्यकता है। इस तरह रूप कोपमाद्वारा बुद्धि पट और चित्रपट की समानता दिखाई और उभय पट में यह कार्य किस तरह हो सकता है यह समझाया। चित्र बनाना जिस तरह हस्तकृत होता है उसी तरह बुद्धि पट मनुष्य को उसके ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम के प्रमाण में न्यूनाधिक मिलता है और इस बुद्धि पट में सुशिक्षा रूपी रंग चढ़ता है तब सुन्दर दृष्टि गत होता है। और उसमें जो उच्च गुण होना आवश्यक है वे गुण तो उसके पूर्व कर्मों के योग तथा गर्भ के पश्चात के संस्कारों से ही प्राप्त होगये हैं। सत्शिक्षा इन गुणों को अधिक सुन्दर दिखाने के सिवाय दूसरे कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं है जिस तरह नक्शे की कृति करने के लिये रंगों की आवश्यकता है उसी तरह मनुष्य के स्वाभाविक—जन्म से ही प्राप्त हुए गुणों को विकसित करने के लिये शिक्षा की भी आवश्यकता है ॥ ७३ ॥

शिक्षण पद्धति प्रकारा: ।७४।७५।

स्याच्चेच्छिक्षण पद्धति र्विरहिता धर्मेण नीत्या तदा ।
कृत्या कृत्य विवेक शून्य मतिदा शान्त्युज्झितां राजसी ॥
किं चेयं व्यवहार योग्य पदवीं नैवाश्रिता तामसी ।
सर्वेषा मपि दुःखदा विषझरी वा ज्ञानदा संततम् ॥
या वर्ग त्रय साधिनी व्यवहृतेर्नीतेश्च धर्मस्य वा ।
स्पष्टं मार्ग निदर्शिनी सरलता निःस्वार्थ बुद्ध्यार्पिणी ॥
शुभ्रा सत्त्वपदा सदैव सुखदा लोक द्वयार्थ प्रदा ।
शिक्षा पद्धति रुत्तमा जगति सैवोचित्यमापद्यते ॥

शिक्षा पद्धति के प्रकार

भावार्थः—बालक के हृदय में धार्मिक वृत्ति स्फुरया-मान रहे और श्रद्धा पूर्वक धर्म की तरफ लक्ष्य रहे ऐसी शिक्षा प्रारंभिक शिक्षा पद्धति में होनी चाहिये। जो इतनी भी धार्मिक या नैतिक शिक्षा शामिल न हो तो उस पद्धति का रंग बुद्धि पट में बराबर नहीं शोभता और वह पद्धति 'रजो-गुणी, समझी जाती है अर्थात् ऐसे शिक्षण से आत्मा को सच्ची शांति नहीं मिल सकती।

जिस पद्धति में धर्म और नीति के तत्व तो न हों परंतु व्यवहारिक कुशलता के तत्वों का समावेश करने में आया हो तो वह शिक्षा नैतिक और धार्मिक सीढ़ियों से बालक को गिरा देने वाली सौंदर्य और शांति इन दोनों गुणों से रहित होने के कारण काले रंग की "तमोगुण मयी" समझी जाती है। ७४।

जो पद्धति धर्म अर्थ मोक्ष इन तीनों वर्गों के साधनों का दिग्दर्शन कराने के साथ २ व्यवहार, नीति और धर्म के मार्ग का स्पष्ट भान कराती है अर्थात् व्यवहारिक, नैतिक, और धार्मिक इन तीनों तत्वों को योग्य अवकाश मिलने से जो शिक्षा बालक को सामान्य पदार्थ विज्ञान का बोध करादेने के पश्चात् हृदय में सरलता, नीति पटुता, निःस्वार्थ वृत्ति और परमार्थ बुद्धि के बीज उत्पन्न करती है, ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों पर दृष्टि डला कर वह दोनों लोक का हित सधाती है, वह शिक्षा उज्वल-सत्वगुणमयी और श्रेष्ट कहलाती है। शास्त्रीय और लौकिक इन दोनों दृष्टि से यही पद्धति इस जगत में उत्तम और उचित समझी जाती है।७५।

विवेचनः—समस्त संसार में तीन गुण भरे हैं। सत्व, रज और तम। सत्वगुण सुखदाता है, रजोगुण सुख और दुख का

देनेवाला है और तमोगुण दुख का ही दाता है। इसीतरह संसार में किसी भी वस्तु के तीन भेद विद्वानों ने गुणों को देखकर किये हैं। उत्तम, मध्यम और कनिष्ट शिक्षा पद्धति के भी इसी प्रकार तीन भेद हो सक्ते हैं। सात्विक, राजस और तामस। सत्विक पद्धति उत्तम प्रकारकी, राजस मध्यम प्रकार की और तामस कनिष्ट, प्रकार की समझना चाहिये।

मोन्तेन कहते हैं कि सिर्फ स्थूल व्यवहारिक फल प्राप्त करने की आशा से विद्याभ्यास करना यह शारदा देवी की कृपा और प्रसाद का दुरुपयोग करने के समान है, यही तामस प्रकार की शिक्षा पद्धति हुई। नीति और धर्म रहित सिर्फ धन प्राप्ति कराने वाली शिक्षा, जो विद्यार्थियों के आत्मा के साथ प्राप्त संस्कारों को उच्च बनाने में असमर्थ है, परंतु अनेकानेक छल कपट और दुष्ट उपयोगों द्वारा व्यवहार में विजय मिला, धन प्राप्त कर संसार भव में लिप्त रहने के संस्कार पैदा करती है, वह शिक्षा तमोगुण मयी समझना चाहिये। ऐसी शिक्षा से बुद्धि का विकाश तो अवश्य होता है परंतु वह कुमार्ग से होता है और आत्मा को उससे कुछ भी लाभ नहीं होते हानि ही होती है। 'रजोगुणी' शिक्षा तमोगुणी से कितने ही अंश में वढ़ी चढ़ी है। नीति शिक्षा दी जाय और उसके साथ व्यवहारिक शिक्षा भी दी जाय परंतु धार्मिक शिक्षा से वंचित रखा जाय तो वह विद्यार्थी रजोगुणी शिक्षा पाता है ऐसा समझना चाहिये। इस शिक्षा में केवल नीति का समावेश है परंतु विद्यार्थी के अंतरात्मा में उस नीति का पचन नहीं होता। हां उस विद्यार्थी को नीति सम्बन्धी जितना भी अधिक ज्ञान, होता है और कदाचित् नीति सम्बन्धी शिक्षा की परीक्षा ली जाय तो वह विद्यार्थी उसमें अच्छी तरह उत्तीर्ण भी हो जाता है परंतु उसी नीति का पचन नहीं होने से व्यवहार में नीति-

पूर्वक व्यवहार करने की अभिलाषा उसके हृदय में कभी जागृत नहीं होगी। और इससे नीति की शिक्षा पाने पर भी वह नीतिमान् मनुष्य नहीं बन सकता। धर्म की शिक्षा के अभाव से, और सिर्फ नीतिकी रूखी शिक्षा प्राप्त करने से रजो गुणी शिक्षा पद्धति का विस्तार बढ़ता जाता है। आजकल अपनी पाठशालाओं में विद्यार्थियों को जो शिक्षा दी जाती है वह रजोगुणी अर्थात् मध्यम प्रकार की है। इन स्कूलों में नीति की शिक्षा दी जाती है परंतु इस नीति को विद्यार्थी लोग नहीं पचा सकते इसीलिये यह नीति शिक्षा उन्हें सद्वर्तन शील बनाने की जमानत नहीं देती। "प्लेटो की शिक्षण कला के सूत्रों के अनुसार जो अभ्यास कराया जाय उसके परिणाम में विद्यार्थी ने जो कुछ सीखा है उसका तत्वार्थ समझा है या नहीं अथवा उस विद्या को उसने अपनाली है या नहीं इसकी जांच करने के वास्ते विद्यार्थी से जो कुछ वह सीखा है उसका भिन्न भिन्न प्रकार से भिन्न २ विषयों पर उपयोग कराना चाहिये जो वस्तु जिस रूप में खाते हैं उसी वस्तु का उसी रूप में वमन करना अजीर्ण और मंदाग्नि का दर्शक है अर्थात् जो वस्तु पचाने के लिये जिस रूप से जिस स्थिति में उदर में डाली गई थी वह वस्तु जब तक रूपान्तर न प्राप्त करे तब तक पेट में अपना फर्ज अदा नहीं किया ऐसा कहने में कुछ भी बाधा नहीं आती" 'माइकल मोन्तेन' के ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं कि अपनी वर्तमान पाठशालाओं में जो व्यवहार तथा नीति की शिक्षा दी जाती है उस शिक्षा का विद्यार्थी परीक्षा में वमन कर डालते हैं और फिर वे संतुष्ट होते हैं। वह शिक्षा विद्यार्थी के मगज में नस २ में उतर कर पालन करने योग्य होगा या नहीं इसकी कुछ भी परवाह न रखने से वह रूखी शिक्षा चाहे जैसे प्रमाण में व्यवहारिक कार्य में उपयोगी नहीं

होती परंतु विद्यार्थियों को परीक्षा में उत्तीर्ण करने योग्य ही बना सक्ती है। इस रजोगुणी शिक्षा पद्धति को सुधार कर उसे सात्विक बनाई जाय तो उससे प्रत्येक विद्यार्थी के रक्त के साथ वह लिपट जाय और उससे प्रत्येक विद्यार्थी को बड़ा भारी लाभ हो। व्यवहार धर्म और नीति की शिक्षा इस तरह दी जाय कि जिससे विद्यार्थी व्यवहार कुशल, नीतिमान, सरल, परमार्थ वृत्ति वाला, धर्म और देश सेवक बने तो वह शिक्षा उज्वल वर्णयुक्त और सात्विक गिनी जाती है। व्यवहार नीति और धर्म की शिक्षा विद्यार्थी के व्यवहार पर असर न कर सके तो वह अर्थ हीन शिक्षा 'सात्विक शिक्षा' की गणना में नहीं आ सक्ती परंतु वह रजोगुणी शिक्षा ही समझी जाती है। सात्विक शिक्षा का उत्तम असर यह है कि वह धर्मार्थ, काम, मोक्ष, का दिग्दर्शन कराती है और ऐहिक के साथ आमुष्मिक सुख की अभिलाषा विद्यार्थी के हृदय में उत्पन्न कर उसे उच्च पथगामी बनाती है। इस तरह "आत्महितकर" दृष्टि से देखते जो शिक्षा उत्तम जचे वही शिक्षा वस्तुतः शिक्षा अथवा शिक्षा के नाम को सार्थक करने वाली समझी जाती है (७४-७५)।

[इन तीनों प्रकार की शिक्षा का पृथक २ कैसा असर होता है यह यहां दिखाते हैं]

त्रिविध शिक्षण पद्धति परिणामः (७६)

दुर्नीतिं दुरितं तथा वितनुते विद्याऽधामा तामसी।
वित्तेहाः विविधास्तनोति विषयासक्तिं च या राजसी॥
श्रद्धां रक्षति शिक्षयत्युपकृतिं प्रामाणिकत्वं तथा।
चारित्रं सुनयं विशोधयति सा विद्या च या सात्विकी॥

तामसी, राजसी, और सात्विक पद्धति का परिणाम।

भावार्थः—तमोगुण विशिष्ट तामसी शिक्षा मनुष्य को नीति से भ्रष्ट कर अनीति के मार्ग पर आरूढ़ करती है और पाप की वृत्तियों का पालन करा धर्म से पतित करती है यह शिक्षा अधम होने से त्याज्य है। रजोगुण विशिष्ट राजसी शिक्षा अनेक प्रकार के तृष्णा के तंतुओं में फंसाती है इंद्रिय सुख विषय में आसक्त करती है द्रव्य के लोभ से कई अनर्थ कराती है यह मध्यम प्रकार की और आत्म हितकर न होने से आदरणीय नहीं है। परंतु जो शिक्षा पद्धति सत्वगुण विशिष्ट सात्विक है वह धार्मिक श्रद्धा की रक्षा करती है, परोपकार करने की शिक्षा देती है, सत्यवादी, प्रामाणिक रहने का पाठ सिखाती है और नीति के मार्ग में दृढ़ता पैदा कर चारित्र को विशुद्ध बनाती है, यह विद्या उत्तम होने से आदरणीय है। इससे यह तीसरी शिक्षा पद्धति सर्वत्र ही नियत होनी चाहिये।

विवेचनः—जो तीन प्रकार के गुणयुक्त शिक्षा कही है उन तीनों प्रकार के गुणों के लक्षण भाव प्रकाश नामक ग्रंथ में वर्णन किये हैं तमोगुण के लक्षण ये हैंः—

नास्तिक्यं सुविषण्णताऽति शयिताऽलस्यं च दुष्टा मतिः
प्रीतिर्निन्दित कर्म शर्मणि सदा निद्रा लुताऽहर्निशम्॥
अज्ञानं किल सर्व तोपि सततं क्रोधान्धता मूढ़ता।
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः॥

अर्थात्ः—नास्तिकता, अतिशय खेद, अतिशय आलस्य, दुष्ट मति, निंदितकर्मादि में प्रीति, अहर्निश निद्रालुता अज्ञान

और सर्वतः सतत क्रोधान्धता तथा मूढ़ता ये तमो गुण युक्त चेतस के गुण हैं, रजोगुण के लक्षण इस प्रकार से वर्णन किये हैं।

क्रोधस्ताड़न शीलता च बहुलं दुखं सुखेच्छाधिका।
दंभः कामुकताप्यलीक वचनं चाधीरताहं कृतिः॥
ऐश्वर्यादभिमानिताऽतिशियताऽऽनन्दोऽधिकश्चाटन
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः॥

अर्थातः—क्रोध, ताड़नतत्परता, अति दुःख, सुख की अति इच्छा, दंभ, कामुकता, मिथ्या वचन, अधीरता, अहंकार, ऐश्वर्य सह अभिमान, अधिक आनन्द और अटन ये रजोगुण विशिष्ट चेतस के संकेत हैं। साथ ही सात्विक श्रेष्ठ गुण के लक्षण इस प्रकार दिखाते हैं।

आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजन मनुतापश्च तथ्यं वचो।
मेधा बुद्धि धृति क्षमाश्च करुणा ज्ञानं च निर्दम्भता॥
कर्मा निन्दित मस्पृहं च विनयो धर्मः सदैवादरा।
देते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः॥

अर्थात्ः—आस्तिकता, अन्नपान देख कर करने की आदत, अनुताप सत्यवचन, मेधा, बुद्धि, धैर्य, क्षमा, दया, ज्ञान, निष्कपट भाव, अनिंदित और स्पृहा रहित कर्म तथा निरंतर आदर युक्त विनय और धर्मः ये सत्वगुण युक्त चेतसके लक्षण हैं।

प्रत्येक शिला प्रकार में उपरोक्त तीनों गुणों में से एक न एक गुण रहता ही है ऐसा न समझना चाहिये। तीनों गुणों का अंश उसमें मिश्रित रहता है परंतु तीनों में से कोई एक

बाल-लग्न का फल।

भावार्थः—बाल्यावस्था में बालक के मस्तिष्क पर एक ओर से विद्याभ्यास का भार बढ़ता जाता है और मगजपच्ची के परिश्रम से मगज़ को धक्का लगता जाता है इसके साथ ही दूसरी तरफ से बाल लग्न के क्रूर रिवाज़ से शरीर के उपयोगी तत्व की अप्रासंगिक हानि होना प्रारंभ हुई हो तो दो प्रकार की हानि के सामने विचारा आरोग्य कहां तक ठहर सक्ता है? अरे रे। हाथ से उपस्थित की हुई इस वीर्य की हानि के लिये चमकता हुआ तारा अस्त होने की हालत में आ पहुंचता है। क्षय का महारोग अथवा मौत ये दोनों उस आशा भरे बालक का भोग लेने के लिये प्रत्येक पल २ पर भक्षण करने की इच्छा रखती हुई उपस्थित रहती है कि कब यह चूके और भोगले? अहो! जहां भयंकर क्षय रोग या मौत की तैयारी समझी जाय वहां शरीर की कुशलता या विद्या समाप्ति इन दोनों में से एक की क्या क्षण भर भी आशा रखनी चाहिये? नहीं। (८२)

विवेचनः—अपरिपक्व उमर में शरीर के वीर्य-तेज के क्षय करने का मुख्य अवसर लानेवाला सिर्फ बाल लग्न है। जिस तरह कि एक कुँए में पानी की झरनें बराबर न फूटी हों तथा उसमें बहुत जल इकट्ठा न हुआ हो उसके पहिले ही अगर उसमें से पानी खर्च करना प्रारंभ कर दें तो वह कुँआ जल्द ही खाली हो जाता है। उसी तरह जवान विद्यार्थियों की शारीरिक सम्पत्ति के सम्पूर्ण विकास होने के पूर्व ही उनमें जो थोड़ा अपरिपक्व वीर्य उत्पन्न हुआ है। उसका बाललग्न द्वारा जल्द ही क्षय किया जाय तो उन की देह थोड़े ही समय में वीर्य

हीन हो जाती है। वीर्य, देह और मगज के राजा समान है। उसका क्षय अपरिपक्व दशा में ही होता रहने से वह जवान की सब शक्तियों का धीरे २ क्षय कर लेता है। शरीरका तेज़, अंगोपांग का विकाश, रुधिर की वृद्धि स्मरण शक्ति, शारिरिक स्फूर्ति, इत्यादि सब कुछ धीरे २ नष्ट होती जाती है। बाल लग्न के भोग हुए किशोर वयस्क बालक-विद्यार्थी युवावस्था में धातुक्षय इत्यादि अनेक रोगों से ग्रस्त हुए दृष्टि गत होते हैं और उन्हें औषधादि का साज न मिलने से वे अकाल ही वृद्धावस्था प्राप्त करते हैं यह तो अपनी दृष्टि के सन्मुख उपस्थित होता हुआ नित्य का विषय हो गया है। मीसेस एनी बीसेंट ने एक स्थान पर कहा है कि "जो बालक जवानी में निरोग और वीर्यवान बनना चाहते हैं तथा निरोगी वृद्धावस्था बिताना चाहते हैं उन्हें विद्यार्थी जिन्दगी में ब्रह्मचारी ही रहना चाहिये ब्रह्मचारी रहना इसका अर्थ सिर्फ यह नहीं समझना चाहिये कि ब्याह नहीं करना परंतु उनके किसी भी अनिष्ट विचार या कार्य में नहीं फंसना चाहिये। मनुष्य जब शरीर से दुखी होता है तब बाल्यकाल के बुरे वर्तावों को याद कर रोता है। परंतु उस समय उनका कुछ भी उपाय करने का समय नहीं रहता। इसलिये उन्हें वैसी ही दुखी हालत में जीवन बिताना पड़ता है।"

जो मा बाप अपने पुत्रों को सुखी, निरोगी, और बुद्धि शाली बनाना चाहते हों उनको ध्यान में रखना चाहिये कि उन्हें बाल्य वय में न ब्याहें। पुत्र को कम उम्र में ब्याहित कर मजा उड़ाने की इच्छावाले पिता पुत्र के हित का नाश करते हैं, वे उनके शत्रु हैं ऐसा समझना चाहिये। पच्चीस वर्ष की उम्र तक प्रथम अवस्था विद्यार्थी अवस्था समझी गई है। इस अवस्था में पुत्र का ब्याह न करना चाहिये परंतु उसके

पश्चात् करना चाहिये वैद्यक शास्त्र का भी ऐसा ही अभि-प्राय है सुश्रुत ग्रंथ में कहा है किः—

पंचविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोड़शे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥

अर्थात्:—कुशल वैद्य जन्म से पचीसवें वर्ष पुरुष को तथा सोलहवें वर्ष स्त्री को समान वीर्य की प्राप्ति होती है ऐसा समझता है स्त्री और पुरुष दोनों के वीर्य की समानता ही वीर्य की परिपक्व दशा है तथा यही समय लग्न के अनु-कूल है।८४।

बाल लग्न हानि।८५।८६॥

शक्तिर्नश्यति दैहिकी सुरसजं रक्तं द्रुतं शुष्यति।
दौर्बल्यं हृदये मुखे मलिनता तेजस्तु संलीयते॥
बुद्धिर्मन्दतरा गतिश्च शिथिला मन्दश्च वैश्वानर।
स्तारुण्ये पलितं तदा भवति हा बाल्येपि वीर्यं क्षये॥
गच्छन्तोऽपि पतन्ति ते प्रतिपदं वार्धक्य रोगौ विना।
शक्ता गन्तुमलं गृहेपि न मनाग् हस्ते विना यष्टिकाम्॥
ते स्वल्पेपि परिश्रमे गदभरा क्रांता भवन्ति द्रुतं।
येषां वीर्य मलं विवाहकरणाद्विद्यार्हकाले हतम्॥

बाल लग्न से होती हुई हानि।

भावार्थ:—बाल्यावस्था में लग्न होने से जो अपरि-पक्व दशा में वीर्य क्षय होता है, उससे फल यह प्राप्त होता है कि बालक की शारीरिक शक्ति क्षीण होने लगती है। श्रेष्ठ पौष्टिक पदार्थ खाने पर भी उन पदार्थों का सत्व रूप खून

सूखता जाता है, उनका हृदय बलहीन हो जाता है, बदन में ललाई के बदले फिकाई और मलीनता श्यामता मालूम होती है। बुद्धि तेज़ होने पर भी उसकी तीक्ष्णता नष्ट हो जाती है उसके स्थान पर मंदता आती है। पग में से चलने की सत्ता भग जाती है, खाने की रुचि कम हो जाती है और अगर खा लिया तो जठराग्नि उसे नहीं पचा सक्ती। इस तरह जवानी में वृद्धापकाल के चिन्ह मालूम होने लगते हैं और बाल भी काले के सफेद होजाते हैं।८५।

अरेरे! बाललग्न में विद्यार्थी अवस्था में ही जिनका वीर्य नष्ट हो जाता है, उनकी तरुणावस्था में क्या दशा होती है? जिनके शरीर में न तो कुछ रोग है और न वे वृद्धावस्था प्राप्त हैं! परंतु वे इस तरह चलते हैं, मानों वृद्ध ही हो गए हों। जब उनके पग धूजने लगते हैं तब ऐसा मालूम होता है कि अभी पड़ते हैं या पड़े! हाथ में अगर लट्ठ का टेका न हो तो घर में भी एक पांव भी नहीं उठा सक्ते। कुछ थोड़ा भी परिश्रम किया या भार उठाया कि तुरंत ही बीमार हुए। "आज तो बद्हज़मी होगई है, आज ज्वर आगया है, आज सिर दुखता है, आज नींद नहीं आती" उनकी ऐसी चिल्लाहट तो हमेशा ही प्रा'भ रहती है। उनकी तरुणावस्था के प्रा'भ से ही ऐसी अशक्तता—क्षीणता प्रतीत होने लगती है।८६।

विवेचनः—वैद्यक शास्त्र का ऐसा अभिप्राय है कि अपरिपक्व दशा में वीर्य का क्षय होने पर उस भूल को समस्त जिन्दगी में भी नहीं सुधार सक्ते। जो भी पीछे से अपनी भूल मालूम होने पर वीर्योत्पादक वनस्पतियों या मात्राओं के सेवन से वीर्य उत्पन्न हो जाता है परंतु यह वीर्य बाल्यावस्था के स्वाभाविक रीति से परिपक्व होने वाले वीर्य के समान

तेजस्वी नहीं होता। और इसीलिये औषधादि द्वारा आरोग्य सुधारने के चाहे जितने प्रयत्न किये जायँ तो भी वे प्रयत्न पूर्णता से सफलता नहीं पासक्ते। बाल्यावस्था की स्वाभाविक वीर्य सम्पत्ति से जठर रुधिराभिसरण इत्यादि में जो शक्ति रहती है उस शक्ति में एक बार शिथिलता आने पर फिर वह सतेज नहीं बन सक्ती। और जो कुछ वीर्योत्पादक पदार्थ खाते जाते हैं उन पदार्थों में से पूरा सत्व खींचने की ताकत न होने से शरीर का विकाश नहीं होता, प्रमाणपूर्ण वीर्य वृद्धि नहीं होती, आरोग्य स्थिर नहीं रहता, स्मरण शक्ति घट जाती है, और बुद्धि तथा मानसिक विकास दूर जा पड़ते हैं। अपरिपक्व दशा में वीर्य का व्यय होने से इतने गहन नुक्सान होते हैं।

बाल-लग्न से अपरिपक्व दशा में ही वीर्य का नाश होता है और इसीसे उनका शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ता है इसी तरह स्त्रियों को भी हानि होती है युवावस्था में उदर सम्बन्धी अनेक व्याधिएं भोगती और दुर्बल तथा फीके शरीर वाली स्त्रियां अधिक अंश में देखी जाती हैं उसका कारण उनकी अपरिपक्व दशा में शादी होना ही समझना चाहिये।

बाल-लग्न के परिणाम का एक करुणा जनक दृष्टान्त एक गृहस्थ आत्म कथा के रूप में नीचे लिखे अनुसार देता है "सोलह वर्ष की उम्र में मेरी शादी हुई मेरे पिता वृद्ध होने से मेरी माता ने आग्रह कर मेरे पिता के जीवन में मेरा लग्न करना निश्चित किया। जिस समय मेरी स्त्री की अवस्था बारह वर्ष की थी उस समय मेरा लग्न कर दिया। लग्न के पूर्व पाठशाला में मैं एक चंचल और उद्यमी विद्यार्थी गिना जाता था परन्तु ब्याह होने पर मेरी स्थिति पलट गई।

स्त्री में मैं अत्यन्त आसक्त रहने लगा और इसका फल यह हुआ कि मेरे शरीर में आलस्य का साम्राज्य जम गया और दिन को भी मैंने याद करना छोड़ दिया। पाठशाला में पाठक पाठ पढ़ाते उस समय भी मेरा ध्यान पुस्तक से निकल कर स्त्री के दर्शन में जा लगता था। अंत में मैं अभ्यास में पीछे रहने लगा। मेरी चंचलता हवा हो गई, मेरा उद्यमीपना किस प्रकार दूर हो गया यह समझ कर शिक्षक कई बार आश्चर्य करते थे। उसी वर्ष मेरे पिता का देहान्त हो गया और मैं भी परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुआ। मेरी माता के पास कुछ पूंजी थी इसलिये उसने मेरे पढ़ाने का कार्य प्रारम्भ रक्खा। दूसरे वर्ष इस क्लास में मैं पास हुआ। परन्तु आगे की क्लास में मैं फिर एक वर्ष असफल हुआ इससे मैं अब अभ्यास करने से घबड़ाने लगा। विशेष में एक नई उपाधि भी जागृत हो गई। इस वर्ष में मेरी स्त्री के एक पुत्री हुई और फिर मेरी स्त्री तथा मेरी माता का स्वभाव एक दूसरे के प्रतिकूल होने से घर में रोज क्लेश होने लगा। इन सब उपाधियों से छूटने के लिये मैंने पाठशाला छोड़ दी और स्त्री को साथ रख कर अलग रहने लगा। तुरन्त कुटुम्ब के पोषण करने की नई चिन्ता प्राप्त हुई तब मैंने नौकरी ढूंढ़ी। अभ्यास कम होने के कारण मुझे बहुत कम वेतन की नौकरी मिली। परन्तु उसमें ही मैं जिस तिस तरह अपना निर्वाह करने लगा। आज मुझे २७ वर्ष हुए हैं परन्तु मेरी अभी कैसी हालत है वह कहते हुए मेरी आंखों से अश्रु बहने लगते हैं। मेरे तीन पुत्री और १ पुत्र हैं और वे सब बीमार रहते हैं इसलिये औषधि लानी पड़ती है, मुझसे अब विशेष परिश्रम का कार्य नहीं हो सकता। कमर में बादी आगई है, पग दुखते ही रहते हैं खाना भी नहीं भाता और अजीर्णता, खट्टी डकार दिन भर

आया करती है। कमपगार में सब कुटुम्ब का खर्च भी नहीं निभता इसलिये मुझे मेरी स्त्री हमेशा कहती है कि कुछ अधिक उद्यम करो। परन्तु मैं किस तरह उद्यम करूं? नौकरी के सिवाय कोई भी अधिक भार का कार्य करने की मुझ में सामर्थ्य न रही। औषधि खाता हूं परन्तु उससे रोगों का नाश नहीं होता और नई चैतन्यता नहीं आती। जो ऐसी ही हालत रही तो मैं समझता हूं कि मैं ३० वर्ष की उम्र पूरी होने के पहिले ही इस दुनिया से प्रस्थान कर जाऊंगा। और मेरे बाल बच्चों को रोगिष्ठ, दुःखी, तथा निर्धन छोड़ जाऊंगा "यह आत्म कथन ही बाल लग्न से होती हुई हानियों का दिग्दर्शन कराने के लिये बस है"। ८५। ८६।

[बाल लग्न से भविष्य की प्रजा को जो हानि होती है उसका दिग्दर्शन कराते हैं]

बाल लग्न तो भाविष्यत्संततिहानिः । ८७ ।

यस्माद्बाल विवाहितस्य तनुजाः स्वल्पायुषो रोगिणो ।
मन्दोत्साहबलाः प्रमाद बहुला हीना भवन्त्योजसा ॥
नातो बाल विवाह पद्धतिरियं स्वानिष्टकृत्केवलं ।
दत्तेऽनिष्टफलं ततोऽधिकतरं किन्त्वत्र तत्सन्ततौ ॥

बाल विवाह से भविष्य की प्रजा को होती हुई हानियां।

भावार्थ और विवेचनः—बाल लग्न का रिवाज सिर्फ उस युगल वर कन्या को ही भयंकर हानि पहुँचाकर नहीं रह जाता परन्तु उतनी ही हानि या उससे भी अधिक हानि वह उनसे होती हुई संतति को पहुंचाता है। कारण कि बाल लग्न से कम उम्र में पैदा हुई संतान की उम्र भी

लम्बी नहीं होसक्ती अर्थात् उनके जीवन का जल्द ही अंत आ जाता है। कदाचित् जीते भी रहें तो शरीर में रोग की परंपरा प्रारंभ ही रहती है उत्साह और मनोबल का तो नाम भी न मिले। आलस्य और प्रमाद तो उनमें निवास ही करता है और तेज या कांति तो दग्ध ही हो जाती है। इस तरह वाल लग्न से अपने को तथा अपनी संतान को अनेक हानियां पहुंचती हैं। यह वात सिर्फ कल्पना नहीं परंतु अनेक स्थानों पर अनुभव सिद्ध प्रतीत हुई है तो इस भयंकर रूढ़ि को सुज्ञ पुरुष तिलांजली क्यों नहीं देते। अपरिपक्व वीर्य से उत्पन्न हुई प्रजा निर्वल और अल्पायु हो तो इसमें कौनसी नवीनता है? वैद्यक शास्त्र कहते हैं कि:—

पूर्ण षोड़श वर्षा स्त्री पंचविंशेन संगता।
वीर्यं वंतं सुतं सुतेततो न्यूनाब्दयोः पुनः॥
रोग्यल्पायुर धन्यो वा गर्भो भवति नैव वा॥

अर्थात्:—पचीस वर्ष का पुरुष हो और सोलह वर्ष की स्त्री हो तो उन से वलवान पुत्र उत्पन्न होता है परंतु इससे कम उम्र के स्त्री पुरुष हों तो उनका गर्भ रोगी थोड़ी उम्र वाला तथा कुरूप होता है अथवा वह जन्म ही नहीं लेता। इस तरह एक वाल लग्न से भविष्य की समस्त प्रजाको कैसा खराब नमूना मिलता है यह सहज ही समझ में आ जाता है। इसलिये कवि दलपत रामने पुकार २ कर कहा है कि:—

वाललग्न ना चाल थी, थाय घणां नुकसान॥
प्रजा वधी निर्वल वने, थई न शके विद्वान॥ ८७॥

——०——

षष्ठ परिच्छेद

आरोग्य और मिताहार

[अब मुख्य ऐहिक सुख 'आरोग्य' विषय पर विवेचन करते हैं]

आरोग्यम् । ८८ ॥

आरोग्यं प्रथमं सुखं निगदितं शारिरिकं सर्वथा ।
न स्याच्चेत्तदनर्थकं हि सकलं राज्यादिकं मन्यते ॥
तत्सत्त्वे परवैं-भवो भवतु वा मा नो तथापि क्षती ॥
रक्ष्यं तत्सकलै विंशेष विधया विद्यार्थिभिस्तूत्कटम् ॥

आरोग्य की आवश्यकता

भावार्थः—"पहिला सुख निरोगी काया" यह एक सामान्य कहावत सच्ची है। दुनियादारी के समस्त सुखों में पहिली पदवी सब तरह से शारीरिक आरोग्य या स्वास्थ्य ही की है अर्थात् शरार का आरोग्य रहना ही प्रथम सुख है, यह एक सुख जो मनुष्य के पास न हो तो दूसरी सम्पत्ति और सामर्थ्य चाहे जैसे हों सब व्यर्थ है, आरोग्य के विना किसी में भी मन नहीं लगता। उनके विरुद्ध एक आरोग्य हो और घर, महल, धन, कुटुम्ब इत्यादि दूसरी सम्पत्ति हो या न हो तो भी उनकी गैरहाजरी मनुष्य को उतना दुःख नहीं दे सकी जितना कि दुःख आरोग्य की गैरहाजरी देती है। इसलिये सब मनुष्यों को आरोग्य की रक्षा करना चाहिये। उनमें से विद्यार्थियों को तो खासकर शरीर की रक्षा करनी ही चाहिये (८८)

विवेचनः—आत्मा को आश्रय देने वाली स्थूल देह है और इसलिये शरीर की योग्य रीति से हिफाजत करना यह आत्मा का एक बड़ा भारी फर्ज़ है। यही कारण है कि पंडितों ने आरोग्य को प्रथम ऐहिक सुख माना है धन सम्पत्ति, धर्म कार्य, परोपकार, और उपभोग के जितने कार्य हैं, वे सब शरीर निरोग हो तो हो सके हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को निरोगी रहने का प्रयत्न करना चाहिये। आरोग्यता सब अवस्थाओं में एकसी उपयोगी है परंतु विद्यार्थी अवस्था में विद्यार्थियों को विशेष कर आरोग्य रहने का प्रयत्न करना चाहिये ऐसा जो उपदेश इस श्लोक में दिया वह अकारण नहीं है। विद्यार्थी अवस्था शरीर की अति कोमलावस्था है। इस अवस्था में शरीर की ओर का पूरा २ कर्तव्य न अदा किया हो तो फिर युवावस्था और वृद्धावस्था में पश्चात्ताप करने का ही समय आजाता है। कारण कि बाल्यावस्था की छोटी २ भूलें शरीर में पोषण पाकर इतनी बड़ी हो जाती है कि अंतिमा वस्थामें उनका उद्वेग जनक असर हुए बिना नहीं रहता। जो बाल्यावस्था से ही नीरोग रहने की आदत रखने वाले होते हैं भविष्य में इस टेव के कारण से ही उनके स्वास्थ्य पर खराब असर नहीं हो सका और इसलिये प्रथमावस्था में प्रत्येक विद्यार्थी को इस तरह वर्ताव रखना चाहिये कि जिससे पिछली अवस्थाओं में पश्चताप करने का समय प्राप्त न हो। स्कोपनहेअर नामक एक विद्वान ने कहा है कि "आरोग्यता इतना बड़ा आशिर्वाद है कि एक नीरोग भिक्षुक एक पीडित राजा से भी अधिक सुखी समझा जाता है"। कोल्टन नामक एक विद्वान कहता है कि "एक मनुष्य जब बीमार होता है तो उसे उसके धन से कुछ भी आनंद नहीं मिलता, कारण कि उसका सुवर्ण मुकुट उसकी मस्तक की बीमारी नहीं मिटा

सका। उसके मलमलके जूते उसके पग की बादी नहीं मिटा सक्के और उसके सुन्दर नक्शीदार वस्त्र उसका ज्वर नहीं उतार सक्के।" आरोग्य इतना अधिक मूल्यवान है और वह इसलिये मूल्यवान है कि इससे मनुष्यत्व की सफलता के लिये जो कार्य करने योग्य हैं वे करने में सरलता प्राप्त होती है। चाहे जैसे शुभ संयोग हों परंतु मनुष्य रोगी हो तो तो वह इष्ट सत्कार्यों को पूर्ण नहीं कर सक्ता जो का अपने निरोगी शरीर द्वारा बन सक्के हैं, वे कार्य दूसरों के हाथ से चाहे जितने धन द्वारा भी नहीं हो सक्के। और इसी लिये 'Halth is wealth' अर्थात् 'आरोग्यता ही धन है' ऐसा कहते हैं (८८)

आरौग्य प्रकारो। ८९ ॥

आरोग्यं द्विविधं मतं सुखकरं स्वाभाविकं कृत्रिमं।
रोगानुद्भवनोपचारजनितं तत्राद्यमस्त्युत्तमम् ॥
रोगोत्पत्तिरभूत्पुरा पुन रहो भैषज्यपा नाशनं।
तस्माज्जात मनामयं तदपरं नूनं मतं मध्यमम् ॥

आरोग्य के दो भेद।

भावार्थ:—प्रथम से ही इस तरह नियमित रीति के साथ वर्ताव किया जाय कि शरीर में किसी भी जाति के रोगों का उपद्रव न हो सके और आरोग्यता बराबर बनी रहे तो इस को स्वाभाविक आरोग्यता कहेंगे। दो प्रकार की नीरोगावस्था में से यह प्रथम अच्छी है। पहिले खान पान इत्यादि में गफलत रखने से रोग का उपद्रव हो जाय और फिर दवाइयां की जाय जिससे वह शांत हो जाय और शरीर

निरोगी बन जाय इसे कृत्रिम (बनावटी) आरोग्यता समझनी चाहिये। यह आरोग्यता दूसरे प्रकार की अर्थात् मध्यम गिनी जाती है। ८६।

विवेचनः—स्वाभाविक आरोग्यता और कृत्रिम आरोग्यता दो प्रकार की आरोग्यता वैद्यक शास्त्र में कही है। स्वाभाविक आरोग्यता प्रथम पद पर विराजती है और कृत्रिम आरोग्यता दूसरे पद पर। वैद्य भाव मिश्र ने अपने भाव प्रकाश नामक ग्रंथ में प्रथम पदवी के आरोग्य की पहिचान इस तरह दिखाई है.

> समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
> प्रसन्नात्मेंद्रिय मनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

अर्थात्:—जिसके शरीर में वातादि दोष, जठराग्नि, रसादि धातु और मलमूत्र की क्रिया समान हो अर्थात् क्रुद्ध न हुए हों तथा आत्मा, इंद्रिय और मन प्रसन्न हो वह मनुष्य निरोगी समझा जाता है. जो ये सब असमान स्थिति में हो तो शरीर में रोग उत्पन्न होता है और इस रोग का शमन करने के लिये औषधियों का सेवन करना पड़ता है। औषधियों के सेवन से जो आरोग्यता प्राप्त होजाय उसको कृत्रिम आरोग्यता समझनी चाहिये। स्वभाविक आरोग्यता बनाये रखना जितना सरल है उतना ही कठिन रोग होने पर कृत्रिम आरोग्यता सम्पादन करना है। मनुष्य कृत्रिम आरोग्यता के लिये धूंधां करते हैं परन्तु प्राकृतिक आरोग्यता स्थिर नहीं रखते यह बड़ा आश्चर्य है। स्वाभाविक आरोग्यता बनाये रखने की रीति वैद्यक शास्त्र में इस प्रकार वर्णन की गई है:—

> दिनचर्या निशाचर्या ऋतुचर्या यथोदिताम्।
> आचरन्पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा ॥

अर्थात्:—वैद्यक-शास्त्र के कथनानुसार दिनचर्या, रात्रि-चर्या और ऋतुचर्या को आदरने से मनुष्य हमेशा निरोगी रहता है दूसरी तरह नहीं, यह मार्ग तो इतना सरल है और कृत्रिम आरोग्यता प्राप्त करना कितना कठिन यह देखो। दिनचर्या, रात्रिचर्या, और ऋतुचर्या में नियमित न रहने से अर्थात् खानपान में गफलत रखने से, निद्रा विहारादि में भान न रखने से और ऋतुओं के प्रतिकूल पदार्थ खाने से प्रथम रोग होता है। इस रोग का शमन करने के लिये औषधि सेवन करने की आवश्यकता होनेपर "यमराज के सहोदर" वैद्य के पास जाना पड़ता है। ऊँट वैद्यों के हाथ से स्वास्थ्य को जितनी हानि होनी है उसका विचार तो त्याग देना चाहिये परन्तु वैद्यक-शास्त्र इतना अपूर्ण है कि उसका लाभ लेने से अवश्य आरोग्यता प्राप्त होगी ही ऐसी जमानत नहीं मिल सक्ती। एड्रियन बादशाह जब मरने लगा तब कहता था कि मेरी मौत एक समय वैद्यों के पाप से ही होगी। प्लेटोने एक जगह वर्णन किया है कि वैद्यों के मिथ्याभिमान और वचन कापट्य पर अपने स्वास्थ्य का आधार है। इस कारण से या शरीर में उत्पन्न हुए एक प्रकार के विष का शमन करने के लिये औषधि रूप दूसरे विष को दाखिल करना यह रीति भयङ्कर होने से कई विद्वानों ने तो वैद्यक विद्या की सहायता से आरोग्यता लाभ करने की रीति को धिक्कार दी है। अनवरने सुहेली में कहा है कि एक रोग उत्पन्न होने के पूर्व ही उसका निवारण कर देना यही श्रेष्ठ है और उत्पन्न होने के बाद निवारण करना दुःख जनक है। इस सबब से हमेशा स्वाभाविक आरोग्यता बनी रहे, ऐसा प्रयत्न शील होना चाहिये परंतु आरोग्य प्राप्त करने के कृत्रिम उपायों से तो दूर ही रहना चाहिये। ८३॥

[इस स्वाभाविक आरोग्यता को किस प्रकार स्थिर करना इसका उपाय अब दर्शाते हैं]

आरोग्यं किं स्वायत्तम् ? ॥ ६० ॥

यद्याहार विहार सर्व विधयो द्रव्येण कालेन वा ।
रक्ष्यन्ते किल सर्वदा नियमिता क्षेत्रेण भावेन यै ॥
यच्चक्षेपजमश्यते न विषये ना सज्यते भूयसा ।
रोगाणां न हि सम्भवोस्ति वपुषि प्रायस्तदीये क्वचित् ॥

आरोग्यता प्राप्त करना क्या अपने हाथ में है ?

भावार्थः—जो मनुष्य द्रव्य, क्षेत्र, काल के गुण और अपने शरीर की तासीर को समझ कर उसके अनुसार ही चलता है और खान पान गमनागमन इत्यादि सब शारीरिक विधियों में हमेशा नियमित रीति से वर्तता है। उसी तरह दवाई या अनजानी कोई वस्तु भी मुंह में नहीं डालता, जीभ जो वश में रखता है, काम भोग में अत्यन्त आसक्त नहीं रहता है, नियम का उल्लंघन नहीं करता है, तो उसके शरीर में रोग के उत्पन्न होने की कम शंका रहती है अर्थात् खान पान इत्यादि के नियमित रहने का कार्य जो अपने हाथ में रक्खा जाय तो आरोग्यता प्राप्त करना अपने ही हाथ में है (६०)

विवेचनः—स्वाभाविक रीति से प्रथम पंक्ति का आरोग्य बनाये रखना अपने ही हाथ में है परंतु अनारोग्य प्राप्त होने पर फिर आरोग्यता सम्पादन करना यह दूसरों के आधार पर ही निर्भर है। तात्पर्य यह है कि स्वास्थ्य बनाये रखने में स्वतंत्रता है और अस्वस्थ होने पर आरोग्यता सम्पादन करने में परतंत्रता है। इसी कारण से एक अंग्रेजी में कहावत प्रचलित है

कि An ounce of prevection is worth a pound of cure अर्थात् रोग को आते हुए कब्जे में करने की कोशिश का १ औंस (२॥ तोला) औषधियों द्वारा रोगी शरीर को निरोग बनाने की कोशिश के एक सेर के बराबर है। जिस तरह १ सेर एक औंस से १६ गुना वज़नदार है उसी तरह स्वाभाविक आरोग्यता औषधी द्वारा प्राप्त की हुई आरोग्यता से १६ गुनी अच्छी है ऐसा मानना अन्यथा नहीं है। तो अब यह विचार करना है कि—

अनारोग्य को उत्पन्न करने वाले कारण कहां पैदा होते हैं "माधव निदान ग्रन्थ में कहा है कि:—

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहित सेवनम्॥

अर्थात्:—अधिक तर सब रोगों का कारण कुपित मल है और उसके प्रकोप का कारण विविध प्रकार के अहित का सेवन कहा है। शरीर में मल का प्रकोप होने से अनारोग्य आता है और भिन्न २ प्रकार के अहित का सेवन करने से शरीर में का मल प्रकोप पाता है। जो ये विविध प्रकार के अहित का सेवन न किया जाय तो स्वास्थ्य को स्थिर रखने में कोई भी मनुष्य समर्थ है। अपने आप ही अहित का सेवन न करना इसमें कुछ परतंत्रता नहीं घुसी है स्वतंत्रता ही है और ऐसा करने के लिये प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र होकर अपनी स्वाभाविक आरोग्यता कायम रखने में भी स्वतंत्र ही हैं। आहार और विहार में जितेन्द्रिय रहना यह हितमार्ग है और स्वेच्छापूर्वक आहार विहार करना, यह अजितेंद्रियता है। खाने पीने का नियम रखना, अपने को न पचे ऐसे पदार्थों को अहित रूप मान कर उनका त्याग करना, अत्याहारी

पना त्यागना, जिव्हालौलुपी न बनना, विहार में विषयासक्ति में नियमित और अल्प सेवी होना यह सब हितमार्ग हैं सुश्रुत में कहा है कि—

व्याधि मिन्द्रिय दौर्बल्यम मरणं चाधिगच्छति।
विरुद्ध रस वीर्याढीन भुजानो नात्मवान्नरः ।

अर्थात:—अपने को न पचे ऐसे रस तथा वीर्यवान पदार्थों को खाने वाला अजितेन्द्रिय मनुष्य व्याधि, इन्द्रियों की दुर्बलता तथा मृत्यु प्राप्त करता है इस पर से हित का मार्ग समझना अति सरल हो गया है और उस हित मार्ग का अवलम्बन करना भी सरल है ऐसा मालूम होता है। जो शारिरिक स्वास्थ्य का मुख्य हित मार्ग सरल है तो फिर स्वास्थ्य बनाये रखना या बिगाड़ना भी अपने ही हाथ में है इसमें परतंत्रता कुछ नहीं। परतन्त्रता तो अस्वस्थ होने पर आरोग्यता प्राप्त करने में ही भरी है कारण कि उस समय सब आधार वैद्य और उसकी दवा पर ही निर्भर रहता है॥ ६० ॥

[मिताहार के लाभों पर पाठकों का मन आकर्षित होने के लिए नीचे का श्लोक दिया है]

मिताहारः ॥ ६१ ॥

कालो यो नियतोऽशनस्य समये तस्मिन्मित भोजन।
कार्यं ना धिक मंशतोपि भवतु स्वादिष्ठ मिष्टाशनम् ॥
भुक्तं यत्प्रथमं समस्त मशनं जीर्णं न यावच्चत।
त्तावत्स्वल्पमपि द्वितीय मशनं कार्यं न विद्यार्थिना ॥

मिताहार।

भावार्थः—भोजन करने का जो समय नियमित है उसे लांघ कर परिमाण से अधिक भोजन करना भी आरो-

ग्यता को हानि पहुंचाता है इस लिये विद्यार्थियों को (वैसे ही प्रत्येक मनुष्य को) अपनी खुराक से कुछ कम खाना अच्छा है परन्तु अधिक तो एक अंश भी न खाना चाहिये। भोजन चाहे जितना स्वादिष्ठ और रुचिकारक क्यों न हो तो भी अधिक आहार तो कदापि नहीं करना चाहिये। उसी तरह एक बार भोजन कर लेने पश्चात् वह भोजन जहां तक पूर्ण रीति से न पच जाय और खूब भूख न लगे तब तक दूसरी वक्त थोड़ा भी भोजन न करना चाहिये। भोजन के समय विना कुछ भी खुराक मुंह में न डालनी चाहिये। हमेशा मिताहारी रहने से शरीर का आरोग्य बराबर कायम रह सक्ता है (८१)

विवेचनः—'मित आहार' अर्थात् परिमित-माप का आहार का नाप एक रीति से नहीं हो सक्ता हम इतना ही भोजन करेंगे इस से मिताहार के नियमों का पालन हो गया, ऐसा नहीं समझना चाहिये। नियमित समय पर और नियमित प्रमाण में जिह्वा के हित का आनन्द का विचार त्यागकर शरीर के हित का विचार रख कर, आहार करना यही सच्चा मिताहार कहलाता है। अनियमित समय पर अनियमित प्रमाण में आहार करने से क्या फल प्राप्त होता है? उसके बारे में सुश्रुत कहता है कि "भूख लगे विना भोजन करने वाला दृढ़ देहधारी मनुष्य भी अनेक व्याधि या मृत्यु को प्राप्त होता है, उसी तरह भूख मार कर जीमने वाला मनुष्य दूसरी वक्त भोजन करना नहीं चाहता क्योंकि वायु द्वारा नष्ट जठराग्नि में असमय पर खाया हुआ अन्न कष्ट से पचता है।" इस तरह भूख विना अधिक खाने से व्याधि और मृत्यु का भय रहता है तथा अनियमित समय पर भूख को मारकर भोजन करने से "अपच" नामक दर्द का भय रहता है इस सबब से स्वास्थ्य कायम रखनेवालों को "मिताहार का" योग्य अर्थ

समझ कर मिताहारी बनना चाहिये फिर सुश्रुत में कहा है कि—

हीनमात्रम संतोषं करोति च बल क्षयम्।
आलस्य-गौरवा टोपसादांश्च कुरुतेऽधिकम्॥

अर्थात्:—रुचि होने पर थोड़ा भोजन तृप्ति नहीं कर सक्ता और बल का क्षय करता है तथा अरुचि में किया हुआ भोजन आलस्य, जड़ता, पेट में गड़बड़ाहट, तथा थकावट पैदा करता है। इस पर से परिमित आहार करना न्यूनाधिक न लेना ऐसा तात्पर्य निकलता है तथा आरोग्यता प्राप्त रखने के लिये यही सच्चा मार्ग है। परन्तु रुचि होने पर कम भोजन करने से शरीर का जो कुछ अहित होता है उसकी अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक अहित रुचि उपरांत भोजन करने से होता है। रुचि होते कम खानेवाला अल्पाहारी मनुष्य एक प्रकार की तपश्चर्या करता है उसे "उणोदरी तप" कहते हैं। उससे उसका बल क्षय होता है ऐसा कहने में कुछ अतिशयोक्ति है। शरीर में उत्पन्न हुए, मल-कचरे और रोग का नाश करने के लिये अमेरिका में कई बीमारों को वहां के डाक्टर उणोदरी तप स्वीकार करने का आदेश देते हैं और कम खाने या उपवास करने के लिये कहते हैं। आदत हुए बिना रोज २ कम आहार करने से शरीर को कम पोषण मिलने के फल से शारीरिक बल के क्षय होने का शक होता है परन्तु एक दिन भी रुचि से अधिक ठूंस लेने से अनेक रोग और अंत में मृत्यु तक होने के दृश्य देखने में आये हैं। तात्पर्य यह है कि अल्पाहार से अत्याहार अधिक भयंकर है परन्तु कभी मिताहार के नियम भंग होने का प्रसंग आ जाय तो अल्पाहार करना परन्तु अत्याहार तो कभी न करना चाहिये (६१)

[किस प्रकार के भोजन से शरीर का हित होता है वह अब फरमाते हैं]

आरोग्य रक्षकं किं भोजनम् ।६२।

न स्याच्छीततरं न चाति विकृतं नोन्मादतन्द्राकरं ।
नात्यर्थं कफ वात पित्त जनकं नो जन्तुयोन्यात्मकम् ॥
शास्त्रे यन्न निषिद्धमेवममलं नो तामसं राजसं ।
तद्भोज्यं समयोचितं सुखकरं विद्यार्थिनां सर्वथा ॥

कौनसा भोजन आरोग्य रक्षक है ?

भावार्थः—जो भोजन अधिक ठंडा न हो, वर्ण, गंध, रस के चलित होने से विकारी न हुआ हो, शरीर में उन्माद करने वाला तथा आलस बढ़ाने वाला न हो, वायु, पित्त और कफ की वृद्धि करने वाला या उसमें हेर फेर करने वाला न हो, शास्त्र में जिसका निषेध नहीं हो तथा शरीर और मन की जड़ता बढ़ाने वाला एवं, तमोगुणी न हो तथा चित्त को चंचल बनाने वाला, रजोगुणी भी न हो, ऐसा भोजन द्रव्य क्षेत्र और समय के अनुसार बना हुआ हो तो, यही भोजन आरोग्य रक्षक होने से विद्यार्थियों के हितकारक समझा गया है। इसके सिवाय और सब भोजनों का विद्यार्थियों को हमेशा त्याग करना चाहिये।

विवेचनः—जो भोजन जिह्वा को अच्छा लगता है वह शरीर को भी अच्छा लगता है, ऐसा कभी न समझना चाहिये। जिह्वा इन्द्रिय हमेशा लोलुपी है। वह अपने क्षणिक आनन्द के लिये मन को भिन्न २ पदार्थों की ओर खींच ले जाती है। परन्तु शरीर का हित नहीं सोचती। एक अंग्रेज़ लेखक

मी. आर. जेमूवर्स ने ओझरी की फर्याद में एक बोधात्मक लेख लिखा है। उसमें ओझरी कहती है कि "मेरे स्वामि अपनी जिह्वा के स्वाद का हमेशा विचार करते हैं और जो कुछ मन को भाया वही खाते हैं परन्तु उनके लिये मुझे क्या २ सहन करना पड़ता है यह नहीं सोचते। इस कारण से दिन के चौवीसों घंटे मुझे आकुल व्याकुल रह कर निकालना पड़ते हैं" यह अर्ज़ सच्ची है। जो ओझरी की इस अर्ज पर ग़ौर कर मुँह के स्वाद का विचार न करते आरोग्य रक्षक भोजन करने की ओर जन समाज की प्रवृत्ति झुके तो उसे अर्ज़ भी न करनी पड़े। और ओझरी रूपी दासी पर आधार रखकर तन्दुरुस्ती देवी को बिछौने पर पड़ने की आवश्यकता न रहे। तब भोजन कैसा करना चाहिये? भाव प्रकाश में कहा है कि:—

> अत्युष्णान्नं बलं हन्ति शीतं शुष्कं च दुर्जरम्।
> अतिक्लिन्नं ग्लानिकरं युक्ति युक्तं हि भोजनम्॥

अर्थात्:—अति गरम अन्न बल का नाश करता है। ठंडा और शुष्क अन्न जल्दी नहीं पचता और अति कुरूप वाला अन्न सुस्ती लाता है इसलिये भोजन युक्ति युक्त होना चाहिये। शरीर में तीन प्रकार के तत्व हैं। वात, पित्त और कफ, वाग-भट्टने कहा है कि विकृताऽविकृता देहंघ्नंति ते वर्तयन्ति च, अर्थात् तीनों तत्व जो विकारी बनते हैं तो देह का नाश करते हैं और अविकारी रहे तो देह को निभाते हैं इसलिये आहार ऐसा करना चहिये कि जिससे ये तीनों तत्व समतोल में रहें। और उनके विकारी होने का फल शरीर को विकारी न बना सके, मांस, मत्स्य, कंद, मदिरा, भारी और नहीं पच सके ऐसे तथा शरीर को हितकारी न हो ऐसे पदार्थों का आहार

नहीं करने का शास्त्रों में कथन किया है; इसलिये ऐसे पदार्थों को त्यागकर बाकी के पदार्थ जो सुस्ती उत्पन्न करते हैं अर्थात् तमोगुण बढ़ाने वाले हैं और जो पदार्थ चित्त को विकारी चंचल बनाने वाले हैं अर्थात् रजोगुण वर्धक हैं उन पदार्थों को त्याग कर सत्व गुण को बढ़ा सके ऐसे पदार्थों का हमेशा सेवन करना चाहिये और ऐसा ही आहार देह की भलाई करने वाला गिना जाता है।६२।

[कदाचित् भूल से अथवा आहार की विषमता से शरीर रोगिष्ट हो जाय तो रोग का निवारण करने के लिये तात्कालिक कौनसा उपाय करना चाहिये ? वह नीचे के श्लोको में दिखाते हैं]

आरोग्य प्राथमिकोपायः ।६६।

यत्किञ्चित्स्खलनादिना यदि भवेत्कश्चिद्गदोजाठरः ।
संशुद्धं लघु भोजनं तदपि वा न्यूनं विधेयं रुचेः ॥
यद्वोत्स ह पुरः सरोप वसन कार्यं यथा शक्तितो ।
यावच्चैतदुपायतो गदलयस्तावद्धितं नौषधम् ॥

रोग निवारण करने का प्राथमिक उपाय,

भावार्थः—खान-पान प्रभृति में सावचेत रहने पर भी कदाचित् किसी समय रसलोलुपता के कारण कुछ भूल होजाय और उसके फल से अजीर्णता इत्यादि रोग पैदा हो जायं तो उनको दूर करने के लिये पहिला उपाय यह है कि तब से भारी खुराक न खानी चाहिये। हलका भोजन भी रुचि हो उससे कम खाना चाहिये परंतु अधिक न खाना चाहिये या अष्टमी, पक्खिका, इत्यादि जिस दिन मनमें उत्साह बढ़े उस दिन यथा शक्ति उपवास करना चाहिये और उपवास न बने

तो "एकाशना" करना चाहिये जब तक उपरोक्त उपायों से अजीर्णता इत्यादि जठर के दर्दों का निवारण होजाय तब तक किसी भी जात की दवा पेट में न डालना ही योग्य है। नियमित भोजन करने वाले को उपरोक्त उपायों से अधिक अंश में रोगों को निवारण करने में सफलता प्राप्त होती है।६३।

विवेचन:—कुछ भी शरीर में दर्द हुआ कि जल्द ही वैद्य के पास दौड़ जाने वालों को इस श्लोक में बताई हुई युक्ति पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। शरीर रोगी हो जाय तो उसे रोग से मुक्त करने का प्राकृतिक मार्ग औषधि खाना नहीं है। डायोकलीज़ का ऐसा मत है कि "अपना शरीर जिन २ तत्वों का बना है उन तत्वों में रही हुई विषमता के और जो हवा अपन लेते हैं उस हवा के, गुणावगुण के कारण अपने में रोग प्रवेश करते हैं" यही मत आर्य वैद्यों का भी है। जो शरीर के मुख्य तत्वों का वैषम्य दूर किया जाय तो रोग से मुक्त होजाना बिलकुल सरल ही है-मोन्तेन कहते हैं कि, अधिक दवा खानेवाले जो २ लोग मेरे परिचय के हैं उन सब के सम्बन्ध में मुझे यह ज्ञात हुआ है कि वे दवा खाकर अच्छे होते हैं परंतु फिर वे एक दम बीमार हो जाते हैं और उनकी वह बीमारी अधिक समय तक बनी रहती है। मैं कभी २ बीमार पड़ा था और उस समय मैंने बहुत से उपचार किये थे तो भी कहता हूं कि किसी भी वैद्य की मदद लिये बिना या उनकी बदस्वाद वाली मात्रा खाये बिना मैंने मेरी कई बीमारियां सुख से सहन कर ली हैं। इतना ही नहीं परंतु उन सब को जल्द ही पचा भी सका हूं। जब तक स्वाभाविक उपायों से रोग की शांति हो सक्ती है तबतक दवा रूपी विष देह में न डालना चाहिये यही हितकारक है। शरीर में मल के प्रकोप से रोग होता है इस लिये मल का नाश करने के लिये उणोदरी तप आदरना अर्थात्

रुचि से कम खाना और जल्द ही पच सके ऐसा हलका भोजन करना यह अति उत्तम सलाह है, इससे सरलता से उत्पन्न हुए अनेक रोग जल्द नाश होजाते हैं, जो शक्ति हो तो मास में दो या चार उपवास करना अथवा एकासने करना चाहिये, यह भी शरीर में इकट्ठे हुए मल को साफ करने का अचूक इलाज है।

इस सम्बन्ध में लुई कोरोनर नामक एक विद्वान का दृष्टांत अधिक उपयोगी है। अधिक मसाले दार और मीठे मीठे भोजन खाने से इनकी तंदुरुस्ती बिगड़ने लगी और वह यहां तक बिगड़ी कि उनके जीवन की आशा न रही उसके पश्चात् वे सिर्फ १ पौंड बिलकुल सादा भोजन करने लगे और वे इतने तंदुरुस्त हो गये कि ६० वर्ष की उम्र तक उन्हें तिलमात्र भी रोग न हुआ। फिर उन्होंने अपनी खुराक ५ रुपये भर और बढ़ाई इस लिये उनकी तन्दुरुस्ती बिगड़ गई, बार २ वे बीमार होने लगे तो उन्होंने वही भोजन उसी प्रमाण में लेना प्रारंभ किया। छियानवें वर्ष की उम्र में उन्होंने यह लिखा कि मेरा जीवन मुझे आनंद मय और शांति युक्त मालूम होता है। सौ वर्ष की उम्र तक उन्होंने वैसी ही तंदु-रुस्ती भोगी। उस समय भी वे ७-८ घंटे तो प्रतिदिन लिखते थे और इसके सिवाय वे नियमित रीति से व्यवहारिक कार्यों में भी भाग लेते थे। उनके सम्बन्ध में उनकी भतीजी लिखती है कि उनकी सौ वर्ष की उम्र में भी वे शरीर से निरोगी और बलवान थे, उनकी मनोवृत्ति शुद्ध थी, और स्मृति भी ताजी ही रहती थी। आखों पर चश्मा लगाने की उन्हें ज़रूरत न थी। कर्णेंद्रिय भी युवाओं के समान चपल थी। उनका कंठ इतना बलवान और मधुर था कि वे जब २० वर्ष के थे, तब

जिस उत्साह और बल से गाते थे, वैसे ही उत्साह और बल से वे सौ व ॅ की उम्र में भी गाते थे ॥ ६३ ॥

[अंतमें औषध बिना अगर रोग का नाश न होगा ऐसाही जचे तो उस समय क्या करना चाहिये ? उसका वर्णन करते हैं]

कीदृश मौषधं न ग्राह्यम् ॥ ६४ ॥

दुःसाधाहिभवन्ति भैषज शतै रोगास्तु वृद्धिङ्गता ।
स्तेषां स्याच्च कथं पुनः समुचितं शत्रो रिवो पेक्षणम् ॥
कार्यतत्प्रतिरोधनं परिचितोपायैश्च देश्यौपधे ।
धर्म भ्रंश करौषधं तु मनसा नेष्टव्य मिष्टार्थिभिः ।

प्राथमिक उपाय से रोग न मिटे तो फिर क्या करना चाहिये ।

भावार्थः—जिस तरह बलवान शत्रु को पहिले से वश न किया जाय तो फिर पीछे वह अधिक बलवान हो जाता है और उसका वंश करना कठिन हो जाता है । इसी तरह साधारण उपायों से रोग की निवृत्ति न हो और कदाचित् वह रोग बढ़ गया तो फिर कई दवाइयों से भी उस रोग को दबाना मुश्किल हो जाता है इसलिये शत्रु की तरह पहिले से ही उन रोगों को दबाने की उपेक्षा करना उचित नहीं । ऐसा मानकर जो कदाचित् औषधियों का उपचार किया जाय तो भी इतना तो खास ध्यान में रखना चाहिये कि जब तक परिचित और प्रसिद्ध अपने देश की औषधियों से काम निकले तब तक धर्म से भ्रष्ट करने वाली दारू (मदिरा) मांस के मिश्रण वाली अपरिचित परदेशी औषधियों के उपयोग करने की इच्छा कभी नहीं रखना चाहिये और अपना श्रेय चाहने वाले विद्यार्थियों का भी यही परम कर्तव्य है । ६४ ।

विवेचनः—पथ्यपालन में और आहार विहार में भूल होने से उत्पन्न हुए रोग अल्पाहार, उपवास, अथवा हलके सात्विक अनाहार से मिट सके हैं. ऐसा प्रथम कह चुके हैं। कदाचित इसरीति से रोग का नाश न हो तो फिर जल्द ही वैद्य की सेवा में जाना चाहिये। घर की दवायें या ऊंट वैद्यों के नुसखों का अनुभव लिये पश्चात् हुशियार वैद्य के पास जाने से रोग अधिक बढ़ता जाता है। इसलिये जो औषधि खाने की आवश्यकताही पड़े तो पहिले से ही विद्वान वैद्य के पास जाना और औषधोपचार प्रारंभ करना चाहिये। औषध खाने के प्रथम इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि कोई भी रोगी के रोग का नाश करने में स्वदेशी वैद्य जितना असर कारक होता है, उतना परदेशी वैद्य असर नहीं दिखा सका। इसलिये परिचित और धर्म से भ्रष्ट न कर सके ऐसी औषधियों का ही उपयोग करना चाहिये। कितने ही पाखंडा वैद्य अपनी औषधियों के उपचार का महत्व बढ़ाने के लिये चित्र विचित्र प्रकार की औषधियां बताते हैं। मोन्तेन कहते हैं कि "वे लोग जिन २ औषधियों को पसंद करते हैं उनमें भी कुछ गूढ़ता और पाखंड अवश्य भरा रहता है। कच्छप का बायां पाँव, मगर मच्छ का मूत्र, हाथी की लीद, छछुंदरी का कलेजा, सफेद कबूतर के दाहिनी ओर के पंख नीचे से खींच कर निकाला हुआ खून और पथरी रोग से पीड़ित मनुष्यों के लिये तो मारमार कर इकट्ठे किये चूहों का उच्छिष्ट और इसी तरह अनेक बन्दरों के कौतुक समान कैसी भी, बिना शास्त्रीयता की और केवल जादू की बातों से भरी हुई अनेक दवाइयाँ अपने को बताते हैं। "ऐसे भयङ्कर पाखंडी और ऊंट वैद्यों के घास की और धर्म भ्रष्ट करने वाली औषधियों के उपचार

से हमेशा सावचेत रहकर वर्ताव करना चाहिये यह सलाह प्रत्येक रोगी के लिये हितकर है ॥ ६४ ॥

[आरोग्य का सामान्य ज्ञान समझ लिया जाय और उसके अनुसार ही व्यवहार किया जाय तो प्रत्येक मनुष्य अपना २ वैद्य हो सकता है इस आशय का कथन अब करने में आता है]

आरोग्य सामान्य ज्ञानम् ॥ ६५ ॥

सामान्येन शरीर रक्षण विधिर्व्याधेर्निदानं तथो ।
पायास्ते वहुधाद्रुतं हितकरा रोगस्य विद्रावणे ॥
एतत्सर्वमनामयार्थं मुदितं वृद्धैश्च शास्त्रैस्तथा ।
ज्ञेयं तत्सकलैर्जनैः प्रथमतः स्वारोग्य रक्षा कृते ॥

आरोग्य का साधारण ज्ञान ।

भावार्थः—शरीर की रक्षा करने के सामान्य नियम कौन २ से हैं? वड़े २ साधारण रोग कौन २ से और वे रोग क्यों पैदा होते हैं? और उनके सुलभ उपाय साधारण रीति से कौन २ से हैं? इन सब प्रश्नों की साधारण स्थित और हकीकत आरोग्य की रक्षा के लिये वृद्ध अनुभवी पुरुषों ने जिन २ शास्त्रों में कही है वह हकीकत प्रत्येक विद्यार्थी या मनुष्य को अपना आरोग्य कायम रखने के लिये पहिले से ही समझ लेना चाहिये। या तो अन्य शिक्षा के साथ शरीर रक्षा की शिक्षा को भी मिश्रित करना चाहिये कि जिससे प्रत्येक मनुष्य अपना २ वैद्य वन सके और शरीर रक्षा के नियमों का पालन कर अपना स्वाभाविक आरोग्य बनाये रहे ॥ ६५ ॥

विवेचनः—लोग आहार-विहार में नियमितता नहीं रखते। इस लिये वे रोग के भोगी हो जाते हैं। उसका कारण आरोग्य

और उसके सम्बन्धी नियमों का अभाव ही है। जो इस सम्बन्ध का सच्चा और सुदृढ़ ज्ञान फैल जाय तो लोग अपने को न पचे ऐसे और अहितकारी पदार्थ खाने से निवृत्त रहें। भूखे पेट में अधिक पानी पीना नहीं चाहिये। स्वाभाविक हाजतों को दवाना नहीं। वस्त्र ओढ़े विना सोना नहीं। खाकर कसरत करना या दौड़ना नहीं चाहिये इत्यादि आरोग्य के सामान्य नियम अपने सैकड़ों वृद्ध मनुष्य जानते हैं और जो इनके अनुसार वर्ताव करते हैं वे रोगी भी नहीं होते परन्तु स्वास्थ्य सम्बन्धी साधारण और स्वाभाविक ज्ञान नहीं रखनेवाले मनुष्य ही आहार विहार में अनियमित वनकर रोग के भोगी हो जाते हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को आरोग्य स्थिर रहने के सामान्य नियम समझना चाहिये और उनके अनुसार वर्ताव करना चाहिये। होमर और प्लेटो लिख गए हैं कि 'इजीप्ट के बहुत से रहवासी वैद्य ही थे'। इसका अर्थ यह है कि वे आरोग्य सम्बन्धी ऐसा ज्ञान रखते थे कि उन्हें रोग ही न होता था। और जो होता तो उसका उपचार वे खुद ही कर लेते थे। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य को अपना २ वैद्य वनने का प्रयत्न करना चाहिये॥ ६५॥

सप्तम परिच्छेद ।

—:o:—

आज्ञाधीनता ।

आज्ञाधीनता ॥६६॥

पित्राज्ञा शिरसा सदा हितधियाधार्या-सुविद्यार्थिभि ।
योग्य स्यापि च शिक्षकस्य वचनं नोल्लङ्घनीयं तथा ॥
शिक्षा धर्म गुरोः शुभाशयजुषश्चिते निधेया स्थिरं ।
नैतद्भङ्ग विचिन्तनं सुखकरं विद्यार्थिनां सर्वथा ॥

आज्ञांकितता ।

भावार्थः—पुत्र के ऐहिक और अलौकिक हित को हृदय में रखने वाले माता पिता की आज्ञा प्रत्येक सुज्ञ विद्यार्थियों को सिर पर चढ़ानी चाहिये । उसी तरह विद्यार्थी का भला चाहनेवाले योग्य शिक्षक के हित वचन भी पूर्ण प्रेम से मान्य करना चाहिये एवं सब जीवों का श्रेय करने वाले, उच्च आशय वाले और देश काल के ज्ञाता, धर्म गुरु के शिक्षावैन भी अमूल्य रत्न की तरह हृदय में धारण करना चाहिये और उनके अनुसार वर्ताव करना चाहिये । मा बाप, शिक्षक और सद्गुरु इन तीनों के हुक्म का भंग करने और अनादर करने का संकल्प भी करना विद्यार्थियों को योग्य नहीं है ।६६।

विवेचनः—विद्यार्थियों का एक मुख्य धर्म बड़ों की आज्ञा मानना और योग्य मनुष्यों की आज्ञानुसार चलना है । जो युवक माता पिता, गुरु या दूसरे चतुर मनुष्यों की आज्ञा न

मान इच्छानुसार व्यवहार करते हैं। उन्हें पीछे से बहुत पश्चात्ताप करने का मौका आता है। कितने ही अभिमान और पंडिताई से ऐसा मानते हैं कि हमसे कम पढ़े हुए बड़ों से तो खुद हम ही अधिक पढ़े हैं इससे उन से अधिक चतुर हैं। परंतु ऐसा समझना उनकी बड़ी भारी भूल है। संसार सफलता पूर्वक व्यतीत करने के लिये पुस्तकों से प्राप्त की हुई विद्या की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि अनुभविक और पूर्णता प्राप्त चतुराई की। और ऐसी चतुराई युवकों की अपेक्षा उनके बड़ों में विशेष होने से उनकी आज्ञानुसार व्यवहार करना यह युवकों के हित में लाभकारी ही है। चाणक्य नीति में कहा है कि:—

> जनिता च विनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति।
> अन्नदाता भयत्राता पंचैते पितरः स्मृताः॥

अर्थात्:—जन्म देनेवाला पिता, नियमबद्ध करनेवाला राजा, विद्या देने वाला गुरु, अन्न देनेवाला या भय से रक्षा करने वाला रक्षक ये पांचों पिता के समान हैं। फिर माता पिता की और पुत्र के धर्म सम्बन्ध में औशनस स्मृति में कहा है कि:—

> नास्ति मातृ समं दैवं नास्ति तात समो गुरुः।
> न ताभ्या मननुज्ञातो धर्म मेकं समाचरेत॥

अर्थात्:— माता के समान कोई देव और पिता के समान कोई बुजुर्ग नहीं है इसलिये उनकी आज्ञा के बिना कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये।

जिस तरह माता पिता की आज्ञा में रहने का विद्वानों का उपदेश है। उसी तरह राजा, गुरु, इत्यादि भी पिता रूप ही हैं

और उनकी आज्ञा में रहना भी विद्यार्थियों का परम धर्म है। बुद्ध ने भी अपनी नैतिक आज्ञाओं में ऐसा उपदेश किया है कि "मूर्खों की सेवा न करना परंतु चतुर मनुष्यों की सेवा करना चाहिये; योग्य का यथोचित आदर करना और माता पिता का पोषण करना यही उच्च से उच्च आशिर्वाद है।*माता पिता, गुरु, राजा, इनके सिवाय कोई भी योग्य मनुष्य अपनी भलाई के लिये बात कहता हो तो उसे भी पिता रूप समझकर उसके हित वचनों को सुन उन्हीं के अनुसार विद्यार्थियों को व्यवहार करना चाहिये।

एक गुरु के पास ज्ञानचन्द्र और विज्ञानचंन्द्र नामक दो शिष्य विद्याभ्यास करते थे। ज्ञानचन्द्र से विज्ञानचन्द्र बुद्धि, स्मरणशक्ति, और अभ्यास में हमेशा आगे ही रहता था। दोनों शिष्य गुरु की अच्छी तरह आज्ञा मानते और उनके एक शब्द को भी न पलटते थे तो भी गुरु एक दो वक्त विज्ञानचन्द्र को कुछ बहाने से या दोष दिखाकर उपालंभ दिया ही करते थे। ज्ञानचन्द्र मुझ से अभ्यास में अशक्त है तो भी गुरु उस पर अधिक प्रेम रखते हैं यह पक्षपात देखकर विज्ञानचन्द्र को बहुत क्रोध आया और गुरु को इस अन्याय का अवश्य बदला देना चाहिये; ऐसा मन में दृढ़ संकल्प कर एक समय अर्द्ध रात्रि में अपने कर में तलवार ले गुरु की घात करने के लिये विज्ञानचन्द्र अपने घर से निकल उनके घर गया। उस समय गुरु अपनी स्त्री के साथ अपने घर के चौक में बैठे हुए बात-चीत कर रहे थे। प्रसंगोपात स्त्री ने पूछा "स्वामिन्! मनुष्य

---

* Not to service the foolish but to serve the wise,
To honour those worthy of honour. This is the greatest blessing. To support father and mother.

किस यत्न से उच्च प्रकार के दैवत्व को पा सक्ते हैं ?" पति ने कहाः—"अनेक प्रकार के उत्तम चारित्र और ज्ञान से मनुष्य उच्च दैवत्व को पाते हैं।" तब स्त्री ने पूछा "अपने परिचित जनों में ऐसा दैवत्व कौन पा सकेगा यह आप कह सकेंगे ?" पति ने कहा; "हां, विज्ञानचन्द्र, जैसा बुद्धिमान, विद्वान्, और आज्ञांकित, तथा विनयी मनुष्य अवश्य ऐसे दैवत्व को प्राप्त कर सक्ता है।" स्त्री ने कहा "विज्ञानचन्द्र ऐसा आज्ञांकित और बुद्धिमान् है तो आप रोज उसके दोष निकाल कर उसे उपालम्भ क्यों देते हो ?" पति ने कहा "अभी तक उसने मेरी आज्ञा लोपी नहीं परन्तु अति विद्या गर्व को जन्म देती है; इसलिये भविष्य में वह आज्ञांकित न रह कर अविनयी हो जाय ऐसा मुझे भय रहता है, इस कारण उसे उसके दोष दिखाकर उसकी अपूर्णता उसके मस्तिष्क में ठसाता रहता हूं कि जिससे वह घमंडी न हो जाय।" यह बात विज्ञानचन्द्र बाहर खड़ा २ सब सुनता था, वह यह सुनकर चकित हुआ। और अपने पर गुरु के प्रेम का उसे ज्ञान हुआ; तब उसी समय वह प्रत्यक्ष जाकर गुरु के चरण में सिर नवा कर क्षमा मांगने लगा। सद्गुरु हमेशा शिष्य का भला ही चाहते हैं इसलिये उनकी आज्ञा कभी न टालना चाहिये ऐसा उपदेश इस दृष्टान्त पर से प्राप्त होता है। ९६।

[विद्यार्थियों में आज्ञांकित पने के सिवाय विनय के गुण होने की आवश्यकता अब दिखाते हैं]

विनय ॥९७॥

पूज्यास्ते जनकादयो गुरुजना ज्येष्ठाश्च सद्बान्धवाः।
प्रातस्ते गुरु भावतोऽमलधिया नित्यं प्रणम्या जनैः॥
तत्पार्श्वे हसनासनप्रलपनं दुश्चेष्टिता शङ्कनं।
त्वंकारादि च सर्वथैव सुजनै-स्त्याज्यं सदा श्रेयसे॥

वड़ों का विनय।

भावार्थ और विवेचनः—माँ बाप, पिता के माँ बाप, बड़े मनुष्य, बड़े भाई और दूसरे भी जो माननीय हों उन सबकी ओर विद्यार्थियों को आदर सहित पूज्य भाव और गुरु भाव रखना चाहिये। उपरोक्त बड़े मनुष्य सुबह के समय प्रणाम करने योग्य हैं। उनके सामने कभी भी हँसी ठट्टा करना नहीं, आसन पर बैठना नहीं, क्रीड़ा खेल या कुचेष्टादि नहीं करना चाहिये। टेढ़ा बांका नहीं बोलना चाहिये। उसी तरह बड़ों को कभी तूकारे हूंकारे से नहीं बोलाना चाहिये। किसी भी स्थान पर उनका अपमान नहीं करना, उनके सामने किसी को गाली न देना या असभ्य वचन नहीं बोलना चाहिये। बड़ों की ओर सामान्य प्रकार का विनय दिखाने का बोध कथन इस श्लोक में किया है 'विद्या विनयेन सोभते' अर्थात् विद्या विनय से शोभा देती है इस कथनानुसार विद्यार्थियों को विनय के गुण को योग्य रीति से आश्रय देना चाहिये। एक विद्यार्थी जितने अंश में अपने बड़ों की ओर पूज्य भाव रखता है अथवा वह उनकी शरम रखता है उतने ही प्रमाण से बड़ों की उन पर विशेष प्रीति बढ़ती है और इस प्रीति का फल उन्हें यह मिलता है कि जब इन विद्यार्थियों के भविष्य में संतान होती है तब वे संतान भी अपने बड़ों की ओर वैसा ही उचित विनय दिखाकर देवतुल्य समझ बड़ों को संतुष्ट रखती हैं।९७।

गुरु जननान्तिक आसन विधिः।९८।

तेषा मासनतो न चोन्नततरं स्थाप्यं कदाप्यासनं।
दत्त्वापृष्ठनासित व्यमथवा पादौ प्रसार्य क्वचित्॥

पल्यङ्कासनमारचय्य विधिना कृत्वा च हस्ताञ्जलिं।
स्थेयं पूज्यजनान्तिके विनयतो विद्यार्थिभिः सन्ततम् ॥
बड़ों के सामने बैठने की विधि ॥

भावार्थः—उपरोक्त बड़ों के सामने विद्यार्थियों को बैठना हो तो उसकी विधि इस प्रकार है। वे बड़े जिस आसन पै बैठे हों उनसे उच्चासन पर न बैठें। उनके सामने अपनी पीठ न करें और उनके सामने पग लम्बे भी न करें। हाथ से पलाठी या पालगती बांध कर न बैठें और उसी तरह पग पर पगचढ़ा अभिमान दर्शक आसन से भी न बैठें, किंतु हाथ जोड़, पलाठी छोड़, विनय पूर्वक उनके सामने बैठने का विद्यार्थियों को हक़ है परन्तु अविनय से बैठने का अधिकार नहीं ॥ ६८ ॥

विवेचनः—विद्यार्थियों के अनुकरण करने योग्य विनय मार्ग में गुरु जनों की ओर का विनय प्रथम पद पर विराजता है—केवल विद्या सिखाते हैं वे ही गुरु कहलाते हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये। परंतु अपने हितार्थ जो २ बड़े पुरुष कुछ भी आचरण करें वे सब गुरु जन विद्यार्थी के मान के पात्र हैं। उन सब बड़ों की तरफ किस प्रकार का विनय होना चाहिये वह इस श्लोक में दिखाया है। बड़ों से नीचे आसन पर पग को सुव्यवस्थित् रखकर हस्तद्वय जोड़ आज्ञा उठाने में तत्परता दिखानेवाली रीति से बैठना, यह बड़ों के सामने बैठने की उत्तम रीति है। यह विधि प्राचीन परंतु उत्तम है। आजकल इस रीति का अनुकरण होता हुआ नहीं दिखता। तो भी गुरु जनों के सामने विनय पूर्वक वर्ताव करने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी किसी भी प्रकार की अमर्यादा दिखाये विना सब को संतोष हो इस रीति से वर्ताव करते हैं। पूर्व गुरु के समक्ष विद्यार्थी किस रीति से आते और

व्यवहार करते थे इस विषय में माधव धर्म शास्त्र में नीचे लिखे अनुसार वर्णन किया है:—

नित्य मुद्धृत पाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।
आस्यतामिति चोक्तः सन्ना सीताभिमुखंगुरोः ॥
नीच-मेवासनं चास्य सर्वदा गुरु सन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥

अर्थात्:—शिष्य शुभाचार वाला तथा जितेन्द्रीय हो नित्य हाथ जोड़ कर खड़ा रहता था और जब गुरु बैठने को कहते तब उनके सामने बैठता था परंतु गुरु के पास उनका आसन हमेशा नीचे रहता था और गुरु के सामने मर्यादा छोड़ न बैठता था।

गुरु से उच्चासन पर बैठने से विद्या प्राप्त नहीं होती इसका एक दृष्टांत है। एक भील शून्य गामिनी (या आकाश-गामिनी) विद्या जानता था यह बात उस ग्राम के राजाने सुना और उसे राज्य दरबार में बुलाया और मुझे यह आकाश गामिना विद्या सिखा ऐसी उस, राजाने भील को आज्ञा सुनाई। भील ने कहा "महाराज! कल सुबह जब मैं जंगल में जाने के लिये मेरे घोड़े पर-चढ़ाहोऊँ, उस समय आप मेरी झोपड़ी में पधारना तब मैं आपको यह विद्या सिखाऊँगा"। राजाने कहा "क्या मैं राजा होकर तेरी झोपड़ी पर आऊँ" और तू घोड़े पर चढ़कर मुझे यह विद्या सिखावेगा? ऐसा कदापि न होगा। यहाँ तू मुझे अभी ही यह विद्या सिखा? "आज्ञा भंगो नरेन्द्राणाम शस्त्रंवधमुच्यते" अर्थात् राजा की आज्ञा का भंग किया हो तो वह बिना शस्त्र के मारनेवालों के बराबर क्रूर है राजाज्ञा के वश हो भील ने राजा को विद्या सिखाना प्रारंभ किया। एक दिन में न आई तो दो चार दिन

तक बराबर भील कचहरी में गया और राजा को विद्या सिखाने लगा परंतु राजा को वह विद्या न आई। अंत में राजा घबड़ाया और भील को धमकाकर कहने लगा, तू मुझे बराबर विद्या नहीं सिखाता। इसीलिये यह विद्या मुझे नहीं आती, इसलिये बराबर सिखा" भीलने इसका अंतिम उत्तर दिया कि "महाराज! सिंहासन पर चढ़कर विद्या नहीं सीखी जाती–गुरु को उच्चासन पर बिठाओ, आप नीचे बैठो और फिर विद्या सीखो, तो आवेगी। मुझ से सिंहासन पर बैठने का नहीं कहा जा सका। इसलिये मैंने कहा था कि मैं घोड़े पर चढ़ा होऊँ तब आप मेरी झोपड़ी पर आना" अंत में राजा ने भील को सिंहासन पर बिठाया और आप नीचे बैठा तो तुरंत ही उन्हें विद्या आ गई अर्थात् गुरु जनों का विनय करना यही विद्यार्थी का परम धर्म है॥ ६८॥

अष्टम परिच्छेद

—०—

सहाध्यायियों के साथ वर्ताव।

सहाध्यायिनः प्रति प्रेम भावः। ६६॥

शालायां सहवर्तिनः सहृदया ये स्युः सहाध्यायिनो।
मान्यास्तेऽपि सहोदरा इव सदा प्रेम्णा प्रमोदेन वा॥
कार्यो नैव कदापि तैस्तु कलहो नेर्ष्यालवो मानसे।
चित्तेनो परिचिन्तनीयमशुभं तेषाञ्च विद्यार्थिना॥

सहाध्यायियों के साथ प्रेम.

भावार्थ और विवेचनः—एक पाठशालामें या एक कक्षामें साथ साथ अभ्यास करने वाले विद्यार्थी सहाध्यायी कहलाते हैं। इनका पाठशालामें या पाठशाला के बाहर साथ २ रहने का सहवास रूप सम्बंध होता है। यह सम्बन्ध अच्छी तरह से निर्मल और सुदृढ़ बना रहे इसलिये प्रत्येक विद्यार्थी को अपने सुशील सहाध्यायियों को पूर्ण प्रेम भावसे या प्रमोद भावसे मानो सगे सहोदर भाई हों ऐसा मानना चाहिये। इनके साथ व्यर्थ ही कभी जगड़ा या क्लेश न करना चाहिये। उनमें के कोई अपने से हुशियारी में बढ़े चढ़े हों तो उन पर लेशमात्र भी ईर्षा या द्वेष न लाते उनकी चतुराई से प्रसन्न होना चाहिये। परंतु उनका अनिष्ट या अशुभ तो मन में सोचना भी न चाहिये। सहाध्यायियों के साथ की मित्रता से विद्यार्थियों को अनेक लाभ होते हैं और ये लाभ विद्यार्थी अवस्था में ही होते हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये। कृष्ण और सुदामा गुरु के घर साथ २ अभ्यास करते थे तब उन दोनों में मित्रता थी। जब कृष्ण को द्वारिका का राज्य मिला, तब उन्होंने सुदामा की दरिद्रता को हवा कर दी थी और उस समय भी सुदामा के साथ श्रीकृष्ण ने सहोदर भाव—सगे भाई सा वर्ताव कर दिखाया था। सहाध्यायियों के साथ की मित्रता से अभ्यास में भी अनेक लाभ होते हैं। विद्यार्थियों को सद्बोध देते आपस्तंब नामक धर्म सूत्र में भी कहा है कि दृढ़ धृतिः। अग्लँस्नुः। अक्रोधनः। अनसूयुः॥ अर्थात्—विद्यार्थियां को दृढ़ धैर्य रखना चाहिये तथा क्रोध और किसी से ईर्ष्या भी नहीं करनी चाहिये॥ ६६॥

[सहाध्यायियों के साथ प्रेम पूर्वक वर्ताव करने से जो लाभ होते हैं वे नीचे के श्लोक से दिखाते हैं]

गुणानामादानप्रतिदाने ॥ १०० ॥

ये स्युस्तेषु गुणोत्तमाः कथमपि ग्राह्यास्तदीया गुणा।
ये स्युर्न्यून गुणाः स्वयं हितधिया कार्या गुणाढ्याश्चते ॥
एवं स्वीकरणं तथा वितरणं कार्यं सहाध्यायिभि।
दोषाणां तु बहिष्क्रिया व्यवहृतावस्यां विधेया ध्रुवम् ॥

गुणों का व्यवहार।

भावार्थः—सहाध्यायियों के सहवास में रहकर प्रत्येक विद्यार्थी को गुणों के लेन देन का व्यापार प्रारम्भ रखना चाहिये। अर्थात् जो सहाध्यायी अपने से गुण, हुशियारी, सुजनता, में बढ़े चढ़े हों और ये गुण अपने में न हों तो इन गुणों का पाठ उनसे सीख लेना चाहिये और कितना भी श्रम पड़े वे गुण अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिये। उसी तरह जो विद्यार्थी अपने गुणों से हीन हों तो उन्हें अपने गुण हित बुद्धि पूर्वक अर्पण करना चाहिये या सिखाना चाहिये इस रीति से पाठशाला में या पाठशाला के बाहर प्रत्येक सहाध्यायी विद्यार्थी को अपने और दूसरों के परस्पर गुणों का लेन देन करना चाहिये और सहाध्यायियों में सद् गुणों का प्रचार करना चाहिये। परन्तु इस लेन देन में इतना तो अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि "सहाध्यायी पै की किसी में भी कुछ टेव या दोष हों तो उनका अपने में संक्रमण न हो जाय और अपनी कुटेव का भी दूसरे में संक्रमण न होजाय" जहाँ तहाँ से कुटेव या दोषों को तो मार पीट कर बाहर ही निकालना चाहिये ॥ १०० ॥

विवेचनः—अपने साथ अभ्यास करनेवाले—सहाध्यायियों से अपने लिये योग्य और सद्गुणी मित्र हों उन्हें चुनकर उन्हीं की ओर विशेष परिचय रखने का प्रत्येक विद्यार्थी को अति

ध्यान रखना चाहिये । अपने मित्र में चतुराई का गुण होना चाहिये यह हमेशा ध्यान में रखने योग्य बात है । अपने लिये जिस मित्र की अपन तलाश करते हैं वह मित्र भी वैसा ही होना चाहिये अर्थात् अपन सद्गुणी मित्र की तलाश करते हैं तो अपन को भी सद्गुणी बनकर उसके साथ मित्रता करनी चाहिये । समान सद्गुण वालों की मित्रता विशेष सुखप्रद होती है । तो भी एक अंग्रेज़ लेखक कहते हैं वह भी उचित है कि "सच्ची मित्रता के लिये परस्पर समान गुण होने की आवश्यकता नहीं जो गुण अपने में नहीं हैं और वे गुण उसमें हैं तो इससे अपने को सानंदाश्चर्य होना चाहिये । वे गुण अपने को नये मालूम होंगे और उनसे अपन अपनी त्रुटि सुधार सकेंगे ऐसा अपने को आनन्दमय भान होगा "। इस पर से असमान गुणो के मित्रों की मित्रता से भी लाभ हो सकता है । परन्तु वह लाभ जब ही होता है कि अपन अपने दोषों को तो दूर करें और अपने मित्र के गुणों को ग्रहण करें अथवा उस मित्र के दोषों का निवारण कर उनके स्थान पर अपने से अच्छे गुणों को अर्पण करें । जो ऐसा न करें और इसके प्रतिकूल व्यवहार करें तो सद्गुणी को दुर्गुणो का 'कुसंगरंग' लगता ही है और—

> असत्संगाद् गुणज्ञोऽपि विषया सक्त मानसः ।
> अकस्मात्मलयं याति गीत रक्तो यथा मृगः ॥

अर्थात्:—दुर्जन की संगति से गुण को जानने वाले पुरुष का चित्त भी विषयासक्त बनता है, जिस तरह गान में मस्त हुआ मृग अकस्मात् नष्ट हो जाता है । इसलिये प्रत्येक विद्यार्थी को अपने सहाध्यायी मित्रों के गुणों के लेन देन का व्योपार चलाना परन्तु दुर्गुणों को तो दूर करने का ही प्रयत्न करना चाहिये । १०० ।

—:o:—

नवम परिच्छेद

—:०:—

समय वहन

समयोपयोगः ।१०१।

वस्त्रा भूषण वित्त रत्न मणितः कालो महार्घो यतः ।
प्राप्यन्ते विगतानि तानि च पुनः कालो गतो नाप्यते ॥
मत्वैवं व्यसने प्रमाद करणे निद्राप्रलापेषु ऽवा ।
शोके वा समयोपि निष्फलतया क्षेप्यो न विद्यार्थिभिः॥

समय का मूल्य ।

भावार्थः—ज़री के वस्त्र, सोने चांदी के गहने, सोने की मुहरें, रत्न, और मणी इनकी कीमत से भी समय की कीमत बहुत अधिक है। इनमें से कोई वस्तु खो गई, या लुट गई तो फिर प्राप्त हो सकती है परन्तु प्राप्त उत्तम जीवन का उपयोगी समय जो बीत गया तो लाखों का द्रव्य व्यय करने पर भी फिर प्राप्त नहीं हो सक्ता ।

इसलिये महंगे से महंगा काल है। ऐसा समझ कर प्रत्येक विद्यार्थी को चट्टा, बीड़ी जुआ, प्रभृति व्यसनों में या आलस्य प्रमाद में एवं गप्पें मारने में तथा किसी भी प्रकार के मन की संकुचता के रोने रोने में किंचित मात्र भी समय नहीं बिताना चाहिये परन्तु पूर्ण ध्यान से समय को उपयोगी समझ उपयोगी कार्यों में ही बिताना चाहिये।१०१।

विवेचनः—विद्यार्थियों के लिये समय बहुत ही मूल्यवान है और इसके मूल्य की समानता दुनिया की किसी भी कीमती वस्तु के साथ करना, समय की उपयोगिता और

महत्ता को कम करना है । तात्पर्य यह है कि समय सब से अधिक मूल्यवान है । वस्त्रा भूषण, सोने रूपे के अलंकार, और मणि माणिक की अपेक्षा वह अधिक मूल्यवान है और उसका यही गुण इस श्लोक में दिखाया है। अपन मनुष्यावतार को अथवा किसी भी प्राणी के जीव को करोड़ों रुपये के द्रव्य से भी अधिक कीमती समझते हैं उसका कारण यही है कि मनुष्य भव और प्राणों का जीवं जो एक वक्त चला गया तो फिर करोड़ों रुपये खर्चने पर भी वह फिर नहीं आसक्ता इसा लिये यह अमूल्य गिना जाता है। इसी तरह इस श्लोक में कहा है कि 'कालो गते नाप्यते' जो समय जाता है वह फिर से नहीं आता। वस्त्रा भूषन, गहने, रत्न, मणि इत्यादि वस्तुएं जो अग्नि से या दूसरी किसी भी तरह नष्ट होजायँ तो उन्हें मनुष्य फिर प्रयत्न कर प्राप्त कर सकता है। परन्तु समय बीत जाने पर वह फिर नहीं प्राप्त हो सक्ता। साउथवेल नामक एक अंग्रेज़ी कवि ने 'वक्त' को कपाल के वाल में गुच्छे वाले और सिर में टाट वाले वृद्ध पुरुष की कल्पना देकर कहा है कि:—

Time wears all his locks before,
Take thy hold on his forehead.
When he flies he turns no more
and behind his scalps, naked.

अर्थात्:—वक्त के वालों का गुच्छा उसके कपाल में रहता है. इसलिये उसे पकड़ना हो तो उसे आने के पहिले ही तैयार रहकर ग्रहण कर लेना चाहिये। परंतु जो वह एक वक्त अपने पास से निकल गया तो फिर उसे नहीं पकड़ सक्ते। कारण कि उसके सिर में टाट होने से उसे पकड़ने का कोई भी साधन अपने हाथ में नहीं रहता. इसी तरह जो

आते ही समय को पकड़ लिया जाय तो अमूल्य है और उसके चले जाने पर बिलकुल निर्मूल्य है। इस सबब से विद्यार्थियों को अपने अभ्यासी जीवन के समय का १ मिनिट भी व्यर्थ न बिताना चाहिये, निंद्रा, सुस्ती, समान मित्रों के साथ बैठ कर गप्पे मारना, या, मौज शौक करने में वक्त बिताने वाले विद्यार्थी जब अनपढ़ रहकर जवान बनते हैं तब बीते हुए समय को याद कर विलाप करते हैं ऐसे अनेकों देखा है उनके विलाप से प्रत्येक विद्यार्थी को ऐसा उपदेश ग्रहण करना चाहिये कि उनको भी अभी समय बिता देने पर भविष्य में उसके लिये विलाप करने का समय न आवे। जर्मनी के विद्यार्थी समय का तनिक भी दुरुपयोग नहीं करते। वे हमेशा सोलह घंटे तक अभ्यास करते हैं। एक विषय पढ़ते २ अरुचि आजाय तो वे दूसरा विषय पढ़ना प्रारम्भ करते हैं। इस तरह मन को या शरीर को बिना ही परिश्रम पहुंचाये वे अपनी विद्यार्थी जिन्दगी के प्रत्येक पलका उपयोग करने में ही एकाग्र रहते हैं। १०१।

[समय का उपयोग किस रीति से करने से थोड़े समय में अधिक काम हो सकते हैं और अपना कोई भी इष्ट कार्य बाकी नहीं रह सका। इन प्रश्नों का विस्तृत उत्तर दो श्लोकों में दिया है]

कया रीत्या समय रक्षणं कार्यं ? । १०२ ।

यत्कार्यंनियंतञ्च यत्र समये प्रासङ्गिकं दैनिकं ।
तत्रैव क्रियते क्षणे यदि तदा तत् स्वद्वयवस्थायुतम् ॥
एवं कार्य परंपरापि सकला सिद्ध्येद्यथेष्टंक्रमा ।
धर्मायाप्यवशिष्यते सहजतः कालो हि विद्यार्थिनाम् ॥

समयव्ययेमियतत्वम् ।१०३।

आस्तां कार्यं भरस्तथापि वदनो धर्माय कालो न मे ।
तस्मै नास्ति यदाल्पशोपि समयो व्यर्थं तदा जीवनम् ॥
कृत्वा हस्तगतं क्षणं कथमपि श्रेयः पथ प्राप्तये ।
सेव्यो धर्म विधिः शुभः प्रतिदिनं प्रेम्णा हिताकाङ्क्षिणा ।

समय का बचाव किस तरह करना चाहिये ?

भावार्थः—विद्यार्थियों को दैनिक और प्रासंगिक जो २ कार्य हमेशा और मौके २ पर करने पड़ते हैं उन कार्यों के विभाग का सुविधानुसार काल क्रम नियत करना चाहिये अर्थात् अमुक समय में अमुक काम करूंगा, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये। हमेशा की सुविधानुसार जो २ कार्य क्रम और काल क्रम निश्चित किया है वह कार्य उसी समय में करना चाहिये. इसमें गफलत, आलस्य, या अन्य कुछ भी अव्यवस्था से बिलकुल हेर फेर नहीं किया जाय तो हमेशा के सब मामूली कार्य पूर्णता से सिद्ध होने पश्चात् धर्म के लिये या ऐसे ही कोई आवश्यक परमार्थी कार्य के लिये भी थोड़ा समय सहज ही बच जायगा. इसलिये उत्साही विद्यार्थियों को नियत किया हुआ कार्य क्रम और काल क्रम अव्यवस्थित कर नहीं मिटाना चाहिये। १०२।

समय की छान बीन.

भावार्थः—हे मित्र ! अभ्यास या व्यवहार के कार्य का भार कितना भी हो परन्तु "धर्म करने को फुरसत नहीं" ऐसा कदापि न बोलो। जो धर्म के लिये थोड़ा भी वक्त

न बचाया जाय तो यह जीवन व्यर्थ ही समझा जाता है। इसलिये समय को छान बीन कर चाहे जिधर से घड़ी अर्द्ध-घड़ी, पाव घड़ी जितना समय बचा सके, बचाकर श्रेय के मार्ग की प्राप्ति के लिये अपने हित की इच्छा रखने वालों को प्रेम पूर्वक कुछ न कुछ धर्मानुष्ठान हर रोज करना ही चाहिये ॥ १०३ ॥

विवेचनः—अंग्रेज़ी में एक कहावत है Where there is a will there is a way—अर्थात् 'जहाँ इच्छा है वहाँ मार्ग भी बहुत है। गुजराती में इसीके समान एक कहावत है कि मन होय तो मालवे प्रण जवाय। तात्पर्य यह है कि जो उद्योगी और परिश्रमी हैं और जो निश्चय कार्य करने की इच्छा रखते हैं उनको तो कार्य करने के लिये समय भी मिल सकता है। जो समय न मिलने के बहाने निकालते हैं वे प्रायः आलसी होने के कारण ही ऐसा करते हैं। कई विद्यार्थी ऐसी शेखी करते हैं कि हमें जितना अभ्यास करना पड़ता है उसे पूर्ण करने का भी हमें समय नहीं मिलता, यह एक बहाना ही है। वक्त का सदुपयोग किस प्रकार करना यह वे नहीं जानते। वे अनियमितता में और आलस्य में समय बिता देते हैं और फिर अभ्यास के लिये ही पूर्ण समय न मिलने की फर्याद करते हैं। स्माइल्स ने एक स्थान पर कहा है कि 'आलसी मनुष्य बहाने से नहीं डरते, वे काम करने में नाराज होते हैं परन्तु व्यर्थ दलीलें करने में हमेशा चालाक रहते हैं' अर्थात् जो समय न मिलने के बहाने निकालते हैं उन्हें हमेशा अति आलसी समझना चाहिये। विद्यार्थियों के लिये यही श्रेष्ठ सलाह है कि वे नियमित रीति से काम करें। पाठशाला में तथा गुरु के घर अभ्यास करने के लिये जाने के समय को छोड़कर बाकी दिन के तथा रात्रि के समय में क्या २ काम

करना और प्रत्येक कार्य कौन २ से समय में करना इसका निश्चय कर लें अर्थात् कालक्रम (Time Table) और कार्य-क्रम नक्की ठहराकर तनिक भी क्षति पहुंचे बिना परिश्रम के काम करते रहें तो किसी भी उपयोगी कार्य के लिये समय नहीं मिलने की फर्याद करने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। काँलराज़ ने भी कहा है कि आलसी मनुष्य समय को चाहे जिस तरह बर्बाद कर देते हैं परन्तु पद्धति पूर्वक काम करने वाला मनुष्य मृत्यु काल को पुनः सञ्जीवन कर उपयोग में लाते हैं इतना ही नहीं परन्तु वह समय चला जाता है ऐसा निरन्तर स्पष्ट तथा ध्यान रखते हैं।

विद्यार्थियों को अपना चित अभ्यास में लिप्त करने के सिवाय स्वधर्म के अनुसार नित्यकर्म में भी अच्छी तरह ध्यान देना चाहिये। किसी भी अवस्था-बाल्य-युवा या वृद्ध-में धर्म के विषय देह या आत्मा से भिन्न नहीं रहने चाहिये। मिसीस बिसेन्ट कहती है "धर्म की मुख्य मुख्य बातों का ज्ञान प्रत्येक बालक को उसके माँ बाप के धर्मानुसार प्राप्त करना चाहिये। स्वधर्म के मुख्य मुख्य तत्वों के ज्ञान के अतिरिक्त विद्यार्थियों के लिये अगत्य का ज्ञान दूसरा और कुछ भी नहीं है—जो विद्यार्थी जीवन में किसी विद्यार्थी ने धर्म का ज्ञान प्राप्त किया हो तो जब वह बड़ा होता है और जगत के व्यवहार में पड़ता है तब अपने धर्म सम्बन्धी शिक्षा में उसे जिन सद्गुणों की शिक्षा मिली होगी उन सद्गुणों को वह अवश्य धारण करेगा" इसलिये धर्म विषय को विद्यार्थी अवस्था से ही तनिक भी दूर नहीं रखना चाहिये। जो अधिक समय न मिले तो मात्र थोड़ा ही समय स्वधर्म के नित्य आवश्यक कर्म में या धार्मिक ज्ञान में तो बिताना ही चाहिये। जो विद्यार्थी ऐसा बहाना निकालते हैं कि "हम को समय नहीं

मिल सका" वे या तो मिथ्या भाषी हैं या आलसी, अनियमित और कालक्रम तथा कार्य-क्रम से काम नहीं करने वाले हैं। नियम और पद्धति से काम करने वाले उद्योगी मनुष्य को किसी भी कार्य के लिये (फिर वह नित्यकर्म से सम्बन्ध रखता हो या दूसरा कुछ भी हो) वक्त प्राप्त करना कठिन नहीं है। निम्न दृष्टांत से यह बात समझ में आ जायगी।

वेलिंग्टन नामक एक फौजी हाकिम को काम करने की शक्ति अपार थी। वह ड्यू और फ्रेंच सेना के साथ लड़ने के लिये अपने लश्कर को लेकर रवाना हुआ। मानडीगो नदी के किनारे वह शत्रु के सैन्य की राह देखता खड़ा था। लड़ने के लिये निकले हुए सेनापति को युद्ध के सिवाय दूसरी ओर ध्यान देना स्वाभाविक न था परन्तु वेलिंग्टन एक नियमित मनुष्य था और वह तनिक भी समय व्यर्थ न खोता था। उस स्थान पर उसे जो कुछ समय मिला उस समय में उसने इंग्लेंड की पोलिस का कायदा बनाने की मुख्य २ बातें लिख डालीं और फिर बाद में येही बातें बड़ी उपयोगी हुई। इसी तरह सीज़र जब अपने सैन्य के साथ आल्प्स पर्वत लांघ रहा था तब उसने लेटिन भाषा के रस अलङ्कार विषय का एक निबन्ध लिखा था। एक समय जब वह साठ हजार सिपाहियों का सरदार था और शत्रुओं पर हमला करता फिरता था तब उसने अपनी नियमितता के कारण मुर्दों की बीमारी के समय कौन सी दवाई करना इस विषय का एक बड़ा लेख लिखाया था। विद्यार्थियों को विद्याभ्यास के समय धर्म कार्य में वक्त न मिले और सीज़र को लड़ते लड़ते २ तथा मुसाफिरी करते समय में भी पुस्तक लिखने का समय मिल गया यह कैसा आश्चर्य है ? नियमितता और उद्योग का यह मिश्रित परिणाम है। विद्यार्थियों को भी ऐसे ही बनने का प्रयत्न करना चाहिये। (१०२-१०३)

दशम परिच्छेद ।

व्यसन निषेध—द्यूत

व्यसन परिहारः । १०४ ।

सर्वाणि व्यसनानि दोष निकराऽऽकाराणि हा दुर्धिया ।
भुत्कृष्टं हि हठाद् हरन्ति समयं स्तेना यथा सम्पदम् ॥
द्यूतादीनि विनाशयंति नितरामुत्कृष्टकार्याण्वो ।
नैष्टव्यानि कदापि सेवितुमधः पातप्रदान्यर्थिभिः ॥

व्यसनों का परिहार

भावार्थः—जुआं, मांस, मदिरा, वैश्या, शिकार, चोरी और परदारा गमन ये सात व्यसन तथा अफीम, भांग गांजा, चरस, कोकेन, सिग्रेट, तमाखु इत्यादि उपव्यसन हैं। इन में से कोई भी व्यसन ऐसा नहीं है जिसमें हानियां न भरी हों अर्थात् व्यसन मात्र मनुष्य की दुर्दशा करने वाले हैं और जिस तरह चोर या लुटेरे मनुष्यों की सम्पत्ति हर लेते हैं उसी तरह ये सब व्यसन विद्यार्थियों के अमूल्य समय को लूट लेते हैं इतना ही नहीं परन्तु उपयोगी कार्य में विशेष धक्का पहुंचाते हैं अरे ! उनका जीवन तक नष्ट कर डालते हैं। ये सब व्यसन धर्म और सत्कार्य के तो कट्टर शत्रु हैं। ये श्रेय मार्ग में कंटक रूप विघ्न उपस्थित करते हैं. अधोगति में ले जाने वाले उपरोक्त व्यसनों में से एक भी व्यसन का आदर करने या सेवने की सुज्ञ विद्यार्थियों को इच्छा भी नहीं रखना चाहिये। १०४।

विवेचन:—द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धिः चौर्य परदार-सेवा अर्थात् जुआ, मांसाहार, मदिरा पान वेश्यागमन पारधीपना-शिकार चोरी और परस्त्री गमन ये सातों को शास्त्र कारने सप्त महाव्यसन कहे हैं इन महा-व्यसनों की आज अनेकानेक शाखाएं निकली हैं जुआ खेलने की अनेक रीतियां हैं। तास का जुआं, घुड़दौड़ का, शर्त का बीलयर्ड का सट्टा, वर्षात का सोर्टों का जुआ—इत्यादि अनेक प्रकार के जुआ वर्तमान समय में प्रचलित है मांसाहार और मदिरा पान के भी अनेक भेद हैं. हिंसा करके मांस नहीं खाने वाले भी विलायत का आया हुआ मांस खाने में नहीं हिचकिचाते मच्छी के तेल को पीते समय उसे दवा मानकर श्रोम् कर जाते हैं, दवा में दारू मिश्रित होने पर भी उसे उदारता पूर्वक चढ़ा लेते हैं, और मांस के बदले मांस का सत्व (Meat guice) पीने में उन्हें घृणा नहीं होती. कितने ही तो दवाई के नित्य के परिचय से ऐसे परवश बन जाते हैं कि उन्हें दवा पिये बिना चैन भी नहीं पड़ती यह परिणाम धीरे २ दवाइयों में मदिरा आदि अनिष्टवस्तुओं के पान से चिपके हुए एक व्यसन का ही है। इन सब बातों को भिन्न भिन्न प्रकार के ढोल में मढ़कर चाहे जिस तरह से बतावें तो भी प्रायः ये सब महा दुर्व्यसन ही हैं। और देह तथा आत्मा को हानिकारक हैं। ये व्यसन शरीर की तथा आत्मा की उच्च भावनाओं का इस प्रकार नाश करते हैं कि व्यसनी स्वतः कुछ नहीं समझ सक्ता। जुआरी समझता है कि मैं धनवान होता जाता हूं और जो कुछ खोता हूं थोड़े समय में प्राप्त कर लूंगा परन्तु वह प्रायः दरिद्री बनता जाता है जिसका उसे भान नहीं रहता और अंत में वह इसी व्यसन में बरबाद हो जाता है। मांसाहारी और मद्य पान करने वाले

ऐसा मानते हैं कि इन वस्तुओं के सेवन से हमारा शरीर पुष्ट और निरोगी बनता जाता है परन्तु इनसे प्रायः वे अनेक रोगों में ग्रसित हो अकाल मृत्यु के ग्रास बन ही जाते हैं। इस तरह सब व्यसन व्यसनियों को मालूम नहीं पड़ने देते हैं और उनकी दुवारी कर ही डालते हैं। इस सबब से 'ग्रंथकार ने स्तेना यथा सम्पदम्' इस पद का उपयोग किया है अर्थात् चोर जिस तरह घर स्वामी को मालूम न पड़ने से सम्पत्ति चुरा ले जाता है उसी तरह ये व्यसन रूपी चोर व्यसनियों को मालूम न पड़ने देते हुए उनकी शारीरिक, आर्थिक और आत्मिक सम्पत्ति का विनाश कर डालते हैं।

देशाटनं पंडित मित्रता च वारांगना राज सभा प्रवेशः।
अनेक शास्त्राणि विलोकितानि चातुर्य मूलानि भवंति पंच॥

अर्थात्:—देशाटन, पंडित जनों की मित्रता, वारांगना, राज्य सभा में आना जाना, और अनेक शास्त्रों का अवलोकन करना: ये पांच चतुराई प्राप्त करने के मूल लक्षण हैं। इस श्लोक का कितने ही मनुष्य बहुत बुरा अर्थ करते हैं। वारांगना अर्थात वैश्या—गणिका के सहवास से चातुर्यता प्राप्त होती है ऐसा मानकर कितने हो वैश्या के भक्त अपने दिल में संतोष मान लेते हैं कि हम शास्त्राधार से चातुर्यता प्राप्त करने की चाल पर चल रहे हैं! प्रायः वैश्यागामी चतुर नहीं हो सके परन्तु दुराचारी और धन का दुरुपयोग करने वाले हो होते हैं, वैश्यागामी मनुष्यों को जुआरी, मदिरापान करनेवाले और चोर इत्यादि अनेक दूसरे दुर्गुण सीखकर कुलांगार होते देखे हैं कारण कि वैश्यागामी मनुष्य धीरे २ व्यसनों में फँसते ही जाते हैं। चतुराई के मूल रूप में वैश्या की गणना की है उसका कारण यह है कि प्राचीन समय की वेश्याएं नृत्यां

गानाओं का ही धंधा करती थी। और यावज्जीवन पवित्रता से बिताती थी। उस समय राजकुमारों को संगीत नृत्यादि ललित कलाएं सिखाने का स्थल वारांगनाओं का गृह समझा जाता था। वर्तमान वेश्यायें तो नेत्रों से देखने योग्य भी नहीं होतीं। और इसी कारण उनका सहवास 'चतुराई मूल' नहीं हो सका परन्तु सर्व नाशक हो जाता है। शिकार का व्यसन भी अत्यन्त हानिकारक है यह व्यसन जो ग्रहण करता है वह सारासार का तनिक भी विचार नहीं करता। शिकार को खेल के समान समझकर सहस्रों पशु पक्षियों के नाश करने में निमग्न रहने वाला पारधी इतने निर्दय हृदयवाला हो जाता है कि प्रायः वह मनुष्य ही नहीं रहता। मानुषीय वृत्तियों का उसके हृदय में टिकना भी मुश्किल हो जाता है। मरते पशु पक्षियों की चिल्लाहट सुनने में उसे आनन्द प्राप्त होता है। उन्हें तड़फड़ाते देख उसका मन प्रसन्न होता है। उन्हें अवयव हीन देखकर उसे आनन्द होता है। और उन्हें मरा हुआ पृथ्वी पर पड़े देखकर अपने को विजयशाली समझ गर्विष्ठ बनता है। इसलिये यह व्यसन सर्व मानुषीय गुणों का ध्वंस करने वाला और मनुष्य को पशु बनाने वाला है। चोरी करने के व्यसनी जेल में ही मरते हैं ऐसा देखने में आया है। चोर वृद्ध हो जाता है तो भी उसकी इच्छा बार २ चोरी करने की ही होती है। वह किसी उद्यम में नहीं लग सका और अनेकानेक समय क़ैद भुगत आता है तो भी फिर चोरी करने में ही लीन रहता है। और अपने अंतिम दिन आर्त रौद्र ध्वनि में बिताता हुआ क़ैदखाने में ही पूरे करता है। परदारागामी जनों का व्यसन भी उपरोक्त छः व्यसनों सा महा भयङ्कर है। कारण कि यह उनके चित्त और वित्त दोनों का नाश करता है। अपनी स्त्री में संतोष नहीं मानने वाले परदारा पर आशक्त

होकर तन, मन, और धन का नाश कर अकाल मृत्यु प्राप्त होते देखने में आये हैं। ये सात व्यसन ऐहिक तथा पारलौकिक अनिष्ट करने वाले हैं ऐसा समझ प्रत्येक मनुष्य को अपने बाल्य काल से ही उनसे दूर रहने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। विद्यार्थी अवस्था से इन व्यसन रूपी राक्षसों से चेत कर चलना चाहिये। अफीम, गांजा, भांग इत्यादि वस्तुएं मदिरा सी ही हैं इसलिये इनका समावेश मदिरा के एक अंग की तरह कर लेना उचित है॥ १०४॥

[अब प्रत्येक व्यसन का सविस्तर पृथक् २ वर्णन करने में आता है]

द्यूतम् ॥ १०५ ॥

निःशेष व्यसनाश्रयं सुचरित-द्वारार्गलो निश्चलो।
योग्या योग्य विवेक-दृष्टि तिमिरं सद्धर्म विध्वंसकम् ॥
चित्त व्याकुलता करं शमहरं दुष्टाशयप्रेरकं।
त्याज्यं दुर्गुण माल मूलमफलं द्यूतं हिता काङ्क्षिभिः॥

प्रथम व्यसन, जुआ।

भावार्थः—जुओं का व्यसन सब व्यसनों में उच्च (बड़ा) है। यह चारित्र्य-सद्वर्तन के द्वार बन्द करने में शृङ्खला (सांकल) का काम देता है योग्यायोग्य वस्तु को भिन्न करने वाली विवेक दृष्टि के बन्द करने में अंधकार बन जाता है। सद्धर्म का नाश करता है। चित्त को हमेशा आकुल व्याकुल स्थिति में रखता है। सुख और शांति का सर्वदा उच्छेद करता है। विचारों में मलीनता और बुद्धि में दुष्टता उत्पन्न करता है। असत्य, चोरी इत्यादि दुर्गुणों को निमंत्रण देकर बुलाता है। कारण कि कितने ही दुर्गुण तो इसके साथ ही रहते हैं इससे बँधे हुए हैं। जिस व्यसन में फायदा तो एक भी नहीं, और गैर फायदों का पार ही नहीं ऐसे जुआं नामक

व्यसन का अपना हित चाहने वाले विद्यार्थी कभी सेवन न करें ॥ १०५ ॥

विवेचन:—इस श्लोक में जुए से होते हुए परिणाम का निदर्शन करने में आया है। पूर्व श्लोक के विवेचन में दिखाया है कि जुए की अनेक रीतियां इस बुद्धि और तर्क के जमाने में निकली हैं फिर चाहे उन पर व्योपार का या खेल का ढोल चढ़ाया जावे तो भी प्रायः उपरोक्त जुआं एक प्रकार का व्यसन ही है। और उसका निषेध करना ही उचित है। 'सद्व्यवहार' के द्वार बन्द करने वाले के समान जो जुए को गिना है वह सर्वथा उचित ही है कारण कि यह एक ऐसा दुर्गुण है जो समस्त गुणों का नाश कर डालता है। जुआंरी हमेशा कपटी, व्यभिचारी, और असत्य वादी तो होते ही हैं। सुभाषितकार कहते हैं कि "काके शौचं द्यूत कारे च सत्यं सर्पे क्षान्तिः स्त्रीपु कामोपशान्तिः" अर्थात् कौए में चतुराई। जुआरियों में सत्यादित्व, सर्प में क्षमा और स्त्री में काम की शांति कदापि नहीं होती। कहावत भी है कि 'हारा जुआंरी दूना रमे' क्यों? फिर से जीत प्राप्त कर पैसे पैदा करने के लिये, हारा हुआ मनुष्य इस तरह फिर से खेलने—धन प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रयास करता है वह घर द्वार बेचता है। स्त्री को सताकर उसके वस्त्राभूषण बेचता है, कर्ज़ करता है और अंत में कुछ भी हाथ नहीं लगता तो चोरी भी करता है। इस तरह एक से अनेक दुर्गुण स्वयम् पैदा हो जाते हैं और जुआंरी को सर्वथा भ्रष्ट कर डालते हैं।

दुर्गुणों की परम्परा किस तरह जागृत होती है उसका एक दृष्टान्त है। विलायती एक धनवान युवती स्त्री सचमुच में सुशील और पतिव्रता थी। एक समय उसने एक लोटरी में अपनी किस्मत अजमाने की इच्छा कर ५ पौंड की

कीमत का लोटरी का टिकट लिया। इनाम बांटने के दिन वह घर पर बहुत आतुर होकर बैठी कि आज मुझे इनाम प्राप्त होने का तार आवेगा। इस आशा से उत्सुक हो रही थी। परन्तु उसे इनाम न मिला। पांच पौंड खोने के कारण उसे पश्चात्ताप हुआ। परन्तु खोये हुए ५ पौंड फिर से प्राप्त करने के लिये उसने १० पौंड की दो टिकटें लीं और उनमें भी इनाम न मिला एक दम १५ पौंड खोये इन १५ पौंड के प्राप्त करने के लिये उसने ५० पौंड की १० टिकटें खरीदीं और वह रकम उसने अपनी एक सखी के पास से उधार ली दुर्भाग्य से ये दस टिकिट भी व्यर्थ गए और कुछ नहीं मिला। इस स्त्री का पति धनवान था और वह अपनी स्त्री को प्रत्येक माह में कुछ न कुछ हाथ खर्ची के लिये भी देता था। उस रकम में से कुछ न कुछ बचाकर उसने ५० पौंड इकट्ठे किये। यह रकम कर्ज़ अदा करने के लिये इकट्ठी को थी परन्तु उसे एक समय फिर अपना नसीब अजमाने की इच्छा हुई और उसने उन ५० पौंड की लोटरी की टिकट ली। फिर भी उसे कुछ नहीं मिला और जिसके पास से रकम उधार ली थी उसकी तरफ से बार २ तंगी होने लगी। पति को अपनी यह बात कहना उसे ठीक न जचा। क्योंकि इससे शायद उनको क्रोध हो जाय और कोई साधन पैसा प्राप्त करने का न था। इसलिये उसने एक बुरा कार्य करने की हिम्मत की, घर से एक हीरे की अंगूठी उसने चुरा ली और उसे बेच अपनी सखी का कर्जा चुकाया। घर में से जब अंगूठी के खोजाने की खबर उसके पति को हुई तब उसे अपने नौकर चाकरों पर संदेह हुआ। उसने नौकरों को समझाये और धमकाये परन्तु वे सच्चे थे उन्होंने चोरीली ऐसा मंजूर नहीं किया। इसलिये उसने सब नौकरों को छोड़ दिये और उनकी जगह नये नौकर लगाये।

पतिने अपनी स्त्री से कहा "वह वींटी तू पहन कर गई होगी और तूने ही उसे कहीं खोदी है अगर ऐसा हुआ हो तो कह दे मैं तुझे उपालम्भ न दूंगा। परन्तु इससे इन विचारे नौकरों के पेट पर लात न लगेगी।" वह स्त्री झूंठ बोली "नहीं; मैं पहिन कर नहीं गई और जो मैं खो आई होती तो मैं मेरे प्यारे पति से मेरी गफलत क्यों छुपाती?" जुआं, चोरी, और असत्य ये तीन दोष तो उसके साथ लग गए। कितने ही दिन पश्चात् एक नई अंगूठी खरीदने के लिये उस गृहस्थ ने एक जौहरी को कई अंगूठियों के नमूने लेकर अपने घर बुलाया। उन नमूनों में वह गुमाई हुई वींटी उसने देखी। वह चमका और उसने पूछा। यह अंगूठी तुम्हारे पास कहां से आई? "साहेब! यह अंगूठी आपके पड़ोसी मिसीस फिलिप ने कुछ महाने पहिले मुझे बेची है।" मिसीस फिलिप को बुलाई और उसने अपनी सखी की समस्त बातें कहकर अपनी साहूकारी सिद्ध की। उसी दिन उसने अपनी झूंठ बोलने वाली, चोर और जुआंरी स्त्री का त्याग किया। उस स्त्री का चोरों में नाम हो जाने से उसके दूसरे गुण भी अवगुण से गिनाने लगे और उसे अनाथाश्रम में ही आश्रय लेना सूझा। वहां भी किसी अनाथ की कोई वस्तु खो जाती तो इस स्त्री ने ही ली होगी, ऐसा उस पर संदेह किया जाता और किसी २ समय तो मार भी खानी पड़ती। इसी हालत में उसने अपने दुःखी दिन पूरे किये ॥ १०५ ॥

[नीचे के श्लोक में जुए से होते हुए नुकसानों का दिग्दर्शन किया है]

द्यूतस्य दुष्ट परिणामः ॥ १०६ ॥

विद्या तस्य विलीयते बरतरा प्रज्ञा न संतिष्ठते ।
नैपुण्यं नितरां विनाश पदवीं प्राप्ति नीत्या सह ॥

उद्योगोस्तमुपैति नश्यति यशः पुण्य प्रभावोद्भवं ।
द्यूते दारुण दुख जाल जनके यस्य प्रसक्तं मनः ॥

जुआं से नुकसान ।

भावार्थ:—अनेक प्रकार के दारुण दुख के मूल को सींचने वाली और विविध विपत्तियों को जन्म देने वाली जुआ व्यसन की लत जिस मनुष्य को लगती है उस मनुष्य की योग्यता का नाश हुआ ही समझना चाहिये ।

अधिक प्रयास से प्राप्त हुई उस की श्रेष्ठ विद्या नष्ट हो जाती है उस की प्रज्ञा बुद्धि का पराभव हो जाता है, उस की निपुणता चलित हो विनाश का मार्ग पकड़ती है, नीति रीति निद्रादेवी के आधीन हो जाती है। उसके उद्योग हुन्नर की शिक्षा का जल्द ही अंत आता है। पूर्वजों के पुण्य प्रभाव से प्राप्त यश और कुल की प्रतिष्ठा का प्रलय हो जाता है। किं—बहुनाम् उसकी समृद्धि का हमेशा के लिये एकदम नाश हो जाता है ॥ १०६ ॥

विवेचन:—जहां एक दुर्गुण अनेक दुर्गुणों का जन्म दाता बनता है वहां उन दुर्गुणों की प्रबलता से सदगुणों का विनाश हो जाय इस में क्या आश्चर्य है ? विद्या, बुद्धि, कला-कौशलता, उद्यम, रुचि, इत्यादि सब गुणों का विनाश हो जाता है। जुए की आदत से इन सब गुणों का विनाश होता है इसका एक कारण है। जुआरी सिर्फ एक ही दाव में थोड़े श्रम से सैकड़ों रुपये प्राप्त कर सकता है अथवा एक क्षण में सैकड़ों रुपये खो देता है। इस सबब से उद्योग, हुन्नर, व्यापार या नौकरी से थोड़ा थोड़ा द्रव्य प्राप्त करना इन सैकड़ों के हार जीत के करने वालों को अच्छा नहीं लगता

इसी कारण जुआरी को उद्यम कर पैसा प्राप्त करने की कदापि रुचि नहीं हो सकती। जहां उद्यम है वहां कष्ट भी है और कष्ट है तभी पैसे प्राप्त होते हैं इसी तरह कष्ट पूर्वक पैसा प्राप्त हो तो उसे दुरुपयोग में लगाने की भी इच्छा नहीं होती। इसके विरुद्ध जुआरी अपने थोड़े श्रम से प्राप्त किया हुआ पैसा चाहे जैसे बुरे मार्ग में खो देने की भी हिम्मत करते हैं। इस तरह एक उद्यमी मनुष्य बहुधा सद्‌-गुणी बनता है तो जुआरी जैसा निरुद्यमी मनुष्य दुर्गुणी बनता है दुर्गुणी मनुष्य से योग्यता और विद्यादि भाग जाती हैं और इस तरह दुर्गुणों की परम्परा से वह अपने ही नाश का मार्ग खुला करता है इस लिये जो विद्यार्थी अपने हित का मार्ग ढूंढते हों उन्हें जुआ कदापि नहीं खेलना चाहिये ॥ १०६ ॥

द्यूत समृद्धि ॥१०७॥

दारिद्र्यं दुरति क्रमं सहचरं यस्यास्ति मित्रं परं ।
दौर्भाग्यं दुरितोद्भवं त्वनुचरं दासी बुभुक्षा परा ॥
धिंग धिक्त्वामिति तर्जना जन कृता यस्यास्ति निर्घोषणा ।
तद्यूताधिकृतिं महोन्नति पदं त्युक्तुं हि कः शक्नुयात् ।

जुएं की समृद्धि ।

भावार्थः—अहा ! जुएं की समृद्धि तो विचित्र ही है। कठिनाई से जीत सके ऐसा दारिद्र्य तो उसका सहचारी परम मित्र है, पापकारी कृत्य से उत्पन्न हुआ दुर्भाग्य तो जिसका खास नौकर है। बुभुक्षा-भूख जिसकी बड़ी दासी है। "सर्व सम्पत्ति गुमाकर बैठने वाले जुआरी को धिक्कार

है। हजार बार धिक्कार है"। इस तरह लोगों की ओर से दिये जाते धिक्कार और फटकार या अंगुली दिखाकर की हुई तर्जना या निर्घोष जिसका ढिंढोरा है। एक अधिकारी जैसी कुल सामग्री और अधिकार युक्त एक जुआंरी का व्यसन जिसके पल्ले पड़ा है वह भला उसे कैसे छोड़ सक्ता है? (१०७)

विवेचनः—इस श्लोक में जुआरी को एक बड़ा राज्याधिकारी गिनकर उसकी और एक सच्चे राज्याधिकारी समृद्धि की तुलना की है। अधिकारी के साथ अनेक सहकारी होते हैं तो जुआरी का सहचर और मित्र दारिद्र है, नौकर दुर्भाग्य है, और दासी भूख है। जिस तरह राजा की जय घोषणा समस्त प्रजा वर्ग करती है। उसी तरह जुआरी की जय घोषणा रूप धिक्कार और फिटकार के उच्चनाद सुनते हैं। और यही उसके ढिंढोरा रूप है। ऐसे अधिकार वाला बड़े राज्याधिकारी के समान जुआरी है, उसके अंकुश तले जो कोई नागरिक आया कि उसकी ख्वारी हो इसमें कौन सी नवीनता है? जुआँरी रूप राजा के सहचरों की जो कल्पना इस श्लोक में ग्रंथकारों ने की है वह योग्य ही है। जुआ खेलनेवाला जुआरी जो कि धनवान होने के लिये जुआं खेलता है तो भी जुआरी का परम मित्र दरिद्र होने से जुआ रूप राजा के साथ उस दारिद्र रूप मित्र के पञ्जे में भी जुआरी गए विना नहीं रह सक्ता। इसी तरह दुर्भाग्य जो इस जुआरी का दास है और भूख दासी है और यह जोड़ी भी जुआरी की सेवा करने वाली है इसलिये यह अपने मालिक के शिकार पर अपना हाथ अजमाने से नहीं चूकती (१०७)

[जुआरी के परम मित्र दारिद्र्य के और कौन २ से मित्र हैं और उनका निवास कौन से स्थान पर है इसका दिग्दर्शन निम्नलिखित श्लोक में संवादरूप से किया है]

द्यूतमित्राणि दारिद्र्यादीनि ॥१०७॥

हे दारिद्र्य निरीक्षते किमु भवान् पश्यामि मित्राणि भो।
तानि ब्रूहि च कानि भो शृणु सखे दुःखं पुनर्दुर्दशा ॥
दौर्भाग्यं दुरितञ्च दैन्यमतुलं स्युस्तानि क्वाधुना ?
मन्ये द्यूत गृह वस युर धुना तत्रैव यास्माम्यहम् ॥

जुआरी का घर और दारिद्र्य।

भावार्थः—एक समय एक मनुष्य का दारिद्र्य के साथ निम्न लिखित सम्वाद हुआ।

मनुष्यः—हे दारिद्र्य! चारों ओर फाँ फाँ मारते हुए तू किसे देखता है ?

दारिद्र्यः—अरे भाई! मैं मेरे मित्रों को ढूंढता फिरता हूं।

मनुष्यः—तेरा मित्र कौन है ?

दारिद्र्यः—अरे भाई! क्या तुझे इतनी भी खबर नहीं ? सुन, मैं उनके नाम कहता हूं एक तो दुःख, दूसरी दुर्दशा, तीसरा दुर्भाग्य, चौथा दुरित अर्थात् पाप और पांचवाँ दैन्य अर्थात् दीनता गरीबाई ये पाँच मेरे दिलोजानी दोस्त हैं। हमारे सबके नाम का प्रारम्भ 'द' अक्षर से ही होता है अर्थात् अक्षर में भी हम एक से हैं और प्रायः जहाँ हम जाते हैं वहाँ भी साथ २ ही रहते हैं।

मनुष्य—तेरे मित्र तुझे कहाँ मिल सकेंगे, ये भी तू जानता है ?

दारिद्र्य—हाँ! मैं जानता हूं ये सब मेरे मित्र प्रायः जहाँ कुसम्प हो, कुटुम्ब के मनुष्य एक २ का नाश करना चाहते हों। अथवा जिस घर में जुआँ का छंद—व्यसन लगा हो वहाँ मेरे मित्र और मैं रहता हूं। यह किसी जुआरी का घर है।

यहां मेरे मित्र होंगे इसी लिये मैं भी यहां आया हूं ॥ १०७ ॥

सारांश—जुआरी का दारिद्र्य के साथ २ उसके मित्रों रूप दुख, दुर्दशा, दुर्भाग्य, दुरित, और दीनता के साथ सम्बन्ध है, और उनके वश में रहता है इसलिये छः मित्र साथ हो रहते हैं इनके वश में न आना हो तो प्रत्येक को कुसङ्ग और जुए के व्यसन का त्याग करना चाहिये ॥ १०७ ॥

[नीचे के श्लोक में जुआरी होने के कारण जिनकी खुवारी हुई, उन बड़े मनुष्यों के दृष्टांत दिये हैं]

द्यूतान्महतामपि विपत्तिः ॥१०८॥

द्रौपद्याः पतिसन्निधौ नृप सभा मध्ये पटा कर्षणं।
यच्चाभूदधिकारतो निरसनं तस्याः पतीनां पुरः।
राज्याद्यत्स्खलनं वने च गमनं पत्न्या नलस्याऽभव।
त्तत्सर्वंतवविक्रमेण कलितं रे द्युत:। कस्त्वत्समः॥

जुए के कारण घोर विपत्ति

भावार्थ.—दुर्योधन ने भरी सभा में युधिष्ठिर और अर्जुन जैसे पति की स्त्री द्रौपदी जैसी महासती के पट—चीर खिंचवाये और पांचों पांडव राज्याधिकार से पतन हुए और उनको बस्ती छोड़ वनवास भुगतना पड़ा। इसी तरह प्रसिद्ध महाराज नल को राज्यपद से भृष्ट हो अपनी स्त्री दमयंती के साथ धांव २ बिना किसी साधन के वन में भटकना पड़ा. हे जुआ! ऐसे प्राभाविक महत्त पुरुषों को भृष्ट कर उन्हें विपत्ति और क्लेश देने वाला तेरे सिवाय दूसरा कौन है? तेरी लीला का ही यह सब परिणाम है। अनेक पुरुषों को संकट में डालने वाले हे जुआ! तेरी लीला अपार ही है, उसका वर्णन कैसे हो सकता है? (१०८)

विवेचन:—द्यूत से—जुएं से हुई हानियों के दो बड़े जगत् प्रसिद्ध दृष्टांत इस श्लोक में दिये हैं। विदर्भ देश के राजा नल की अवदशा का मुख्य कारण जुआ थी। अपने भाई पुष्कर के साथ जुआ खेलते नल अपना राज्य पाट हार गए और इसी लिये सिर्फ अपनी स्त्री दमयन्ती को साथ लेकर वन में आना पड़ा था। वन में भी अनेकानेक संकट सहने पड़े। पति पत्नी बिछुड़ गए। वस्त्रहीन, क्षुधातुर और अत्यन्त हीन दशा में जङ्गल २ घूमते नल को अंत में एक राजा के अश्वपाल की नौकरी करने का समय आया. और दम ती को दासी बन कर पेट भरने की आवश्यकता हुई। अगर राजा नल जुआ न खेलते तो यह सब दुख नहीं सहना पड़ता। इसी तरह युधिष्ठिर कौरवों के साथ जुआं खेले और उसमें वे सब कुछ हार गए. धन, जमीन, पशु इत्यादि सब हार गए तब "हारा जुआरी दूना रमे" इस न्याय के अनुसार युधिष्ठिर ने अपने छोटे भाई सहदेव फिर नकुल को भी जुएं में हार दिया कौरवों की ओर दांव लेने वाले शकुनि ने यह कह कर चिढ़ाया कि तुम्हारे दो विमाता के लड़के भाइयों को तो तुमने दाव में खो दिये परन्तु तुम्हारे सगे भाई तुम्हें अधिक प्यारे हैं ऐसा मालूम होता है" इस पर से युधिष्ठिर ने अर्जुन, भीम, और अंत में खुद अपने को भी दाव में रखकर सब खो दिया। पांचों पांडव कौरवों के दास होगए. अब सिर्फ अकेली द्रौपदी रही. जब विनाश का समय आता हैं तब विपरीत बुद्धि सूझती है इसी अनुसार युधिष्ठिर ने द्रौपदी को भी दांव में रख दी और हार गए. इस तरह पांडव अपना सर्वस्व गुमा कर निस्तब्ध बैठे थे कि एक दम दुर्योधन ने द्रौपदी को जो रजस्वला होने के कारण सिर्फ १ वस्त्र पहिन कर अंतःपुर में बैठी थी वहां से उसी स्थिति में बुला मंगाई। दुःशासन उसकी

चोटी पकड़ कर अमर्यादित रीति से सभा में लाया। और उसका उसने वह एक वस्त्र भी खींच लेना चाहा अन्त में धृतराष्ट्र के दिये हुए वरदान से द्रौपदी ने अपने पांचो पति को दासत्व से मुक्त किया और वे १२ वर्ष तक वनवास भुगतने के लिये चल दिये। ऐसी २ लीलाएं जुआं के परिणाम से होती हैं और अगर इससे होती हुई हानियों का सविस्तर वर्णन किया जाय तो एक बड़ी पुस्तक लिखी जा सक्ती है॥ १०६॥

[द्यूत के दुष्परिणाम का दर्शन कराने के लिये एक असर कारक संवाद नीचे के श्लोक में दिया है]

द्यूत सेविनां मण्डलम्

युष्माकं कतमो महानहमहं चैत्यक्षशौण्डा जगुः।
कोटिद्रव्यपतिः पिताऽहमधुना भिक्षाचरोतो महान्॥
तातो मे सचिवः पणे इम भवम् चर्णी ततोहं महान्॥
रेन्यस्तं सह भार्ययाखिलधनं द्युते ततोहं महान्॥

जुआंरी मंडल

भावार्थ और विवेचन:—एक साहूकार ने जूए खेलने के उम्मेद वार अपने लड़के को जूआं का स्वरूप और उससे होती हुई हानिया समझाने के लिये एक जुआरी मंडल को अपने घर बुलाकर पूछा कि बोलो तुममें सबसे बड़ा जुआंरी कौन है! जो बड़ा हो उसे मेरे लड़के का गुरू बनाना है और उसे कुछ इनाम भी देना है यह सुनकर उस मंडल में से एक मनुष्य बोला कि मैं सबसे बड़ा हूँ इसलिये वह भेट मेरे सामने रखो।

साहूकार:—तू किस प्रकार से बड़ा है?

प्रथम जुआंरी—मैं बड़ा इसलिये कि इन सबसे पुराना जुआरी हूँ। मेरे पिता क्रोड़पति साहूकार थे उनके मरने

पर प्रायः वह सब सम्पत्ति मैंने जुए में खो दी है और आज भिखारी सा फिरता हूँ।

दूसरा जुआरी—अरे बैठ बैठ मुझसे तू बड़ा नहीं है? सबसे बड़ा मैं हूँ।

साहूकार—तू बड़ा कैसे समझा जाता है?

दूसरा जुआरी—मैं बड़ा यों हूँ कि इससे मेरे पिता अधिक धनवान थे और राज्य के कार्यकर्ता थे। इससे उनके पास अपार द्रव्य था। परंतु वह सब द्रव्य बन्दे ने जुए में खो दिया है। इतने से ही मेरी तृप्ति नहीं। जहाँ तक कर्ज मिला वह भी लेकर जुआ खेला यहां तक कि कुछ बाकी न रहा।

तीसरा जुआरी—ठीक २ अब चुपचाप बैठ तू क्या बड़ा है? बड़ा तो मैं हूँ। सेठ साहब सुनो. मेरे पिता राज्य मान्य प्राप्त मुसाहिब थे राज्य के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तुओं का संग्रह स्थान हमारा घर था परंतु इस बन्दे के हाथ में आते ही उस कुल सम्पत्ति को जुए में फना कर दी और कर्ज भी कर लिया है इतना ही नहीं परंतु मेरी स्त्री को भी उसके पीहर पहुंचा आया हूं। मेरा इरादा यहां तक है कि काम पड़े तो स्त्री को बेच कर भी जुआ तो अवश्य खेलूं कहो फिर मैं इन सबसे बड़ा हूँ या नहीं?

साहूकार—कहो पुत्र! तुझे कैसा बनना है। जैसा बनना हो उसे गुरू समझ और भेट दे।

पुत्र—पिताजी! नाश कारक यह धन्धा मुझे नापसंद है मुझे जुआरी नहीं बनना है। इन सब को जाने दो।

सारांश, लज्जा, इज्जत, धन, कुटुम्ब इन सब को धक्का पहुंचाने वाला जुए का व्यसन खराब ही नहीं अत्यन्त खराब है इसलिये प्रत्येक मनुष्य को और विशेष कर विद्यार्थियों को तो इससे अलग ही रहना चाहिये॥ १०॥

एकादश परिच्छेद ।

व्यसन निषेध-मांसाहार

मांसाहार परिहारः ॥१११॥

दृश्यन्ते द्विविधा जगत्य सुभृतोऽन्नादाश्च मांसाशना ।
दन्तस्वेदनखज्वरादिषु यतः स्पष्टोऽस्ति भेदोऽनयाः ॥
साम्यं तेन फलाशिभिः सह नृणां मांसाशिभिर्नोपुन ।
एतस्मान्नैव कदापि तत्समुचितं नृणां नु मांसाशनम् ॥

मांसाहार का परित्याग ।

भावार्थः—जगत् के प्राणी दो प्रकार के हैं एक मांसाहारी और दूसरे वनस्पति, फल-फूल और अन्नाहारी है, मांस भक्षी और वनस्पति भक्षियों में दांत, पसीना, ज्वर आने की रीति, जठर, नख इत्यादि की भिन्नता स्पष्ट ज्ञात होती है। अर्थात् मांसाहारी सिंह, वाघ प्रभृत्ति जन्तुओं के, नख, दांत और डाढ़ें, जानवरों को फाड़ सकें; ऐसी होती हैं परन्तु वनस्पत्याहारियों के वैसे नहीं होतीं। मांसाहारी जन्तु को जब ज्वर आती है तब पसीना आता है, परन्तु वनस्पति भक्षी प्राणियों को उसके विरुद्ध आता है। इन दोनों प्राणी वर्गों में से मांसाहारी वर्ग में मनुष्य की गणना नहीं हो सकती, क्योंकि मांसाहारी के से शरीरावयव मनुष्य के नहीं होते। किन्तु उनके अवयव वनस्पत्याहारी के से हैं, इसलिये विचार-शील मनुष्यों को मांसाहार करना नितान्त अनुचित है ॥१११॥

विवेचनः—'मांसाहार' को एक व्यसन-सदृश समझने का कारण यह है कि मनुष्य आदि से मांसाहारी नहीं होते थे, वे सिर्फ शौक से मांसाहार करने लग गये थे। और फिर जिस तरह दूसरे व्यसनों में फंसकर उनसे मुक्त होना असम्भव सा

होजाता है; उसी प्रकार वे इस मांसाहार के दुर्व्यसन तथा स्वाद में पड़कर उसमें ऐसे आसक्त हो गये कि उन में से कई लोग उसका त्याग नहीं कर सकते। मनुष्य को मांसाहार नहीं करना चाहिये इसके कारण स्वाभाविक हैं। उनमें के कितनेही मुख्य कारण ग्रंथकार ने इस श्लोक में दिखाये हैं। मनुष्य के देह की रचना बाघ-सिंह जैसे मांसाहारी प्राणियों के समान नहीं है, वरन् उनसे भिन्न है। उनके दांत, जठर इत्यादि सब मांसाहारियों के सदृश नहीं और इसीलिये वे मांसाहारी नहीं कहला सकते। यह कारण देह रचना के सम्बन्ध का कहा। दूसरी भिन्नता यह बतलाई है कि मांसाहारी जीभ से पानी पीते हैं और वनस्पत्याहारी मुंह अथवा ओठों से पानी पीते हैं। मनुष्य, बन्दर, भैंस, गाय इत्यादि सब प्राणी मांसाहारी नहीं, इसलिये वे मुँह से पानी पीते हैं, और एक विशेष भिन्नता यह है कि मनुष्यों को ज्वर न हो तब भी पसीना आता है परन्तु मांसाहारियों को जब ज्वर आता है तब ही पसीना आता है। ये सब कारण मांसाहारी प्राणियों और मनुष्यों में रही हुई देह रचना तथा आचारादि भिन्नता से सम्बन्ध रखने वाले हैं और इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यों को मांसाहारी प्राणियों की जाति में नहीं गिन सकते। कारण कि प्रकृति ने उन्हें मांसाहारी प्राणी का सा एक भी लक्षण नहीं दिया। पाश्चात्य विद्वान् भी यही निश्चय करते हैं कि मनुष्य मांसाहारी नहीं परन्तु वनस्पत्याहारी और फलाहारी हैं। आना किंग्सफर्ड अपने "The perfect way in Diet" नामक पुस्तक में मनुष्य की देह रचना और उसकी देह के भिन्न २ अवयवों का अवलोकन तथा समानता कर इस निश्चय पर आते हैं कि मनुष्य कदापि मांसाहारी नहीं हो सकता। पोचेट नामक

एक विद्वान कहते हैं कि "मनुष्य के जठर की रचना पर से यह स्वाभाविक फलाहारी पांति का ही है ऐसे कई प्रमाण स्पष्ट हैं"। प्रो० ओवन भी ऐसाही कहते हैं और विशेषतया इस प्रमाण पर कि एन्थ्रो पोइडिस और दूसरे पशु अपना जीवन अन्न, फल और दूसरी पोषक तत्ववाली वनस्पतियों से ही चलाते हैं और उनकी देह रचना और मनुष्य की देह रचना में जो समता पाई जाती है उस पर से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वाभाविक वनस्पत्याहारी है। फ्लोरंस नामक विद्वान कहते हैं कि मनुष्य मांसाहारी भी नहीं और वनस्पत्याहारी—तृणाहारी भी नहीं घास खाने वाले प्राणी के जैसे दांत चार चार डाढ़ें इत्यादि मनुष्य में कुछ भी नहीं हैं। जो अपन इन सब इंद्रियों पर से विचार करें तो मालूम होता है कि मनुष्य बंदर की तरह फलाहारी हैं "मनुष्य स्वाभाविक रूप से मांसाहारी नहीं और इस के सबूत में चाहें तो सैंकड़ों विद्वानों के मत भी दिये जा सकते हैं और यही कारण है कि इसे एक व्यसन गिना है तथा मांसाहार के लिये जीव हिंसा करने में विद्वानों ने बड़ा पाप बतलाया है।१११।

[मांसाहार में पाप भी है इस के सिवाय यह आरोग्यता को भी हानिकर है उसका कारण अब नीचे के श्लोक में दिखाते हैं

मांसाहार परिणामः ।११२।

व्यक्ता मानसवेदनास्ति विपुला येषां खलु प्राणिनां ।
तेषां च्छेदन भेदनात्मकमह क्लेशो न यज्जायते ॥
संस्कारैः पसु दुर्दशा समय जैः स्लिष्टश्च यद्वर्तते ।
तन्मांसं विकृतिं गतं गदकरं भक्ष्यं कथं स्यान्नृणाम् ॥

मांसाहार से हानि।

भावार्थः—जिन प्राणियों के वध से मांस पैदा होता है वे सब त्रस जाति के हैं अर्थात् स्पष्ट समझ वाले हैं जितनी वेदना मनुष्य को तलवार मारने से होती है उतनी ही शारीरिक और मानसिक वेदना उन प्राणियों को होती है। ऐसी समझ वाले प्राणियों को काट कर, छेद कर, या अन्य प्रकार से जब उनके शरीर से मांस निकाला जाता है, उस समय उन्हें अपार वेदना होती है, और उस समय जो उनके मन में क्लिष्ट परिणाम आता है उसका संस्कार उस मांस में पड़े बिना नहीं रहता। अर्थात् क्लिष्ट और दुष्ट संस्कार वाला मांस, खाने वाले में भी ऐसी ही क्लिष्ट वृत्ति उत्पन्न करता है, इतना ही नहीं परंतु उस मांस में उन प्राणियों के रोग भी उतर आते हैं और यदि वह सड़ जाता है—तो विकारी हो जाता है और अनेक रोगों का आगार हो जाता है। दूसरे त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। फिर प्रत्यक्ष में गंदगी जैसे मांसाहार के दुष्ट परिणाम को जान कर कौन चतुर मनुष्य मांस को "मनुष्य का भोजन है" ऐसा साबित करने के लिये अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करेगा?

विवेचनः—मांसाहारियों की अध्यात्मिक हानि कैसे होती है? उसका भी इस श्लोक में वर्णन किया है। अर्थात् यह तो सिद्ध ही है कि प्रत्येक क्रिया के संस्कार प्रत्येक वस्तु पर गिरते हैं। मन, वचन, और काया की गति अथवा क्रिया जो कुछ होती है उसकी छाप मन वचन और काया पर अनुक्रम से पड़ती है यह तो मनुष्य की दृष्टि का विषय है। परंतु मन और वचन दृष्टि के विषय न होने से समझ में नहीं आ सकते। आत्मा और उसकी शक्ति के ज्ञाता पुरुष इस बात को निश्चयात्मक रीति से मानते हैं कि मन और वचन के क्रिया

का असर स्थूल रूपसे देह में परिणत होता है। मन को दुष्ट विचार रूप क्रिया वाला बनाने से उसका असर शरीर पर अनिष्टकारी पड़ता है और सुविचार में मग्न रखने से शरीर पर शुभ प्रभाव पड़ता है। क्रोध से विह्वल रहने वाला मनुष्य मस्तक शुल या ज्वर की बीमारी से एकाएक ग्रसित हो जाता है यह क्या कई बार नहीं देखा गया? क्रोध, यह मन का व्यापार है, शरीर का नहीं; तो भी उसका प्रभाव शरीर पर पड़ता है उसका कारण यह है कि क्रोध के आंदोलन का असर शरीर के स्नायु पर पड़ता है, इसी तरह वचन का असर भी स्थूल मान से परिणत होता है। प्रख्यात विद्युत्‌शा-स्त्री अेडीसन ने आवाज़ के फोटोग्राफ द्वारा फोनोग्राफ बनाये हैं और उसकी क्रिया द्वारा स्पष्टतः आवाज श्रुतिगोचर होती है। यह फोटोग्राफ चक्षु द्वारा नहीं दिखाई देते तो भी कान विश्वास करते हैं कि ये फोटोग्राफ हैं और उनपर यंत्र की घर्षणा होने से वे पुनः श्रुति गोचर होते हैं। वेहसबुकर नाम का एक गृहस्थ कहता है कि एक नली, जिसके दूसरे छोर (सिरे) पर आवाज के आंदोलन ग्रहण होने जैसा नरम पदार्थ चुपड़ा हो या इस कार्य के लिये खास तैयार की हुई तड़ती रक्खी हो तो उस नली में मुंह रखकर बोलने से आवाज़ के आन्दोलनों के चित्र पड़ते हैं। इस काम के भिन्न २ प्रयोगों से सिद्ध होता है कि क्रोध, ईर्षा और स्वार्थ इत्यादि के आवाज द्वारा खटमल, कीड़े और दूसरे अप्रिय प्राणी जैसे बुरे लगते हैं वैसी ही आकृति होजाती है और प्रेम पूर्ण आवाज द्वारा (माया-परोपकार और ऐसे दूसरे प्रिय गुण-कारी आवाज से) सुन्दर फूलों सी आकृति होती है। इन प्रमाणों से इसी तरह मन वचन के व्यापारिक तथा अध्या-त्मिक शक्ति के बारे में प्राचीन समय के विद्वान जो कुछ कह

गए हैं इससे साफ सिद्ध होता है कि जिन प्राणियों को मांस के लिये वध करते हैं उन प्राणियों के मांस में उस समय की समझ और आर्तनाद का असर पड़े बिना नहीं रहता। जिस समय पशुओं को काटते हैं उस समय उन्हें शारीरिक पीड़ा कैसी होती होगी! उस की कल्पना वैसी ही स्थिति प्राप्त हुए बिना मनुष्य को आना दुष्कर है तो भी सामान्यतः ऐसा अनुमान तो कर सकते हैं कि अत्यन्त त्रासजनक वेदनाओं से उनकी आत्मा अनेक प्रकार की व्याकुलता और दुःखों से आच्छादित हो जाती होगी, अनेक प्रकार के आर्तनाद उनके मुँह से निकलते होंगे, और असह्य संकष्ट उनके शरीर को सहन होने से उनके उष्ण-अंतिम श्वासोच्छ्वास द्वारा निःश्वास और शाप की ज्वालायें निकलती होंगी-कौन कहेगा कि मन और वचनों की क्रियाएं उन प्राणियों के मांस पर "फोटोग्राफी" छाप नहीं डालतीं। और ऐसे मांस को उदर में खाने वाले भी अनिष्ट कर्ता हों, इसमें क्या आश्चर्य है? इस आध्यात्मिक प्रभाव को कदाचित् स्थूल दृष्टि के मनुष्य मात्र कल्पना का ही परिणाम मानेंगे परन्तु विद्वान जो कुछ मानते हैं और अध्यात्म शक्ति जो कुछ कर सकती है वही यहां दिखाया है। मनुस्मृति में भी मांसाहार को त्याज्य गिन के कहा है कि—

> ना कृत्या प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
> न च प्राणि वधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥

अर्थात्:—प्राणियों की हिंसा हुए बिना मांस पैदा नहीं होता और प्राणी का वध स्वर्ग सुख प्राप्त नहीं होने देता इसलिये मांस का सर्वथा त्याग करना ही उचित है।११२।

[मांस से अधिक पुष्टिकारक दूसरे अनेक निर्दोष पदार्थ हैं इसलिये पुष्टि के लिये मांस खाना निरर्थक है ऐसे पुष्टिकारक पदार्थ कौन २ से हैं वे अब दर्शाते हैं]

मांसाद् दुग्धादिके ऽधिकं पुष्टितत्त्वम् ।।११२।।

तत्त्वं पुष्टिकरं यदस्ति सुलभे दुग्धादिके सात्त्विके ।
मांसे नास्ति च दुर्लभेपि तदिद दुग्धादिन्महार्घे पुनः ।।
दुग्धोत्पत्तिकृत ऽगिनां न हननं भीतिश्च नोत्पद्यते ।
मांसोत्पत्तिरनल्प दुःख जनिका त्याज्यं ततस्तन्नृणाम् ।।

मांस की अपेक्षा दूध में विशेष पौष्टिक तत्व ।

भावार्थः—जो लोग यों कहते हैं कि मांस में शरीर को पुष्ट करने वाला जो तत्व है वह दूसरी खुराक में नहीं, उन की यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। वर्तमान में अनेक प्रमाणों से अथवा रासायनिक विद्या से सिद्ध हुआ है कि मांस में जो पौष्टिक तत्व है उससे भी अधिक पौष्टिक तत्व दूध इत्यादि पदार्थों में है। दूध-घी की खुराक में किसी निर्दोष प्राणी का वध भी नहीं होता। यह खुराक मांस जितनी महंगी नहीं परन्तु मांस से सस्ती और सुलभ है मांस की खुराक मनुष्य की वृत्तियों को क्रूर बनाती है दया को समूल उखाड़ती है, और त्रस प्राणियों को महा व्यथा दुःख उपजाती है। परन्तु दूध इत्यादि वनस्पति और अन्न की खुराक सात्विक वृत्ति उत्पन्न करती है मनुष्य के लिये सात्विक और निर्दोष खुराक ही योग्य है। मांसाहार तो देखने और स्पर्श करने के भी योग्य नहीं। तो फिर खाने की तो बात की भी क्या ज़रूरत है?

विवेचनः—अब पुष्टि देने वाले तत्व मांस में कौन २ से गुणावगुण हैं उनका पृथक्करण करते हैं। विद्वानों ने रासायनिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है कि मांस से भी अधिक पुष्ट पदार्थ वनस्पति में हैं नाइट्रोजन नामक एक तत्व मनुष्य

देह को विशेष पुष्ट बनाने वाला है ऐसा पाश्चात्य विद्वान मानते हैं। यह नाइट्रोजन मांस के अंदर प्रति शत १२ से २० टके तक रहता है। अर्थात् भिन्न २ जाति के मांस में भिन्न २ प्रकार का औसत रहता है। सब से अधिक नाइट्रोजन २०.४ सफेद अंडों की सफेदी में माना गया है अब हम दूध, घी, मटर इत्यादि का पृथक्करण करें तो मालूम होता है कि इनमें मांस से अधिक प्रमाण में नाइट्रोजन इत्यादि तत्त्व रहते हैं। दूध में नाइट्रोजन तो सिर्फ ४. १ टके जितना है परन्तु उसमें ५. २ टके इतना लेकटाइन नामक पदार्थ है, जो कि अत्यन्त पुष्टकर्त्ता है और उसी के आधार से अगर मनुष्य अपना जीवन दूध पर ही बिताना चाहे तो बिता सका है। सूखे मटर में २३.८ टके नाइट्रोजन है और गेहूं में २२.७५ मक्को में १२.५० और सब से अधिक मूंग फली में २४.५ नाइट्रोजन तत्व है। इस परसे सहज ही समझ सक्ते हैं कि मांस की अपेक्षा अधिक पुष्ट कारक तत्त्व दूध गेहूं मटर मक्की मूंगफली इत्यादि हैं और इसलिये वन-स्पति का आहार करनेवाला मनुष्य मांसाहारी से अधिक पुष्ट होने का दावा कर सका है। यह तो पुष्ट कारक तत्त्व का निर्णय हुआ अब यह आहार कितना महँगा है यह देखते हैं। यूरोपीय विद्वानों ने मांसाहार की महंगाई अङ्कों में सिद्ध कर दिखाई है। परन्तु उस देश के भावों की समानता अपने देश के भावों के साथ करना अयोग्य है इसलिये अपने देश के भावों का ही विचार करना चाहिये। एक पौण्ड अर्थात् ४० तोला नाइट्रोजन पैदा करने के लिये १७५ तोला गेहूं १६० तोला मुंगफली १७० तोला मटर के आहार की ज़रूरत है उतना ही नाइट्रोजन प्राप्त करने के लिये २४० तोले मांसाहार की ज़रूरत होती है जिसकी कीमत १६ से १७ आने तक लगती है। इतने

महंगे, कम पुष्टकर्त्ता और क्रूरता तथा निर्दयता से प्राप्त मांस की खुराक शारीरिक या आत्मिक हित की इच्छा रखने वालों को तो सर्वथा त्याग देना ही उचित है ॥ ११३ ॥

[मांस के आहार का उपयोग करने से कितने ही जीवों का नाश होता है इनसे देश को कितनी हानि पहुंच रही है यह नीचे के श्लोक में दिखाते हैं]

मांस निमित्तं म्रियमाणानी गवानुपयोगिता ॥११४॥

यादुग्धं वितरन्ति तक्रदधिनी आज्यञ्च नृभ्योभृशं ।
यासां सन्ततिमन्तरेण न भवेत्कृष्यादिकार्यं क्वचित् ॥
यद्वत्सा जनभारवाहकतया ख्याता धरा-मण्डले ।
मांसाहार कृते नृणां किमुचितः शस्त्रेण तासां वधः ॥

मांसाहार के लिये मरती हुई गायों की उपयोगिता ।

भावार्थः—जो गायें मनुष्य के शरीर को पुष्ट करने वाले दूध जैसे उत्तम पदार्थ को उत्पन्न करती हैं, जिनसे दही मट्टा, मक्खन, घृत मिठाई और पकान हो सके हैं, ये सब वस्तुएं मनुष्यों को जिन प्राणियों से प्राप्त होती हैं। उसी तरह इस पृथ्वी पर करोड़ों मनुष्यों के लिये जो अनाज उत्पन्न होता है उसका आधार भी जिसकी संतति पर निर्भर है अर्थात् जिसके विना तनिक भी खेती का कार्य नहीं हो सका, इतना ही नहीं परन्तु एक ग्राम से दूसरे ग्राम या एक स्थान से दूसरे स्थान पर कुछ बोझ भेजना हो या मनुष्यों को जाना हो तो सब बोझ जिनके बच्चे उठा ले जाते हैं और उसे इष्ट स्थान पर पहुंचाते हैं ऐसी हजारों नहीं परन्तु लाखों अत्यन्त उपयोगी गायों का विनाश मांसाहार के निमित्त होता है, यह हानि जितनी होती है, उसका कुछ हिसाब लगावें

तो मालूम होता है कि इन कारणों से ही भारतवर्ष आज दरिद्रावस्था को भोग रहा है और इस महंगाई के कारण ही मनुष्य का शारीरिक बल घटता जाता और आयु भी कम होती जाती है। ११५।

विवेचनः—प्राणियों के वध बिना मांसाहार नहीं हो सक्ता। और इसलिये अनेक उपयोगी प्राणी खास कर मांसाहार के लिये ही मारे जा रहे हैं। इन प्राणियों में गाय बैल, बकरे, भैंस, पाड़े इत्यादि जानवर मुख्य है। ये जानवर मनुष्यों को कितने उपयोगी हैं इस विषय में अधिक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। अपने देश में मनुष्य के जीवन का आधार अधिकतर खेती पर निर्भर है और खेती गाय के पुत्र बैलों पर निर्भर है, इसी तरह सब से उत्तम पुष्टकारक पदार्थ दूध और घी के पैदा होने का आधार भी गाय और भैंसों पर ही निर्भर है। ये जानवर हज़ारों की संख्या में कसाइयों के हाथ पड़ने से अपने देश का करोड़ों का धन सिर्फ मांसाहार के लिये नष्ट हो जाता है और दिन २ देश दरिद्र होता जा रहा है। ऐसा हिसाब लगाया है कि एक गाय को मार डालने से प्रायः ६ मनुष्यों की आजीविका बन्द हो जाती है तो जिस देश में हमेशा सैकड़ों गायें कटती हैं वह देश दरिद्रावस्था भोगे; इसमें क्या आश्चर्य है? गायों की संख्या घटने से खेती के उपयोगी बैल भी कम पैदा होते हैं और इसमें खेती को भी धक्का पहुंच रहा है। इस तरह मांसाहार से होने वाले अनर्थों की तलाश पर से अपने देश को आर्थिक अवनति में डुबाने वाला एक निर्दय मनुष्यों का व्यसन ही इसका कारण है। यह विषय इतने महत्व का है कि विद्वानों ने इस विषय पर अनेक बड़े २ ग्रंथ लिखे हैं। प्राणी के वध को सब धर्म वालों ने अधर्म समझा है उसका कारण यह है कि जिस तरह यह

मानव हृदय को निर्दय बनाता है और आत्मा का अधःपतन करता है उसी तरह वह देश का भी आर्थिक अहित करता है। महाः भारत में सत्य कहा है कि:—

> अहिंसा लक्षणो धर्मो ह्यधर्मः प्राणिनां वधः ।
> तस्माद्धर्मार्थिभिर्लोकैः कर्तव्या प्राणिनां दया ॥

अर्थात्:—अहिंसा यही एक धर्म है और प्राणियों का वध करना यह अधर्म है, इस लिए धार्मिक पुरुषों को प्राणियों पर सर्वथा दया ही रखनी चाहिये । ११४ ।

द्वादश परिच्छेद ।

व्यसन निषेध-मद्यपान ।

मदिरा । ११५ ।

> योन्मादं जनयत्यपि स्वपरयोर्विस्मारयत्यन्तरं ।
> मस्तिष्कं भ्रमिमद्विवेक विकलं चित्तं करोति क्षणात् ॥
> दारिद्र्यं ददते तथा वितनुते लज्जा प्रतिष्ठा क्षयं ।
> सा योग्या न हि लेश-तोपि मदिरा स्पर्शाय पानाय वा ॥

मद्य ।

भावार्थ:—मदिरा-दारू का व्यसन भी मनुष्य की जिन्दगी या मानवतत्व की नाशक एक बुरी आदत है। यह पहिले तो पीने वाले को उन्मत्त बनाती है, अपने मनुष्य कौन और दूसरे कौन यह भान भुला देती है, मस्तिष्क को फिरा देती है, चित्त को पलभर में विवेक शून्य बना देती है चाहे जैसे

धीमंत को दरिद्री बना देती है, और कुल की लज्जा, इज्जत तथा प्रतिष्ठा पर पानी फेर देती है। ऐसी मदिरा का पान करना तो क्या परंतु स्पर्श करना भी अयोग्य है ॥ ११९ ॥

विवेचनः—मदिरा पान-दारू का व्यसन जितना हानि कारक है, उतना हानिकारक दुश्मन मनुष्य को भाग्य से ही दूसरा मिलेगा। इस व्यसन में मुग्ध रहने वाले अपनी देह, आत्मा और कुटुम्ब तथा समस्त देश के अहित करने वालों के नाम से जगत में प्रसिद्ध हैं। यह दुष्ट आदत मनुष्य को उन्मत्त बनाती है, चित को बिगाड़ देती है, कीर्तिमान को अपकीर्ति करती है और धनवान को निर्धन बनाती है, कहा है किः—

> वैकल्यं धरणीपातमयथोचित जल्पनम्।
> संनिपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत्॥

अर्थात् जो पुरुष मद्य पान करते हैं उन्हें विकलता प्राप्त होती है, वह पृथ्वी पर गिर जाता है, और अयोग्य रीति से बड़ बड़ाता है तथा बहुत से सन्निपात के चिन्ह धारण करता है।

> अयुक्तं बहु भाषन्ते यत्र कुत्रापि शेरते।
> नग्ना विक्षिप्य गात्राणि बालका इव मद्यपाः॥

अर्थात् मद्यपान करने वाला मनुष्य अयोग्य वचन बोलता है और बालकों की तरह अपना शरीर खुला रख कर जहां तहां सोता है 'स्लीनी' नामक एक अंग्रेज लेखक कहता है कि मद्य पीने वाले मनुष्य के हाथ धूजते हैं आंखों में वार बार पानी आता है रात में बे चैन रहता है भयंकर स्वप्न देखता है और स्मरण शक्ति विहीन हो जाता है। इस तरह मद्यपान; मनुष्य को पागल बना देता है और उसका परिणाम उसे अत्यन्त हानिकारक मिलता है।

रेवरंड विलियम्स कहते हैं कि मद्य शरीर को और आत्मा को जहर सा लगता है। एक मनुष्य जो लगभग ७ फुट ऊंचा था परंतु जब वह मद्य पीता था तब उसे जो कोई त्रास देता वह हाथ में भाला कटारी, या कुछ भी हथियार लेकर शत्रु या मित्र हर किसी को मारने जाता और इस तरह उसने अनेकों को मारे। जब उस ने मद्य न पीने के सचमुच ही सौगंध ले लिये तब उसने उसकी पुरानी टेव त्याग दी। मद्यपान से हुई विक्षिप्तता कितनी नाश कारक होती है यह सहज ही समझ में आ जाता है।

[नीचे के श्लोकों में मद्यपान से होती हुई दुरावस्थाओं के चित्र खींचे हैं ग़रीब और नीच लोग जितना मद्य पीते हैं उन की तथा बड़े और श्री मन्त लोग घर में बैठ कर गुप्त रीति से मद्य पीते हैं उन की कैसी २ हालत होती है वह अनुक्रम से दिखा कर, विद्यार्थियों का ध्यान उस तरफ खींच कर बोध दिया है।]

मद्य सेविनां दुर्दशा । ११६ ।

एषांपश्यत भो सुरा व्यसनिनां दुःखान्वितां दुर्दशां
गच्छन्तोपि पतन्ति दृष्टि विकला मार्गे किलेतस्ततः ॥
अज्ञानात्प्रलपन्त्य संगतमथाऽव्यक्तञ्च तुच्छं वचो ।
दण्डा दण्डि परस्परं विदधते निष्कारणं बालिशाः ॥

मदिरातो दक्षाणामपि वैकल्यम् । ११७ ।

दक्षा अप्य धुनाऽति शून्य हृदयाः स्वं रक्षितुं न क्षमा ।
दृश्यन्ते परतन्त्रता मुपगता घ्नन्तः कलत्रादिकम् ॥
छिन्दन्तो वसनादिकं विकलवत्ते वञ्च्यमानाः परैः ।
क्लिश्यन्ते मदिरामदाहतधियो हाहा वराका नराः ॥

मदिरा से होती हुई दुर्दशा।

भावार्थः--हे विद्यार्थियो! देखो, दृष्टि फेंको, दारू पीने वालों की दुर्दशा कैसी दुःखदाई है? वे मार्ग में चले जाते हैं परन्तु लक्ष्य शून्य हैं अर्थात कहां जाते हैं इसका उन्हें कुछ भी ध्यान नहीं रहता। यहां वहां भटका करते हैं और चलते चलते प्रायः रस्ते में गिर भी जाते हैं, सुनो, वे क्या बकते हैं? उनके बोलने का कुछ ठिकाना नहीं। असम्बन्धी और निरर्थक बैन बोलते हैं। यहीं २ कुछ शब्दों से सम्बन्ध पाया जाता है तो भी एक दूसरे से कैसे बोलते हैं? और कैसी गाली देते हैं। इतना ही नहीं परन्तु देखो! ये मूर्ख आपस में ही लड़ने के लिये तैयार हो गये हैं और एक दूसरे को लकड़ी से प्रहार कर रहे हैं अहो! मदिरा से लोगों की कैसी दुर्दशा हुई है।११८।

मदिरा से चतुर मनुष्यों की हीनता।

हे विद्यार्थियों! यह तो तुम ने पामर और मूर्ख मनुष्यों की दुर्दशा देखी, परन्तु देखो अब चतुर मनुष्यों की भी मद्य पान से कैसी दुर्दशा हुई है? ये पहिले चतुराई की बातें करने वाले विद्वान अमलदार—बड़े मनुष्य अब मद्य पान से कैसे शून्य हृदय हो रहे हैं? जो शांत समय में दूसरों की रक्षा करते हैं वे अब अपनी भी रक्षा करने में असमर्थ हैं। मदिरापान से बिलकुल परतन्त्र और पागल बन गए हैं। पागल की तरह अपने वस्त्र फाड़ने लग गए हैं। कोई तो कपड़े उतार कर नाचने लग गए हैं। लुच्चे मनुष्य उनके जेब से पैसे निकाल लेते हैं या लूट लेते हैं तो भी उन्हें खबर नहीं पड़ती। कोई उन्हें ठगता है तो वे ठगा जाते हैं रस्ते में पांव बराबर नहीं उठते ठोकर लग जाती है खून निकल जाते

हैं और भी बहुत से कष्ट होते हैं। तो भी उन बेचारों को ज्ञान नहीं रहता। कारण कि उनकी अक्ल मदिरा से मारी गई, इसलिये वे बुद्धिमान अक्लमंद भी गंवार जैसे होगए। इसलिये हे विद्यार्थियों! कभी मद्य पान करना न सीखो।१२७।

विवेचन:—इन दोनों श्लोकों में दो प्रकार के मनुष्यों पर मद्यपान से कैसा असर होता है उस का चित्र खींचा है। मज़दूर, कारीगर और उनके जैसे ही दूसरे सामान्य पंक्ति के मनुष्य मदिरा पान से कैसी दशा भुगतते हैं और चतुर अक्लमंद मनुष्य कैसे बन जाते हैं यह दिखाया है। दारू की दूकान पर से मदोन्मत्त हुए दारू पीने वालों को घर की तरफ जाते हुए अज्ञानावस्था में परस्पर अश्लील भाषा में बात चीत करते, लड़ते झगड़ते या मार पीट करते किस ने नहीं देखा है? सामान्य लोग दारू पीकर रस्ते में लोट कर अपनी इज्जत के कंकर करवाते हैं उसी तरह विद्वान, चतुर, और अधिकारी मनुष्य मदोन्मत्त बनकर घर में तथा पड़ोसियों में अपनी फ़ीजत कराते हैं जिन विद्वानों ने जिस समय मद्यपान न किया हो वे उस समय दूसरों को उपदेश देते हैं, बड़ी चतुराई दिखाते हैं, और चतुराई की बातें करते हैं, परन्तु दारू पी लेने पर बंदर की तरह नाच कूद करने लग जाते हैं। उस समय उनकी होशियारी पर, उनकी विद्वत्ता पर और उन के अधिकार पर धिक्कार की वर्षा होती है। ग़रीब लोग मद्यपान से अपना धन गंवाते हैं और अपने बालबच्चों को तथा स्त्री को भूखे मारते हैं और उच्च पंक्ति के लोग अपनी चतुराई, कीर्ति, हृदय की दयालुता और कुटुम्ब-वात्सल्य का सत्यानाश करते हैं।

मद्यपान से चतुर मनुष्यों ने अपनी चतुराई को तिलांजली दी और कैसे अनर्थ किये जिस के अनेक दृष्टांत

इतिहास से प्राप्त होते हैं। दिल्ली के बादशाह जहांगीर अपार मद्य पीते थे। वे चतुर थे और उनके पिता अकबर ने सारे भारतवर्ष का महान साम्राज्य उनके हाथ में सौंपा था परन्तु मद्य पान से वे इतने मदोन्मत्त होते थे कि उन की बेगम नूरजहां के महल से वे बाहर भी न निकल सके थे। राज्यकार्य पर बिलकुल लक्ष्य न देने से राज्य के कई खंड हो गए और उन खंडों के राजा स्वतंत्र बन गए। अकबर की बनाई हुई इमारतों में से उनके पुत्र जहांगीर के समय से ही ईंटें गिरने लग गई थी और औरंगज़ेब के समय के पश्चात् तो सब इमारतें प्रायः नष्ट सी ही हो गई थीं।

दूसरा एक दृष्टांत गुजरात के राजा सामंतसिंह का है। सामंतसिंह चापोत्कट वंश के अंतिम राजा थे एक समय मद्य के नशे में उन्होंने अपना राज्य अपने भानजे मूलसिंह को सौंप दिया। जब वे सुधि में आये तो उन्होंने अपना राज्य वापिस मांगा परन्तु मूलसिंह ने एक वक्त गादी पर बैठ कर फिर उठने से इन्कार किया और उसका फल यह हुआ कि भानजे और मामा के मध्य बड़ा भारी युद्ध हुआ। जिसमें सामंतसिंह मारे गये और मूलसिंह के हाथ में ही राजगद्दी आई। तब से गुजरात का राज्य चापोत्कट वंश से चालुक्य वंश के हाथ में आया। सच है कि चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्य पानात्॥ ११६। ११७॥

[मद्य पानसे द्वारिका और यादववंश का किस तरह नाश हुआ वह दिखाते हैं]

मदिरातो द्वारिका यदुकुलयोर्विनाशः ११८।

ख्यातं भारत मण्डले यदुकुलं श्रेष्ठं विशालं परं।
साक्षादेव विनिर्मिता वसुमति भूषा पुरी द्वारिका॥

एतद्युग्म विनाशनञ्च युगपज्जातं क्षणात्सर्वथा ।
तन्मूलं मदिरा नु दोष जननी सर्वस्वसंहारिणी ॥

द्वारिका, यदुकुल और मदिरा ।

भावार्थः—भारतवर्ष में यादववंश किसी से छिपा नहीं है क्योंकि यदुकुल परम विशाल, श्रेष्ठ और चारों ओर प्रख्यात था । यादवों की नगरी द्वारिका भी देवताओं के द्वारा निर्माण की गई थी और साक्षात् देवपुरी की सी पृथ्वी के भूषण-के समान थी । हे विद्यार्थियों ! तुम्हें मालूम है कि उस कुल और नगरी दोनों का विनाश क्यों हुआ ? जो खबर न हो तो सुनो । यादवकुल और द्वारिका नगरी का जो एक साथ विनाश हुआ उसका मुख्य कारण मदिरा—दारू के सिवाय दूसरा कुछ नहीं है । इसलिये मदिरा सर्वस्व का संहार करनेवाली और अनेक दोषों को जन्म देनेवाली है । इसका स्पर्श करना भी मनुष्य को उचित नहीं है ।

विवेचनः—पुराणों में एक ऐसी कथा है कि चन्द्र ग्रहण के दिन बहुत से यादव सकुटुम्ब श्रीकृष्ण प्रभास यात्रा को गए वहां सब यादवों ने मद्यपान किया और उसके नशे में पहिले तो कई यादव आपस में गाली गलोज़ करने लगे । फिर ठोक पीट; और अंत में काटकूट पर आगए और यादवों को एक दूसरे ने मारा, इस लड़ाई को पुराण में 'यादव स्थली' कहा है । कृष्ण जी अपने हाथ में लोह का मूशल लेकर उससे किसी को मारते थे उन्होंने अपने बालकों को भी शेष नहीं रक्खा बलदेव जंगल की ओर भाग गये, और वहीं मर गये । कृष्ण थकित हो एक तालाव के किनारे एक पीपल के झाड़ नीचे सोये थे । इतने में एक पारधीने इन्हें जानवर समझ दूरसे तीर मारा और इनके तीर लगते ही ये मृत्यु को प्राप्त हो

गए, अंत में यादवों की विधवा स्त्रियां निराधार अवस्था में रह गईं उन्हें अर्जुन इन्द्रप्रस्थ ले जाता था। रास्ते में आंध्र लोगों ने इनपर हमला किया और वे सब स्त्रियों को छीन ले गए। इधर द्वारिका को निर्जन बनाकर अर्जुन का जाना था कि जल्द ही द्वारिका पर पानी फिर गया. जैन शास्त्रों में भी वर्णन है कि मदिरापान से मदोन्मत्त हो लड़कों ने ऋषि की छेड़ छाड़ की और उनके कारण ही यादव वंश और द्वारिका का विनाश हुआ। सिर्फ मदिरापान से ही यादवों का, उनके कुटुम्ब का और अंत में द्वारिका का भी इस तरह विनाश हो गया।। ११८।

[मद्यपान से होते हुए दूसरे नुकसानों का वर्णन निम्न श्लोक में किया है]

राज्य भ्रष्टतादिरूपा मदिरा परिणतिः ॥११९॥

भ्रष्टा भूप तयोपि राज्य पदतो मद्यस्य पाने रताः।
केचिद्राज्यपदे स्थिता अपि पराधीनत्वमापुस्तराम् ॥
केचित्सत्वपराभवात्प्रतिदिनं क्लिश्नन्ति मद्याशिनः।
केचिन्मृत्युपदं क्षयामयहता हाहा लभन्ते द्रुतम् ॥

मदिरा से पद भ्रष्टता और क्षयरोग।

भावार्थः—पहिले मदिरा के व्यसन में लीन हुए कितने ही राजाओं को राज्य पद से भ्रष्ट हुए सुना और वर्तमान में भी ऐसे अनेक दृष्टांत देखने में आते हैं। अरे! कितने ही तो राज्याधिकार प्राप्त होने पर भी मदिरा के व्यसन से बिलकुल पराधीन हो सत्तारहित बन उस पर ऐसे निर्माल्य हो जाते हैं कि मानो वे जीवित अवस्था में ही मर गए हैं। कितने ही मद्य-व्यसनी शरीर को सत्वहीन बना कर दिन रात अनेक रोगों से लिप्त हो असह्य क्लेश भोगते हैं। इतनाही नहीं

परन्तु कितने ही मद्य के व्यसन से क्षय जैसे भयङ्कर रोग के भोग होकर जवानी में ही मृत्यु शय्या पर सोते हैं। मदिरा के व्यसन के ऐसे भयङ्कर परिणाम ज्ञात होजाने पर कोई भी सुज्ञ विद्यार्थी क्या एक क्षण भर भी इस व्यसन को मान देने के लिये लालायित होंगे? कभी नहीं! (११८)

विवेचनः—मदिरा पान से होते हुए अनेक नुकसानों में एक बड़े नुकसान की गिनती कर ग्रंथकार इस श्लोक में कहते हैं कि मद्यपान करने वाले राजा तक भी पद भ्रष्ट हो जाते हैं और राज्याधिकार प्राप्त होने पर भी वे मृत्यु प्राप्त हों; जैसे निःसत्व बने रहते हैं। विशेषता यह है कि मद्य पान से अनेक रोग भी जन्म लेते हैं, और शरीर के स्नायुओं का क्षय करते २ अंत में उसे मृत्यु पर ले जा कर रखते हैं। इस व्यसन के व्यसनी राजाओं ने पहिले अपने राज्य खोये, ऐसे अनेक दृष्टान्त इतिहास से प्राप्त होते हैं, तथा इस व्यसन के व्यसनी कई अधिकारी—अमलदारों को भी सरकार पद भ्रष्ट किये बिना नहीं रहती। प्रथम गुजरात के राजा सामन्तसिंह ने दारू के नशे में अपना राज्य खो दिया यह दृष्टान्त दिया है। एक विशेष दृष्टान्त लखनऊ के अंतिम नव्वाब वाजिद अलीशाह का है। ये नव्वाब बड़े ही दारू पीने वाले थे। उन्होंने सहस्रों वेश्याओं को मासिक पगार मुकर्रर कर अपने राज्य में रक्खा थी और अस्सी लाख रुपयों के खर्च से बंधे हुए 'कैसर बाग' नामक एक महल में वे वेश्याओं के साथ मद्य पीकर नाचते और इन्द्र सभा का नाटक करते थे। कहते हैं कि इन्द्र सभा का सुप्रसिद्ध उर्दू नाटक इन्हीं नव्वाब का बनाया हुआ है। समस्त रात वे दारू के पान में या शौक आनन्द में बिताते और जब सूर्योदय होता तब सो जाते थे। मध्याह्न में उठते, भोजन

करते और बगीचे में इधर उधर घूम कर रात्रि होते ही फिर उसी शराब का दौरा चलाते इस तरह उन्होंने लखनऊ की करोड़ों की सम्पत्ति मौज आनन्द में, और वेश्याओं को खिलाने पिलाने में उड़ा दी यह प्रसिद्ध है कि नव्वाब की वेश्याएं जब अलंकार पहन कर बगीचे में फिरती थीं तब उनके वस्त्रों में से जो सितारे, मोती, वगैरह गिर जाते उन्हे ढूंढकर बेच खाने वाले रोजगार से सैकड़ों मनुष्य अपना उदर निर्वाह करते थे। इस शराबखोर नव्वाब का राज्य अंत अन्धाधुंधी का साम्राज्य हो गया, उसका परिणाम यह हुआ कि सन् १८५७ के बलवे के समय अंग्रेज़ सरकार ने नव्वाब को क़ैद कर कलकत्ते भेज दिया वे वहाँ पर मृत्यु समय तक क़ैद ही रहे।

मद्यपान से होते हुए रोगों के सम्बन्ध में तो पाश्चात्य डाक्टर भी अनेक सबूत देते हैं। डा० डब्ल्यू० ए० एफ० ब्राउन कहते हैं कि मद्य से शरीर को हानि होती है, अशक्तता आती है इतना ही नहीं परन्तु भविष्य की प्रजा को मानसिक रोग भी लगता है। एक डाक्टर कहते हैं कि मद्य में 'आल्कोहोल' नामक एक प्रकार का विष रहता है जो यह विष अधिक पिया जाय तो मृत्यु हो जाती है और कम पिया जाय तो अर्द्ध मृतावस्था प्राप्त होती है कितने ही डाक्टर कहते हैं कि दवाई में भी मद्य मिश्रित होने से हानि होती है। कोलिनिट नामक एक अनुभवी डाक्टर कहते हैं कि मैंने मेरे धंधे में ३ लाख बीमारों को लगभग बिना मद्य की दवाई दी और वे दारू की दवाई की अपेक्षा जल्द ही आराम होगए सन् १८४६ ई० में गर्न्सी द्वीप में जब हैजा चला उस समय अधिकतर मद्य पीने वाले मर गए और मद्य न पीने वाले एक भी न मरे। डाक्टर मनरो कहते हैं कि एक मनुष्य ने मुझे कहा कि किसी भी तरह

से मुझे बचाओ। मेरा इरादा पहिले तो उसे मद्य पिलाने का था परन्तु फिर मैंने विचार किया कि यह मनुष्य मद्य पीकर मरेगा इसकी अपेक्षा मद्य न पीकर मरे तो अच्छा होगा। फिर मैंने उसे दारू पीने से मना कर दिया। मेरी ही देखरेख में मैंने उसकी दवाई शुरू की परन्तु वह अधिक कमजोर होने लगा। अंत में उसकी स्त्री, बाल बच्चे दोस्त प्रभृति ने लाचार होकर दारू पीने के लिये कहा परन्तु उस बीमार ने मुझ पर विश्वास रख मद्य पीने से इन्कार किया और कहा कि मैं दारू पीकर मरूं उसकी अपेक्षा दारू न पीकर मरुं तो अच्छा है। अन्त में वह बिलकुल मृत्यु की हालत में आ पहुंचा ऐसी हालत में भी उसने मुझ पर और ईश्वर पर विश्वास रक्खा। जिसका उसे यह फल मिला कि वह मरते २ बच गया। विद्यार्थी मित्रो! दारू को त्यागने से ऐसे २ लाभ होते हैं और पीने से ऐसी २ हानियाँ होती हैं; मन में दृढ़ता से समझ रखना कि 'तस्मान्मद्यं नैव पेयं न पथम्' ॥११९॥

त्रयोदश परिच्छेद।

व्यसन निषेध-वश्यागमन।

वेश्यागमन प्रतिषेधः। १२०।

यूनो वंचयितुं सदा प्रयतते या स्वार्थ मग्ना सती।
माया पाश निपातनेन कुरुते मुग्धान धीनान्स्वयम् ॥
हृत्वैषां सकलं धनं पुनरियं नष्टे धने द्वेष्टि तान्।
संसर्गः सुख नाश कोस्ति नियनस्तस्याहि वार स्त्रियाः॥

वेश्यागमन निषेध ।

भावार्थः—जो वैश्याएं तरुणों को किसी तरह मोह फाँस में फंसाने, उन से धन प्राप्त करने या उन्हें ठगने के स्वार्थी व्यापार की चिन्ता में ही रात दिन लीन रहती हैं, जो विषय लम्पट मुग्ध पुरुषों को कटाक्ष बाण से वींध कर अथवा माया और कपट के पंजेमें फंसा कर अपने तावेदार या गुलाम बना लेती हैं, और मुग्ध पुरुष भी विषयांध हो मूर्ख बन कर अपनी सर्व सम्पत्ति और अंत में अपनी स्त्री के अलंकार तक भी उसके सुपुर्द कर देते हैं, वह भी सब सम्पत्ति अपने कब्जे में लेकर अंत में निर्धन हुए अपने उस यार को धक्के देकर वाहर निकाल देती हैं। और फिर जिन्हें एक बार भी उस प्रेम दृष्टि से नहीं देखती जिन पर स्वार्थ न रहने से घृणा की दृष्टि से देखती है ऐसी स्वार्थसाधक वैश्याओं का संसर्ग करना भी मनुष्यों को अनुचित है इसलिये सुख का नाश करने वाला जो उसका संसर्ग है उससे प्रत्येक मनुष्य को अलग रहना चाहिये ॥१२०॥

विवेचनः—युवावस्था में पदार्पण करने वाले विद्यार्थी जो संसार के कपट जाल से अनभिज्ञ रहते हैं और जो दुराचारिणी स्त्रियों के दुष्ट भावों को नहीं समझ सकते वे भूल से वैश्याओं के हाथ में फंसकर भी हाशियारी का वर्ताव करें तो अच्छा है। 'देशाटनं पंडित मित्रता च वारांगना राज सभा प्रवेशः' इस श्लोक का दुरुपयोग कर वैश्यागमन से चतुर होते हैं इस भ्रम से ऐसी स्त्रियों के सहवास करने की लालसा कभी न करना चाहिये। वैश्यागमन हमेशा धन और तेज का नाश करने वाला है। स्वस्त्री से असन्तुष्ट रह कर जो वैश्याओं में मग्न हो आनन्द चाहते हैं वे उभय रीति से भ्रष्ट होते हैं।

कहा है कि 'वैश्यानां च कुतः स्नेह?' वैश्याओं से स्नेह की आशा करना व्यर्थ है और जहां स्नेह नहीं वहां संसार का सफलीभूत होना तो दूर रहा; वास्तविक आनन्द भी नहीं मिलता। वैश्याएं हमेशा निर्लज्ज और धन की सगी होती हैं। जब धन से उनका मुंह नहीं भरा जाता तब वे भूखी सिंहनी की तरह चिढ़ कर मनुष्य का तिरस्कार करती हैं। इस तरह कामी मनुष्य उनसे भी भ्रष्ट होता है और वैश्यागामी होने से अपनी स्त्री का भी उस पर अधिक स्नेह नहीं रहता। वैश्यागामी मनुष्य कांता, कांचन और कीर्ति इत्यादि से भ्रष्ट होजाता है और अंत में पाप का बोझ अपने सिर पर लादता है। यह व्यसन इतना भयङ्कर है कि अन्य वस्तुओं के साथ मनुष्य की देह का भी जल्द ही अन्त कर डालता है सुभापितकार ने सच ही कहा है कि:—

> ध्यान शस्त्रं वकानां च वैश्यानां मोह शस्त्रकम्।
> साधुत्वं शस्त्रमैन्दानां पर प्राणार्थ हारकम्॥

अर्थात्—वकों (बुगुलों) का शस्त्र ध्यान है, वैश्याओं का शस्त्र मोह है, और असुरों का शस्त्र साधुत्व है। ये शस्त्र दूसरों के प्राण और धन के नाश करने वाले हैं ॥१२०॥

[वैश्यागमन से होती हुई हानियों का विवेचन नीचे के श्लोक में किया है]।

वेश्या संगति परिणामः ।१२१।

> वेश्या सङ्गतितो विनश्यति यशो नृणां प्रतिष्टावतां।
> लज्जापि प्रविलीयते तनुबलं स्वास्थ्यञ्च संक्षीयते॥
> मानख्याति धनं प्रणश्यति तथा प्राणैश्च सन्त्यज्यते।
> धर्मोध्वंस मुपैति नश्यति नयस्तस्मादसौ हीयताम्॥

वेश्या संगति का फल।

भावार्थः—वेश्या की संगति से अपार प्रतिष्ठावाले मनुष्यों की प्रतिष्ठा का भंग और कीर्ति का विनाश होता है। उनकी इज्जत पर पानी फिर जाता है। उपदंश, प्रमेह जैसे रोग में ग्रस्त हो जाने से शरीर की आरोग्यता और बल क्षीण हो जाता है। धन, माल, का नाश हो जाता है। वेश्या की संगति करने वाले व्यभिचारी मनुष्यों की प्रतीति और विश्वास नहीं रहता। उनके धर्म कर्म का ध्वंश हो जाता है। वे नीति से बिलकुल भ्रष्ट हो जाते हैं इसलिये अपनी भलाई चाहने वालों को तो कभी भी वेश्याओं का सहवास नहीं करना चाहिये॥ १२१॥

विवेचनः—इस श्लोक में वेश्या की संगति से उत्पन्न होते हुए सामान्य बुरे परिणामों का दिग्दर्शन किया है। वेश्या का संग करने वाले हमेशा इन्द्रियों के दास बनकर अपने अंतःकरण को क्षय कर बैठते हैं। इसलिये ऐसे विषयासक्त बिना अंतःकरण वाले मनुष्यों की कीर्ति का विनाश होना स्वाभाविक ही है। कीर्ति के साथ आरोग्यता और धन का भी नाश होता है। वेश्या 'अनेक भर्तृका' होती हैं और अनेक पुरुषों के भोग से वह अनेक रोगों में लिप्त हुई रहती हैं। ऐसी स्त्री के सेवन से निरोगी मनुष्य भी रोगी होजाय तो कुछ आश्चर्य नहीं। वेश्याएं प्रेम से अधिक पुरुषों का सेवन नहीं करतीं, हां, वे अपने प्रत्येक यार को अपना प्रेम दिखाती हैं परन्तु यथार्थ में वे धन के लिये यह धंधा करनेवाली कुलटाएं हैं। और यही कारण है कि उनके यार को उन्हें बार २ धन से संतुष्ट करना पड़ता है। इस तरह वेश्या के संग से कीर्ति आरोग्य और धर्म तथा उसके साथ नीति और प्रतीति का भी विध्वंस हो जाता है। किसी भी अवस्था में मनुष्य को

ऐसी कुलटाओं का संग न करना चाहिये। परन्तु यह उपदेश खास करके विद्यार्थियों को देने की आवश्यकता इतनी ही है कि वे युवावस्था में कदम रखने ही वाले हैं, कम अनुभवी हैं तथा उनकी बुद्धि अपरिपक्व होने से दुर्व्यसन के जाल में फंस जाने का उनका विशेष डर रहता है॥ १२१॥

चतुर्दश परिच्छेद।

व्यसन निषेध-पर स्त्री गमन।

परदारा गमन परिहारः ॥१२२॥

वैश्या वत्परकीयदारगमनं शास्त्रे निषिद्धं भृशं।
यस्मात्तद्वितनोति दुःखमनिशं मानप्रतिष्ठापहम्॥
शुद्धे चापि कुले कलङ्क निकरं विस्तारयत्यञ्जसा।
वैरं वर्द्धयते भयं च कुरुते हन्त्यात्मनः सद्गतिम्॥

परस्त्री गमन का त्याग।

भावार्थः—वैश्यागमन की तरह परस्त्री गमन भी एक अधम व्यसन है इसलिये शास्त्रकार ने विशेष ज़ोर देकर इस व्यसन को महापातक का कारण समझ कर उसका निषेध किया है क्योंकि वह प्रत्यक्ष में ही अनेक संकटों को जन्म देता है। नियमित रीति से इच्छा पूर्ण न होने के कारण मन में अनेक चिंताएं उत्पन्न होती हैं शरीर क्षीण हो जाता है और शुद्ध कुल में अनेक कलंक लगते हैं। उसकी इज्जत कम होती है। इतना ही नहीं, परन्तु जिस कुटुम्ब की

स्त्री के मोह में वह लिपटता है इससे समस्त कुटुम्ब के साथ उसका वैर हो जाता है और उस कुटुम्ब के सब मनुष्य उस दुष्ट दुराचारी मनुष्य को मारने का अवसर ढूंढा करते हैं। अर्थात् व्यभिचारी को चारों ओर से भय रहता है और मौका पाकर कभी २ मृत्यु तक हो जाती है। वह मनुष्य उस भाव से हारकर दुर्गति में भ्रमण करता फिरता है और उस की पापी आत्मा पाप का बदला वहां भुगतती है, इसलिये ऐसे बद काम से हमेशा अलग रहना चाहिये। १२२।

विवेचनः—वेश्यागमन और परस्त्री गमन दोनों एक से पाप के कार्य हैं कारण कि पुरुप का अपनी स्त्री से असंतुष्ट रह कर विपरीत मार्ग में जाना सर्वथा व्यभिचार कहलाता है। दोनों प्रकार के पापों का रहस्य एक सा होने पर भी परस्त्री गमन में फंसे हुओं के सिर पर कितनाही अधिक भय लगा रहता है। प्रत्येक पुरुप चाहे जैसा दुराचारी हो; तो भी उस की स्त्री शीलवती सती जैसी व्यवहार करने वाली हो वह ऐसी इच्छा रखता है और इसलिये जो परपुरूप की स्त्री के साथ कोई दुराचार सेवन करता है तो वह अपनी स्त्री की दुष्टता जिस समय समझ जाता है तब वह अपनी स्त्री पर तथा उस पर पुरुप पर एकसा क्रुद्ध हो जाता है और दोनों की या दो में से एक की हत्या करने को तैयार हो जाता है। इस तरह का भय कई वार सत्य भी निकला है। कहा है कि:—

परदारा न गंतव्या पुरुषेण विपश्चिता।
यतो भवन्ति दुःखानि नृणां नास्त्यत्र संशयः॥

अर्थात्:—बुद्धिमान पुरुषों को परस्त्री के साथ गमन नहीं करना चाहिये क्योंकि इस से दुःख उत्पन्न होते हैं इसमें कुछ भी शक नहीं है। कई मनुष्य ऐसा समझते हैं कि अपना कार्य यदि प्रसिद्ध ही न होगा तो अपनी इज्जत या

जीवन किसी दुःख में ही क्यों पड़ेगा ? परन्तु यह समझ अज्ञानांधता की है। कहा है कि—रहसि रचित मेतज्जार कर्मात्र नीचैः लशुनमिव सुभुक्तं याति लोके प्रसिद्धिम्॥ अर्थात् नीच मनुष्यों का एकान्त में किया हुआ जार कर्म, खाये हुए लहसन की तरह लोगों में प्रसिद्ध हुए विना नहीं रहता। इस पर से सज्जनों को हमेशा इस मार्ग से दूर रहना चाहिये और यही उनके धर्म, कीर्ति और आरोग्यता की रक्षा के लिये योग्य है। परस्त्री में लिप्त हुए मनुष्य अपना सर्वस्व खोकर संसार से घृणित हुए हैं जिनके अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत हैं। तस्मात्कदापि परदाररतिं न कुर्यात्॥ १२२॥

[अब परदारा के सेवन से जिनकी खुवारी हुई उसके कुछ दृष्टान्त देते हैं।]

परदारागमन परिणामः॥ १२३॥

हा नष्टः सह लंकया जितबलः सीतारतो रावणो।
द्रौपद्या हरणेन दुःखमधिकं प्राप्तश्च पद्मोत्तरः॥
भ्रातृ स्त्रीनिरतो मृतो मणि रथो हत्वा निजं भ्रातर-
मन्यस्त्री रमणोद्यता हतनया ध्वस्ता महान्तो न के॥

परदारा गमन का फल।

भावार्थ और विवेचनः—राक्षस कुल का अग्रसर रावण कि जो एक महान बलवान् राजा था परन्तु वह रामचन्द्र जी की पत्नी सती सीता पर मोहित होगया और विषयांध बन अविचार में पग भरने लगा। तो थोड़े ही समय में वह राम और लक्ष्मण जी के हाथ से लङ्का नगरी के साथ अपने प्राण खो कर दुर्गति में चला गया। द्रौपदी का हरण करने से धातकी खंड का पद्मोत्तर राजा कृष्ण बलदेव के हाथ से अति दुःख

पाया। युगवाहु की स्त्री मदनरेखा पर मोहित हुए मणिरथ राजा ने विषयांध बन अपने भाई युगवाहु को मार डाला और मदनरेखा को लेने जाता था कि रास्ते में आप खुद ही मर गया और मनुष्य जन्म खो दिया। ऐसे तो शास्त्रों में अनेक दृष्टान्त हैं। जो नीति और सदाचार को एक ओर रख परस्त्री के प्रेम में और उसके साथ भोग भोगने में लिपटे उनमें से कौन कौन से मनुष्य (चाहे वे कितने हीं वड़े क्यों न हों) पूर्ण नाश नहीं पाये ? इस तरह रावण, पद्मोतर, मणिरथ ऐसे वड़े बड़े राजा पराई स्त्री की अभिलाषा में नष्ट होगये तो सामान्य मनुष्य इहलोक और परलोक की समस्त कमाई गुमाकर अधोगति में चले जायँ; इसमें क्या आश्चर्य है? इसलिये स्वप्न में भी परस्त्री की वांच्छा न रखना ही योग्य है और यही सब पुरुषों के लिये हित कर मार्ग है और स्त्रियों के लिये परपुरुष की इच्छा न रखना हित का मार्ग है॥ १२३॥

पंचदश परिच्छेद।

व्यसन निषेध-चोरी और शिकार।

चौर्यम्॥ १२४॥

निर्मूल्यं वहुमूल्य मल्पमधिकं वस्त्वन्यदीयं भवे—
देकान्ते पतितं क्वचित्तदपि नो ग्राह्यं विना सम्मतिम्॥
ज्ञय प्रस्तर वत्सदा परधनं नोचेन्महानर्थदं।
नैष्ठ्यं मनसापि तस्करतया श्रेयाऽर्थिभिस्तत्सदा।

चोरी ।

भावार्थः—राजमार्ग पर या खानगी स्थल पर किसी की कोई चीज पड़ी हो और वह चीज क़ीमती हो या न हो थोड़ी हो या ज़्यादा, वहां किसी मनुष्य की दृष्टि पड़ती हो या न पड़ती हो तथापि वह दूसरे की वस्तु मालिक की सम्पति बिना कभी भी लेने की इच्छा न रखना । पराया धन या पराई वस्तु चाहे जितनी उत्तम हो तथापि उसे चतुर मनुष्यों को पत्थर के समान गिनना चाहिये । हराम का माल खाने की वृत्ति स्वप्न में भी न रखना । जिस पर अपना हक़ न हो ऐसी वस्तु चोर की बुद्धि से लेने, या दूसरे ने चोरी की और वह देता हो तो उसे मंजूर करने के लिये अपने हित चाहने वालों को कभी नहीं ललचाना और उसके पाने का संकल्प भी न करना । कदाचित् भूल से किसी की वस्तु आगई हो तो उसके स्वामी की तलाश कर उसे वह वस्तु दे देना परंतु घर में नहीं रखना चाहिये । १२४ ।

विवेचनः—सप्त व्यसन में 'चोरी' यह भी एक व्यसन है कारण कि जिनको यह व्यसन लग गया है वे कितनी ही सजा पाने पर भी चोरी करना नहीं त्यागते। निर्जीव या मूल्यवान कोई भी वस्तु बिना मालिक की परवानगी के लेना अथवा उस चीज़ पर नीति से अपना कोई हक़ न पहुंचता हो तो भी ले लेना 'चोरी' ही कहलाती है । कई बार कितनेही मनुष्य रास्ते में पड़ी हुई चीजें बिना मालिक की समझ कर उठा लेने में चोरी का कार्य किया ऐसा नहीं मानते परंतु प्रायः वह भी चोरी है । सरकार ने भी उसे कायदे में चोरी ठहराई है और बिना मालिक की वस्तु मालूम हो तो उसे सरकार के कब्ज़े में सुपुर्द करने की आज्ञा फरमाई है । इस सबब से चतुर

मनुष्यों को चाहिये कि वे सब पर धन को जो अपनी मिहनत से प्राप्त न हुआ हो वरन अनीतिमान-युक्ति प्रयुक्ति से प्राप्त किया हो पत्थर के समान गिनें और उसे प्राप्त करने की इच्छा न रक्खें। यहां एक बात पर खास ध्यान देना चाहिये। 'चोरी' की सामान्य व्याख्या में जो कुछ अपूर्णता रहती है उसे ग्रंथकारने इस श्लोक में 'तस्करधिया' यह शब्द उपयोग में लाकर उसे पूरी कर दी है। जो वस्तु चोरी करने की बुद्धि से उठाई हो तो वह कार्य 'चोरी' कहलाता है और स्वामी की विना आज्ञा से भी चोरी करने की अनिच्छा से निर्दोष मन कर कुछ कीमती वस्तु भी ली हो तो वह चोरी नहीं कहलाती। कोई एक पुस्तक एक मित्र दूसरे मित्र के घर जाकर विना परवानगी पढ़नें के लिये ले आवे और ऐसा करने में उसका इरादा अपने स्वार्थ साधन का या अपने मित्र को हानि पहुँचाने का बिलकुल न हो तो वह कार्य 'चोर बुद्धि' से नहीं किया है, इसलिये वह चोरी करना नहीं कहलाता। यह सूक्ष्म भेद सज्जन पुरुषों के लिये है—चोरी करने पर भी अपने को निर्दोष साबित करनेवाले के लिये कुछ भी नहीं।

चोरी का व्यसन प्रायः कम उम्र से ही बालकों को लग जाता है बालवय में छोटी २ चोरी करनेवाले बालक बड़े होने पर बड़े चोर पक्के हो जाते हैं। इसलिये चोरी की दुष्प्रवृत्ति से विद्यार्थियों को बाल्य काल से बचाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। बालकों की छोटी २ चोरियों की फिक्र न करने से बड़े होने पर उनका परिणाम कैसा बुरा होता है यह दिखाने के लिये यहां एक दृष्टांत देंगे। एक बालक बाल-वय में अपने पड़ोसी के यहां से कुछ छोटी २ वस्तुएं और खिलौने चुरा लाता था और वह अपनी मां को दे देता था। उसकी मां अपने घरमें ऐसी चीजें अनायास ही आती हुई

देखकर राजी होती और बालक को कुछ नहीं कहती थी। दिन २ उस बालक की चोरी की आदत बढ़ने लगी और जैसे-जैसे वह बड़ा होने लगा बड़ी २ और कीमती वस्तुओं की चोरी करना सीखने लगा। पाठशाला में से अपने सहाध्यायियों की पुस्तकें या दूसरी कुछ भी वस्तु चुरा लेना तो उसके लिये स्वाभाविक काम था। बालक की इस आदत से भावी नुकसान अभी तक माता की समझ में न आया। जब वह लड़का बड़ा हुआ तो बड़ा चोर बन गया। घर फोड़ कर चोरी करने के कार्य में वह चतुर हो गया और कई बार पकड़ा जा कर क़ैद में भी गया। एक समय किसी एक धनवान के घर में रात को चोरी करने के लिये घुसा। घर में एक नौकर जाग रहा था वह चोर के सामने आया। चोरने उस नौकर को अपने हथियार से ऐसे जोर से पीटा कि वह मर गया परंतु घर के सब मनुष्य जाग उठे और चोर को पकड़ लिया। न्याय की कचहरी में वह खून करने तथा चोरी करने के लिये दूसरे के घर में घुसने के अपराध में अपराधी ठहरा और उसे फांसी की सज़ा मिली। उसी समय वह शूली के स्थान पर पहुंचाया गया उस समय कायदे के अनुसार उसे पूछा कि "तू क्या चाहता है?" इसके उत्तर में चोर ने कहा मुझे मेरी माता के साथ थोड़ी बात चीत करना है। चोर की मां को उसके पास बुला ली और वह अपने लड़के की ऐसी दशा देखकर रोने लगी चोर ने कहा 'मां! तू मुझ पर बहुत प्रेम रखती थी इसलिये तू तेरी जीभ मेरे मुँह में रख तो मेरी सद्गति हो' माता ने अपनी जीभ अपने पुत्र के मुँह में डाली तो जल्द ही पुत्रने मां की जीभ को काट डाली और कहा 'मां! मैं जब बाल वय में छोटी २ चोरियां करता था, तब तेरी यह जीभ मुझे शिक्षा देकर ऐसे कार्य करने से रोकती

ता मैं बड़ा चोर नहीं बनता और मेरी यह दशा नहीं होती, इसलिये मेरी मौत लाने वाली तू और तेरी जीभ है और यही कारण है कि मैं तेरी जीभ को ऐसी सजा देता हूँ" ऐसा कहकर वह फांसी पर चढ़कर मर गया। सारांश यह है कि बचपन से माता पिता अपने बालकों को छोटी २ चोरी करने से नहीं रोकते वे बालक भविष्य में चोरी के पक्के व्यसनी बन जाते हैं। (१२४)

[सातवां व्यसन शिकार है जिसका निषेध नीचे के श्लोक में उपदेश कर दिया है]

मृगया।

निर्वैरा निवसन्ति ये मृगगणा रम्ये महा कानने।
तेषां प्राण हरा किलास्ति मृगया क्रीड़ा कथं सा भवेत्।
यत्रैकस्य महाव्यथा भवति तच्चान्यस्य किं कौतुकं॥
नृणां तद्व्यसनं कथं समुचितं प्राणि व्यथा कारकम्॥

शिकार।

भावार्थः—मृग, रोझ जैसे दीन पशु जो कि किसी को हानि नहीं पहुंचाते ; जङ्गल में निर्दोष क्रीड़ा करते हैं और अपने बाल बच्चों के साथ घास खाते और आनन्द में रहते हैं मृगया शिकार का व्यसन बिना ही अपराध के उनका प्राण हर लेता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि कितने ही क्रूर मनुष्य ऐसे घातकी व्यसन को अपनी खेल क्रीड़ा की वस्तु समझते हैं। अरे मनुष्यों ! तुम्हे उत्तम बुद्धि मिली है, उसका उपयोग निर्दोष प्राणियों की जान लेने वाली क्रूर चेष्टाओं या खेल में ही करोगे ? अरे ! जिससे पशु और पक्षियों को महा

कष्ट होता है और उनकी मृत्यु होती है ऐसी क्रीड़ा को तुम खेल या क्रीड़ा समझो, क्या यह उचित है ? निर्दोष प्राणियों को दुख पहुंचानेवाला ऐसा क्रीड़ा रूप व्यसन धारण करना क्या मनुष्य जाति को योग्य है ? नहीं ॥ १२५ ॥

विवेचनः—मृग या अर्थात् मृगादि वनचरों के पीछे २ दौड़कर पकड़ना उसे वास्तविक मृगया कहते परन्तु आजकल तो मृग के पीछे बिना ही दौड़े दूर से गोली धुनक कर उनके प्राण हर लेना मृगया समझा जाता है और इसलिये वर्तमान मृगया में 'शिकार' का भी समावेश होजाता है। जो राजा महाराजा अमलदार या हलके, कोली, वागरी लोग शिकार के व्यसन में लिप्त हैं उन्हें इसमें एक लज़्ज़त सी मालूम होती है। सृष्टि सौन्दर्य के सम्पत्ति रूप निर्दोष वनचरों को यदि मार डाले जायँ तो यह का कुदरत को 'बाँझ' करने के समान है। इतनाही नहीं परन्तु एक परम दारुण घातकता है। वनचर-पशु-पक्षियों का शिकार करना यह एक पाप है उसी तरह कुदरत की सौंदर्यता का विनाश करना भी अनर्थ है। हिन्दुस्तान, यूरोप, अमेरिका इत्यादि बड़े देशों के जङ्गलों में हजारों या लाखों किस्म के विचित्र विचित्र जानवर वगैरः पशु पक्षी हैं। शिकारी लोग अपनी क्रीड़ा के कारण इन निर्दोष प्राणियों की अधिकता से घात करते हैं जिससे अनेक जाति के पशु पक्षियों का वंश तो जड़ से विच्छेद हो गया है। सृष्टि सौन्दर्य की इस सम्पत्ति का इस तरह विनाश हो, यह ध्यान में लाकर हिन्दुस्तानी एवं देश परदेश की सरकार ने कितने ही जङ्गलों में किसी को शिकार न करने देने का क़ायदा बनाया है। निर्दोष प्राणियों के प्राण लेकर खुश होना यह अमानुषीयत्व है। मनुष्य को बुद्धि और विचार शक्ति प्राप्त है इसलिये वे पशुओं से अत्युत्तम गिने जाते हैं। बुद्धि और विचारशक्ति के संयोग

से मनुष्य को दूसरों का दुख देख कर हृदय में दुखी होना ही चाहिये। थोम्सन कहते हैं कि—

The generous heart should scorn a pleasure which gives others pain.

अर्थात्—जिस खेल से दूसरों का दुख पहुंचता है। उस खेल को उदार अंतःकरणवालों को धिक्कार देना चाहिये। सारांश यह है कि शिकार का व्यसन मनुष्यों को शोभा नहीं देता, इसलिये जो इस व्यसन के व्यसनी हैं वे 'मनुष्य' शब्द को सार्थक करनेवाले मनुष्य नहीं है॥ १२५॥

षोड़श परिच्छेद।

व्यसन निषेध-उपव्यसन।

[सप्त व्यसन सम्बन्धी विवेचन समाप्त हुआ और यह दिखाया कि ये व्यसन विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त हानिकारक हैं अब 'मद्य पान' के मिश्र रूप गिनाते अफीम, गांजा, चरस, तमाखू आदि उपव्यसनों के विषय की विवेचना की जाती है]।

अहिफेनम्। १२६। १२७। १२८।

स्रस्तं गात्र मिदं गतिं न सहते स्थातुं च नोत्कण्ठते।
शुष्के मांसवसे वलं विगलितं नेत्रे च निद्रा परे॥
भो किं रोगसमुद्भवा स्थितिरियं मित्रास्ति रोगो न मे।
किन्त्वाफूकवशाद्दशेयमधुना जज्ञे विषादप्रदा॥
मा खिद्यस्व सखे दशां मम शृणुत्वत्तो विशिष्टामिमां।
देहे दुर्बलतादि कच यदिदं तत्तु स्वयं पश्यसि॥

आसन् भूरिफला भुवो बहुधनं स्वीाद संपच्च मे ।
तत्सर्वं त्वहिफेनतोव्यपगतं नान्नं गृहे लभ्यत ॥
एतस्याभ्यसनं कृतंबहु मया सौख्याशया मत्युत ।
प्राप्त दुःख मनेक धाऽभिलाषितं सौख्यं तु दूरे गतम् ॥
तत्यागाभिरुचिर्भवत्यपि पुनस्त्यक्तुं न तच्छक्यत ।
यत्पूर्वं न विचिन्तितं फलमिदं तस्यैव नीचैस्तराम् ॥

अफीम ।

भावार्थः—(दो मित्रों का परस्पर में संवाद) ।

प्रथम मित्रः—अरे मित्र ! तेरा शरीर इतना क्षीण होगया है, बैठने, उठने, या चलने की शक्ति भी दिखाई नहीं देती । मांस और चरबी सूख गई, शरीर का बल क्षीण हो गया, आंखों में निद्रा भरी है और बैठे २ भी झोंके खाता है तो क्या तुझे किसी प्रकार का रोग है और उसी के कारण तेरी यह स्थिति हुई है ?

दूसरा मित्रः—नहीं २ रोग तो कुछ नहीं परन्तु अफीम की आदत है जिससे मेरा शरीर इस हालत में आ पहुंचा है प्रारम्भ में तो मैंने शौक से अफीम लेना प्रारम्भ किया था और अब तो मेरी यह दशा देख मुझे ही अत्यन्त पश्चा-ताप होता है । परन्तु पड़ी हुई आदत अब कैसे छूट सकती है ? (१२६)

प्रथम—हे सखे ! तू दुःख क्यों करता है ? मेरी ओर तो देख । पश्चात्ताप करने जैसी मेरी हालत है या तेरी ? तेरे शरीर में दुर्बलता क्षीणता आलस्य रक्त मांस की न्यूनता, चेहरे पर फिक्कास इत्यादि जो २ त्रुटिएं दिखाई देती हैं उससे भी अधिक मेरे शरीर में दुर्बलता और क्षीणता है वह तू देख

ही रहा है। यहां विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। हे मित्र ! मेरी क्षीणता के सम्बन्ध में अधिक शोचनीय स्थिति तो आर्थिक विषय की है। जब मुझे अफीम की आदत न लगी थी तब मेरे पास बहुत पैसा था परन्तु जब से अफीम की कुटेव लगी तब से आलस्य से निरुद्यम होकर और खर्च में सब खो दिया—पैसा चला गया और मकान भी गहने रख दिया। आज अन्न के भी फाके पड़ रहे हैं। यह सब प्रभाव अफीम ही का है। बोल अब तेरा फिक्र करूं या मेरा ? (१२७)

हे प्रिय सखे ! तनन्दुरुस्ती और सुख की आशा रख कर अफीम खाने की आदत पड़ती थी, परन्तु परिणाम विपरीत ही हुआ। शरीर और पैसे दोनों का नाश किया और अत्यन्त दुःख पैदा कर लिया। सुख तो कोसों दूर भाग गया, अब इसे छोड़ने की प्रबल इच्छा होती है परन्तु यह ऐसी लिपट गयी है कि छोड़े भी नहीं छूटती। अफीम ने अपने को पूर्ण परवश कर दिये। पश्चाताप तो बहुत होता है परन्तु किस काम का ? प्रथम ही विचार न किया अगर करते तो ऐसा परिणाम क्यों होता ? यही बड़ी भारी मूर्खता है और इस मूर्खता के लिये जितना पश्चात्ताप किया जाय थोड़ा है। १२८।

विवेचनः—इन अफीमची मित्रों के संवाद द्वारा इन तीनों श्लोकों में अफीम के व्यसन से होती हुई हानि का चित्र खींचा अफीम खाने वाले तन, मन, और धन से ख्वार नष्ट हो जाते हैं और अंत में उस ख्वारी का जब अपनी ही आंखों से दर्शन करते हैं, सो पश्चात्ताप रूपी अतल में अपनी देह जलाने लगते हैं। यह ग्रंथ कारने स्पष्ट दिखा दिया है। अफीम का व्यसन भी दूसरे व्यसनों की तरह सहवासियों और मित्रों द्वारा लग जाता है। प्रारंभ में तो मुफ़्त में अफीम खिलाने वाले कई मिल-जाते हैं उस समय वह मुफ़्त का माल अधिक खराब नहीं

लगता परन्तु फिर अफीम के व्यसन का गांठ से पैसे खर्च कर भी पोषण करना ही पड़ता है अहिफेन प्रमुखाश्च जन-माहकरा. सदा अर्थात् अफीम इत्यादि नशीली वस्तुएं मनुष्य को मोह में फंसाने वाली हैं। व्यसन दूसरों के मोह के लिये खाने लगे परन्तु पीछे से अपने अफीमची मित्रों को अफीम मुफ़्त खिलाना पड़ता है क्योंकि उन्होंने पहिले मुफ़्त में खिलाई है और यही कारण है कि धन का नाश भी होता है। अफीम में जो व्याप्त विष है वह शरीर में रहे हुए ज्ञान तुओं को क्षणिक उत्तेजन देने वाला है और इसी से जब नशा चढ़ता है तब सारे शरीर में कृत्रिम जोश आजाता है परन्तु जब नशा उतर जाता है तब शरीर बिलकुल अशक्त बन जाता है। गीरा-सिये राजपूत और चारणादि अफीमची बिलकुल फीके और बल हीन हुए क्या देखने में नहीं आये ? अफीमची सिर्फ़ नशे में ही लिप्त रहने से वे अपनी सम्पत्ति की भी बराबर देखरेख नहीं कर सके जिस से वे अपनी आमदनी का नाश कर डालते है और खर्च के अधिक होने से दरिद्री होकर नष्ट हो जाते हैं।

राजपुताना गुजरात और काठियावाड़ के अनेक राजा अफीम के व्यसन से नष्ट हो गए है, अफीम का व्यसनी जब चारों ओर से घिर जाता है तब उसकी आंखे उघड़ती हैं परंतु उस समय अति विलम्ब हो जाता है जिस से वह आदत नहीं छूट सकी। और पश्चात्ताप से हृदय जला करता है। बाल वय में सिर्फ थोड़ी २ अफीम अफीमची मित्रों के साथ खाते समय ऐसी दुर्दशा का स्वप्न में भी भान नहीं रहता-जब ऐसी दशा हो जाती है तब अफीमची अपने दोष को एक तृण का मेरू बनगया ऐसा देखता है। एक अंग्रेज़ कविने सत्य कहा है किः—

A little Tis a little ward,
But much may in it dwell,

अर्थात्:—थोड़ा एक बहुत छोटा शब्द है परन्तु जब थोड़े से बहुत बन जाता है तब थोड़े में समाया हुआ बहुत नज़र आता है। इस तरह जो युवा युवावस्था से ही थोड़ी अफीम खाने लगते हैं वे भविष्य में बड़े अफीमची बन जाते हैं और अपने तन, मन, धन की ख्वारी कर डालते हैं।

यहां एक अफीमची का दृष्टांत अप्रासंगिक न होगा। एक राजपूत ठाकुर को अपनी चढ़ती हुई जवानी के दिनों से ही अफीम खाने की आदत लग गई उस के हज़ारों रुपये की आमद थी, इस लिये उस समय बारह महीने में दोसौ पांचसौ रुपये की अफीम का खर्च किसी गिनती में न था। ठाकुर जब घोड़े पर चढ़कर परगांव जाने लगते तब उस समय उनके अफीमची मित्र कुसुंम्बा तैयार करते और उसे पिलाते। ऐसे दृश्य कई बार होते रहने से ठाकुर साहब को घोड़े पर बैठ कर अफीम पीने की आदत लग गई। यदि घोड़े पर चढ़ कर घोड़े की लगाम हाथ में ले, खुंखारा कर अफीम न पिया जाय तो अफीम का नशा न चढ़े और फिर दूसरे वक्त कुसुम्बा पीने का मौका न आवे। जब तक ठाकुर की आर्थिक स्थिति ठीक रही तब तक तो यह सब कार्य होता रहा। परन्तु पीछे से जब आप कर्ज़दार बन गए; आमदनी कम हो गई; सरकार की जप्ती आ गई और बड़े संकट का समय आ गया तब भी अफीम की आदत न छूटी। उनके अफीमची मित्र भी उन्हें ऐसी हालत में छोड़कर भाग गए। कुसुम्बा तैयार कर पिलाने वाला कोई नौकर चाकर या सवारी करने के लिये घोड़ा भी न रहा। वृद्धावस्था में यह दुःख बहुत असह्य था परन्तु लगा हुआ व्यसन कैसे छूट सकता है ? फिर बिचारा ठाकुर अपने हाथ से कुसुम्बा तैयार करता और वह करोटी अपनी स्त्री के हाथ में देता आप एक

लकड़ी के घोड़े पर सवार होता और लगाम पकड़ खुंखारा कर 'चल बेटा' कह घोड़ेको पड़ी मारता और कुल्लुम्बा अपनी स्त्री के हाथ से लेकर पीता तब ठाकुर को अफीम का नशा चढ़ता। ठाकुर को उस समय बहुत पश्चाताप होता कि युवावस्था से ही व्यसन न लगाता तो अच्छा था परन्तु समय बीत जाने पर अरण्य रुदन से क्या फायदा होता है? (१२६-१२७-१२८)

एतस्माद्विद्यार्थिभिर्ग्राह्यो बोधः। १२९।

श्रुत्वैतद्व्यसनं विनाशसदनं दृष्ट्वैतदीयां चतिं।
किं वांच्छेत्कुशलो हि दुःख जनकं स्वीकर्तुमेतत्स्वम्॥
ज्ञात्वाप्येवमिदं समाश्रयति यो नीचः परं दुर्मति।
र्शकृत्या स नरोपि दुर्भगजनिर्ज्ञेयः खरः पामरः॥

विद्यार्थियों के ग्रहण करने योग्य उपदेश।

भावार्थ तथा विवेचनः—हे विद्यार्थियो! उपरोक्त संवाद से अफीम की खराबी और उसका दुष्ट परिणाम तुम्हारे ख्याल में आया होगा। अरे! अफीम की खराबी इससे भी अधिक है। अफीमची मनुष्य बिलकुल परवश हो धर्म और कर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इसकी आदत लगने से वह फिर मृत्यु पर्यन्त नहीं छूटती है। ऐसे अफीम के भयंकर परिणाम सुन कर अथवा प्रत्यक्ष देखकर कोई भी चतुर मनुष्य अफीम के व्यसन की आदत डालने की इच्छा करेगा? ऐसी भयंकरता समझ लेने पर भी कदाचित् कोई कुमति के कारण कुटेव से अफीम खाने की आदत के वश हो जाय तो समझना चाहिये कि यह अभागी मनुष्य है और यह पामर-पशु से भी अधिक तुच्छ है। उसे नर नहीं; खरही समझना चाहिये। अफीम की

आदत बालवय से ही लग जाने से या कई समय माताएं बालकों को बाल्यकाल से ही अफीम के व्यसनी बना देने के कारण तथा बड़े होने पर भी यह आदत प्रारम्भ रहने के हेतु विद्यार्थियों को इस अफीम से बहुत ही होशियार रह के चलना चाहिये। जिन्होंने विना ढंग के वस्त्र पहिन कर झोंगे खाते तथा कमरसे झुके हुए वृद्ध गोरासिये, राजपूत या अन्य अफीमचियों को देखे हैं, वे सरलता से समझ सकते हैं कि अफीमचियों की बुद्धि हीन हो जाती है और वे पशुवत् अपना जीवन बिताते हैं (१२३)।

[बीड़ी पीना, तम्बाकू खाना, इत्यादि व्यसनों में कई विद्यार्थी बाल वय से ही फंस जाते हैं। विद्यार्थी अवस्था की खराबी के मूल यही व्यसन हैं और इसलिये इन व्यसनों से दूर रहने का सविस्तर उपदेश ग्रन्थकार अब देते हैं]

तमाखुः । १३० ।

कास श्वास विवर्द्धको विषमयो दुर्गन्धभारोत्कट।
अक्षुरोग विधायकोऽपि च शिरो भ्रम्याद्यनर्थावहः॥
द्रव्यापव्ययकारकश्च हृदये मालिन्यसम्पादकः।
श्रेयः कार्यविघातको हितधिया त्याज्यस्तमाखुः सदा॥

तम्बाकू का त्याग।

भावार्थः—तम्बाकू का व्यसन भी कुछ कम भयङ्कर नहीं। उसमें एक जात का विषेला तत्व रहता है, जिससे उसके पीने वाले कितने ही मृत्यु तक को प्राप्त होते हैं। इसकी गंध तक अच्छी नहीं, खाने वाले के मुंह हमेशा दुर्गन्ध देते रहते हैं। कितने ही को इससे उर्द्ध श्वास का रोग हो जाता है और वह जड़ पकड़ लेता है। कितने ही को आंख का दर्द लग जाता है, मगज़ फिरा करता है और मन भी एक

स्थान पर स्थिर नहीं रहता। पैसे का अपव्यय होता है तो भी इससे पेट नहीं भरता; और न कोई दूसरा लाभ होता है। हृदय में और मस्तिष्क में खराब दाग पड़ जाते हैं जिससे धर्म और विचार शुद्धि को बड़ा धक्का पहुंचता है। तिस पर भी मनुष्यों का मन रात दिन उसी में ही लगा रहता है, जिससे धर्म परमार्थ या श्रेय के मार्ग में बाधा उपस्थित होती है। इस तरह तमाखू में अनेक दोष भरे हैं, इसलिये हितचिन्तक विद्यार्थियों को अपने हित के वास्ते तमाखू के व्यसन से हमेशा दूर रहना चाहिये। १३०।

विवेचनः—तमाखू या तम्बाकू यह एक वनस्पति है और इसका उपयोग तीन प्रकार से होता है। (१) खाने में, (२) पीने में, (३) और सूंघने में, तम्बाकू को उपयोग में लाने वाले उसके बहुत गुण गाते हैं परन्तु यह हानिकारक है। मी० पारन नाम के एक अंग्रेज़ लेखक कहते हैं कि तमाखू में एक जात का नशा है, यह नशा शरीर के स्नायुओं को हमेशा निर्बल बनाता रहता है। तम्बाकू में 'नीकोटाइन' नाम का एक प्रकार का विष है और रसायन शास्त्रियों ने ऐसा सिद्ध किया है कि उस विष मात्र की बूंद जो सर्प जैसे विषैले प्राणियों के जीभ पर डाली जाय तो वह तत्काल मर जाता है। जो विष सर्प जैसे विषधारी प्राणी को मारने में समर्थ है उस विष की विषैली तमाखू के खाने पीने या सूंघने से शरीर का रुधिर जहरी बने; इसमें क्या नवीनता है? तम्बाकू खाने वाले; यह अजीर्ण विकार को मिटाने में अकसीर है" ऐसी दलील करते हैं और सूंघने वाले मस्तक के रोग मिटाने में इसे अकसीर गिनते हैं परन्तु अनुभवों से यह सिद्ध हुआ है कि तम्बाकू पीने वालों की आंख में इसका धुंआ जाने से नुकसान होता है। उनके कलेजेमें चादी (घाव) पड़ जाता है और जिससे क्षय

रोग उत्पन्न हो जाता है। हुक्का पीने वाले के देर से और बीड़ी पीनेवाले के जल्दी और चिलम पीने वाले के उससे भी जल्दी हृदय पर दाब पड़ जाता है। और वे रोग से घिर जाते हैं ? तम्बाकू खानेवाले के दांत सबसे जल्दी अशक्त हो जाते हैं तथा इसका रस पेट में उतरने से उधरस और क्षय रोग उत्पन्न हो जाता है। तम्बाकू सुंघने वाले की घ्राणेंद्रिय की सुगंध दुर्गंध पहचानने की शक्ति नष्ट हो जाती है और कई वक्त मगज बिगड़ जाता है। विशेष में खाने वाले पीनेवाले और सूंघने वाले इतने गंदे रहते हैं कि किसी अच्छी सभा में बैठने से स्वयं उन्हें ही घृणा आने लग जाती है। तम्बाकू खाने वाला बार २ थूंकता है जिससे उसे पल २ भर में उठ कर बाहर जाना पड़ता है पीनेवाले को अपनी तृष्ति बुझाने के लिये कोई कोना ढूंढ कर वहां अपनी तृप्ति करनी पड़ती है और सूंघनेवाला मनुष्य तो आस पास बैठे हुए सज्जनों को कष्ट पहुंचाने वाला ही हो जाता है सत्य है—

खायतेनो खूणो ने पीये तेनु घर।
सूंघे तेनो लुगड़ों एत्रणो बराबर॥

अर्थात्:—तमाखू खाने, पीने और सूंघने वाले एक से गंदे रहते हैं बीड़ी या हुक्का पीने की आदत में फंसने वाले विद्यार्थियों को बहुत होशियारी के साथ बर्ताव करने की आवश्यकता है। (१३०)

तमाखु पशुनामपि त्याज्यः।१३१।

पत्राण्यस्य गवादयोऽपि पशवो जिघ्रन्ति न लेशतो।
नाश्नन्ति क्षुधयापि पीड़िततरा भोज्यच्छया क्वापि वा॥
हात्यक्तं पशुभिःसादापि मनुजा बुद्ध्वा प्रकृष्टंगुणं।
वांच्छेयुः किमुतं तमाखुमाशितुं घ्रातुञ्च पातुं पुनः॥

तमाखू की ओर पशुओं की भी घृणा।

भावार्थ तथा विवेचनः—गाय, भैंस, बैल, घोड़े, ऊंट इत्यादि किसी भी जाति के जानवर उसके पत्ते तक को नहीं सूंघते, चाहे वे भूखों ही मरते हों। इन का खाना तो दूर रहा। कितनीही कड़ी और अप्रिय वनस्पति देखने में आती हैं जिन्हें कितने ही पशु सूंघते तक नहीं और कितनेही खाते भी हैं परंतु तमाखू एक ऐसी जहरीली वनस्पति है कि जिसको कोई भी पशु आहार स्वरूप से नहीं स्वीकार करते। मनुष्य से हलके दर्जे वाले पशुओं ने भी जिस चीज़ का हमेशा के लिये त्याग किया है उस चीज़-तमाखू को बुद्धि-बल में आगे बढ़े हुए मनुष्य खाने पीने और सूंघने के काम में लावें, यह क्या मनुष्य की उत्कृष्ट बुद्धि का सदुपयोगही है? नहीं। १३१

तमाखौ भ्रष्टता ।१३२।

यत्स्पर्शोऽपि विधीयते न सुजनैः शास्त्रैर्निषिद्धो बुधैः ।
यत्पात्राणि च तादृशोधमजनाः सिञ्चन्ति गण्डूषया ॥
तं भ्रष्टत्वकरं तमाखुमधमं सेवध्व आर्या अहो ।
आर्यत्वं क्वगतं क्वचाभिजनता ख्याता क्व नीतिर्गता ॥

तमाखू की भ्रष्टता।

भावार्थ और विवेचनः—हे आर्य मनुष्यो! जिस कौम के मनुष्यों का स्पर्श करने में घृणा करते हो और जिनका स्पर्श करना कितने ही आर्य शास्त्रों ने भी बंद किया है ऐसी हलकी जाति के लोग जैसे ढेड़, भंगी इत्यादि मुंह में पानी लेकर उस पानी को जिसके पत्तों पर छींटते हैं और वे लोग ही जिसके पुड़े बांधते हैं। ऐसी भ्रष्ट और हलकी वस्तु तमाखू को, हे आर्यो! तुम हाथ में लेकर मुंह में डालते हो, पीते हो

और सूंघते हो ! उससे तुम्हे घृणा नहीं आती ! उस समय तुम्हारा आर्यत्व कहां जाता है ? तुम्हारी कुलीनता किधर भाग जाती है ! और तुम्हारी नीति रीति कहां हवा हो जाती है ? अथवा क्या ऐसी भ्रष्ट वस्तु को व्यवहार करने में ही तुम्हारी आर्यता और कुलीनता भरी हुई है ? तमाखू खाने, पीने, और सूंघने वाले जो तमाखू के तैयार होने की दी रीति प्रारंभ से अंत तक देखें तो स्वाभाविक रीति से ही उसका उपयोग करना बंद कर दें ! जो पशुओं से घृणित हुई, नीच लोगों से तैयार की गई, और व्यसन के सिवाय दूसरा कोई लाभ न देने वाला तमाखू इतनी हानि करती है ! "दारिद्र शीलेऽपि नरः तमाखु नैव मुञ्चति" अर्थात् मनुष्य अत्यन्त दरिद्री हो जाता है तौ भी तमाखू को नहीं छोड़ता। वह आर्यावर्त को अधम दशा में लाने का मार्ग खुला करता है ऐसा कहने में क्या आश्चर्य है ?

द्रव्यस्य दुर्व्ययः ।१३३।

पुण्यार्थंतु वराटिकापि सहसा दीनाय नो दीयते ।
दत्ता चेज्जन लज्जया मनसि तत्तापः पुनर्जायते ॥
तादृक्षैः कृपणैरपि प्रतिदिनं कार्षापणानि द्रुतं ।
दीयन्तेऽत्र तमाखवे नहि फलं हा वैपरीत्यं कियत् ॥

तमाखु निमित्तं वात्सरिको व्ययः । १३४ ।

व्यक्तेर्वात्सरिकोस्ति पंचदश वा मुद्रास्तमाखोर्व्ययः ।
सामस्त्येन तु भारते भवति हा कोटेः परस्तद्व्ययः ॥
तज्जातादनलादितोऽपरिमित द्रव्य क्षयो जायते ।
राष्ट्रीयार्थिकदण्डितोप्यहितकृत्सेव्यस्तमाखुः कथम् ॥

तमाखू में धन का दुरुपयोग।

भावार्थः—अहा! तमाखू मनुष्य को कितनी ललचाने वाली है? और मनुष्य भी उसके पीछे कितने अंधे हो जाते हैं? जिन मनुष्यों के पास से गरीब भिक्षुक चिल्लाता २ आकर कुछ आश्रय मांगे और उसे पुण्यार्थ एक बादाम भी देना पड़े तो पहिलेही बुखार चढ़ आता है। कदाचित् शरमा शरमी या किसी के कहने सुनने से एक पाई भी दे दी जाय तो कितनेही दिन तक तो मनमें पश्चाताप ही हुआ करता है ऐसे कंजूस लोग भी तमाखू के लिये दो चार पैसे खर्च करना हो तो कर डालते हैं। अहा! यह कैसी विपरीतता! कि जहाँ पुण्य और शुभ कर्म का संचय हो जाता है, वहाँ तो एक पाई देते भी बुखार आता है और जहां कुछ फल या लाभ नहीं वहां आंख मींच कर पैसा खर्च कर दिया जाता है। सचमुच तमाखू फूंक २ कर मनुष्यों ने अपनी विवेक दृष्टि को खो दी है और इसी से ऐसी विपरीतता हो रही है। १२३।

तमाखू के व्यर्थ खर्च का हिसाब।

जिसकी स्त्री, बाल बच्चे भले ही भूखे मरते हों वैसी दशा वाला एक मजदूर भी तमाखू के वश होकर भूखों मरने पर भी तमाखू पिये बिना नहीं रह सकता! एक मनुष्य को तमाखू के लिये कम से कम हर रोज दो तीन पैसे महीने में रुपया, डेढ़, रुपया, और वर्ष भर में १८ से २० रुपये तक खर्चा तो सहज में ही लगता ही होगा। भारतवासियों को तमाखू व्यवहार करनेवालों की तमाखू के खरीदमें औसत से वार्षिक खर्च एक करोड़ रुपया होता होगा और इतना ही दियासलाई का खर्च होगा। तमाखू से जितनी आग लगती है, उसमें लाखों और करोड़ों का माल ही नहीं, बल्कि मनुष्यों के प्राण की भी खराबी हो जाती है। धार्मिक दृष्टि से देखते हुये पाप

का हिसाब तो एक तरफ रहा, परन्तु आर्थिक दृष्टि से देखते भी तमाखू देश के धन को बड़ा भारी धक्का पहुंचाता है। क्या इतनी हानि करने वाली वस्तु—तमाखू का उपयोग करना मनुष्य को योग्य है? नहीं।। १३४।

विवेचन:—मन और शरीर पर तम्बाकू कैसा खराब असर करती है, यह दिखा देने के पश्चात् इन दो श्लोकों में उससे देश का धन सम्बन्धी कितना नुकसान होता है वह दिखाया है। यह तो सत्य ही है कि अत्यन्त लोभी मनुष्य भी व्यसन की तृप्ति के लिये उदार बन जाते हैं, और गरीब मनुष्य तो कर्ज कर के अपने व्यसन की तृप्ति करते हैं। शौकीन जीव रोज आठ आने या रुपये की सिगरेट या तम्बाकू फूंक जाते हैं, तो ग़रीब अथवा कंजूस लोग एकाध पाई में ही अपना काम निकाल लेते हैं परन्तु इस से यदि एकंदर हिन्दुस्थान को होती हुई आर्थिक हानि का विचार करें तो वह विचार करोड़ों रुपयों का हो जाता है। हिन्द की ३२ क्रोड़ जन संख्या का आठवां भाग तमाखू पीने वाला होगा यह कल्पना यद्यपि कम है तौ भी इसी हिसाब से हर रोज एक २ व्यसनी एक पाई तमाखू में खर्च करें तौ भी वर्ष भर में ८ करोड़ रुपयों का धुआं; धुम्रपान में हो जाता है ग्रन्थकार का अनुमान है कि वार्षिक पन्द्रह रुपियों का खर्च प्रत्येक व्यसनी करता है और यह अनुमान योग्य ही है तो ६० करोड़ रुपयों का व्यर्थ नाश हो जाता है। हिन्द के सरकार को तमाखू के कर से लाखों रुपये की प्राप्ति होती है। वे लोग दिखा देते हैं कि व्यसन में सम्पत्ति खोकर हमें दरिद्र बनना ही पसन्द है। शोक! अफसोस! (१३३-१३४)

भो के गुणा अत्र प्रतीयन्ते ? । १२५ ।

किं स्वादोस्ति कषायपत्रविटके द्राक्षासिताम्रेष्विव ।
जातीकुन्दलतादि पुष्प सदृशो गन्धोस्ति किं तत्र भो ।
किंवा शैत्यगुणश्चमत्कृतिकरो रूपं मनोज्ञं किमु ।
नो चेदन्धतया गतानुगति-के कस्माद्वृथा गच्छथ ॥

तमाखु व्यवहार करने वालो से पूछने के प्रश्न ।

भावार्थः—अहो ! तमाखू पीने वालो ! क्या आपको बीड़ी या तमाखू में द्राक्ष—शक्कर या कैरी के रस जैसा स्वाद आता है ? क्या जूही केतकी, मोगरा जैसी सुगंध आती है ? या चंदन जैसी चमत्कारिक शीतलता प्राप्त होती है ? कि मन को हरने वाला अनुपम रूप दृष्टिगत होता है ? या तमाखु किसी रोग का नाश करती है ? आपको इसमें कौन सा फायदा प्रतीत हुआ ! भेड़ियों के प्रवाह समान अंधे बनकर देखा देखी क्यों इसमें भूल रहे हो ? । १२५ ।

विवेचनः—तमाखू का व्यवहार करने वालों से जितने प्रश्न पूछे गए उसका उत्तर एक सुभाषित कार ने श्लोक बनाकर बिलकुल यथातथ्य रूप से कर दिया है, उसमें कहा है कि—

न स्वादु नौषधमिदं न च वा सुगन्धि ।
नाक्षि प्रियं किमपि शुष्कतमाखुचूर्णम् ॥
किं चाक्षि रोग जनकं च तदस्य भोगे ।
बीजं नृणां नहि नाहि व्यसनं विनान्यत् ॥

अर्थात् कुछ सूखा हुआ तमाखू का चूर्ण, बिलकुल स्वादिष्ट नहीं है औषधि भी नहीं, उसमें किसी प्रकार की सुगंध भी नहीं और नेत्रों को भी प्रीति कर नहीं परन्तु उलटे आँख के रोग का उत्पादक है इसलिये इसके भक्षण करने में मनुष्यों को सिवाय व्यसन के दूसरा कोई लाभ नहीं है। १२८।

क्षुद्रव्यसनानां परिहारः ॥१३६॥

छागाञ्जोचरसेति गुर्जर गिरा ख्यातञ्च भङ्गादिकं।
किञ्चिन्मोहकमप्यपायजनकं भक्ष्यं न पेयं तथा॥
कृत्वैतस्य पुनः पुनः प्रतिदिनं संसेवनं सादरं।
को नाभूद्व्यसनी विवेकविकलो निन्द्यो दरिद्रः पुनः॥

छोटे २ व्यसनों का त्याग।

भावार्थः—चाय, गांजा, चरस, भंग इत्यादि अनेक ऐसी वस्तुएं हैं कि जिनका कई वार सेवन करने से व्यसन पड़ जाता है। इसलिये विद्यार्थियों को अपने खान पान में इन वस्तुओं का बिलकुल उपयोग न करना चाहिये क्योंकि आदर पूर्वक इन वस्तुओं का नित्य प्रति सेवन करनेवाला मनुष्य उन वस्तुओं का व्यसनी बन जाता है जिससे अंत में वह विवेक-विकल होकर मूर्ख और दारिद्री हो जाता है।१३६।

विवेचनः—तम्बाकू जैसे अनेक हानिकारक व्यसन हैं उनमें भंग, गांजा, चाह, चरस इत्यादि का भी समावेश हो जाता है। भांग-ये सण की जात के वृक्ष के पत्ते हैं, और इनका उपयोग भिन्न २ रीति से होता है। कोई इसके सूके पत्ते चिलम में डाल कर पीता है और उसके पत्ते खाता है कोई उसके भुजिये बनाकर खाता है और कोई इन्हे शक्कर बादाम के साथ घोटकर पीता है किसी भी तरह से भांग का उपयोग करने से नशा आता है और मगज घूमता है। क्षणिक उत्तेजक वस्तु समझ कर वैद्य भी इसका दवाई में उपयोग करते हैं और इसका पाक बनाकर बेचते हैं। भांग पीनेवाले और खानेवाले की दशा भी मद्य पान करनेवाले सरीखी हो

जाती है कारण इसका नशा भी कई वार बड़े जोर से चढ़ता है। गांजा सिर्फ तमाखू की तरह चिलम में डालकर पिया जाता है भांग के झाड़ के पत्तों में जो गर्भ रहता है वही गांजा कहलाता है। गांजा पीनेवाले चिलम का दम अधिक जोर से खींचने में आनन्द मानते हैं, परन्तु कभी गांजे का धुआं जो मगज में पहुंच जाता है तो उससे मृत्यु तक हो जाती है गांजा पीनेवाले को नासूर का दर्द बहुत जल्दी हो जाता है। चाह—ये एक जात के पत्ते हैं और (बुंद दाना बुंद झाड़ ?) के बीज हैं ये दोनों चीजें गरम कर पीने में आती हैं तो गर्मी पैदा करती हैं ये चीजें यदि हमेशा पी जांय तो व्यसन रूप हो जाती हैं और यह व्यसन कई वार नुकसान कारी भी हो जाता है। मी-पार्सन कहते हैं "कि चाह को बहुत गर्म कर अधिक पी जाय तो वह भी नशा करती है"। चाह पीनेवालों को जो यह वक्त पर नहीं मिलती तो वे अचेत हो जाते हैं, ऐसा बहुधा देखने में आया है। बुन्द। काफी, कोको इत्यादि भी हलका नशा लाती है और अधिक प्रमाण में लिया जाय तो अधिक नशा करती हैं इस पर से चाह, बुंद, काफी इत्यादि चीजों को नशेली चीजें गिनने में कुछ भी बाधा नहीं। चाह, बुन्द, काफी इत्यादि पीनेवालों की जठराग्नि मंद पड़ जाती है उन्हें अपच का रोग लग जाता है, ऐसा वर्तमान काल के वैद्यों का मत है कई लोग ऐसा मानते हैं कि शरद ऋतु में अथवा ठंडे प्रदेशों में चाह या काफी जैसे गरम पदार्थ पिये विना काम ही नहीं चल सकता। परन्तु ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है। डा०-बेनेट इस मान्यता के सम्बन्ध में अपना अभिप्राय बतलाते हैं कि "अंतिम ३० वर्षों से मैंने फक्त ठंडा पानी ही पिया, मैंने चाय, काफी या दूसरी कोई नशेवाली चीज नहीं पी; मैं मेरी गाड़ी में बैठ कर गरमी या ठंड में कई

वार सोलह २ घंटे और कम से कम ४० मील तक सफर करता रहा और मैं सत्य कहता हूं कि वर्ष की समस्त ऋतुओं में मैं ठंडा पानी पीकर ही रहा"। एक समझदार डाक्टर का अभिप्राय ही चाह, काफी जैसे नशेवाले पदार्थ के पीने की अनावश्यकता दिखाने में काफी है। शौक से पीकर इन व्यसनों में पड़नेवाले विद्यार्थियों को बहुत ही होशियारी के साथ चलना चाहिये नहीं तो कच्ची युवावस्था में उन्हें अपच की फरियाद करते २ डाक्टरों के पास दौड़ जाना पड़ेगा। ॥१२६॥

समयहरा नृत्य नाट्य केलयः ॥१२७॥

यन्नृत्यं समयं वृथाऽपहरते चित्तं करोत्याकुलं।
यन्नाट्यं प्रहिणोत्यनीतिपदवीं संपश्यतो मानवान् ॥
यत्केलिः सफलोद्यमे वितनुते विघ्नं मनोव्यग्रतां।
तत्सर्वं धनमाननाशजनकं नेष्टव्यमिष्टार्थिभिः ॥

समय के लूटनेवाले नाटक, नाच और रंग राग।

भावार्थः—जिस तरह वेश्याओं का नाच; विद्यार्थियों का उपयोगी समय नष्ट करता है और मनकी वृत्तियों में विकार उत्पन्न करके चित्त को व्याकुल बनाने के साथ ही उन्मार्ग पर चढ़ा देता है, इसी तरह जो नाटक जनसमाज में स्वच्छंदता, उद्धता, विषय वासना इत्यादि खराब विषयों का प्रचार कर अनीति और दुराचारी मार्ग पर मनुष्यों को दौड़ा कर ले जाते हैं, जो रंग-राग और मौज शौक के साधन; अभ्यास में और उद्यम में विघ्न पहुंचाते हैं और मनकी वृत्तियों में व्यग्रता पैदा करते हैं ऐसे नाच और नाटक देखने का और ऐसे रंग-राग देखने का विद्यार्थियों को शौक न

रखना चाहिये। कारण कि इनका अधिक शौक रखने से इसका भी एक व्यसन पड़ जाता है और फिर मन उन्हीं में लगा रहता है जिससे अभ्यास इत्यादि कार्य मध्य में ही छोड़ने पड़ते हैं, इसलिये ऐसे मौज से हमेशा दूरही रहना चाहिये ॥१३७॥

विवेचन:—जिन वस्तुओं के खाने या पीने से चित्त भान-रहित होजाता है अर्थात् जिनसे नशा चढ़ता है उन्हें नशीली-वस्तु कहते हैं और उनका उपयोग करने वाले मनुष्य व्यसनी कहलाते हैं। परन्तु कितने ही मानसिक व्यसन भी होते हैं कि जिनसे परितृप्ति हुए विना व्यसनी को चैन नहीं पड़ता। यह मानसिक व्यसन मौज शौक़ मनाना है। जिन्हें भिन्न २ प्रकार के आनन्द मनाने का व्यसन पड़ गया है, वे अनेक प्रकार की हानि सहते हुये भी उस व्यसन के पीछे लगे ही रहते हैं। आजकल नाटक देखने का व्यसन वड़े २ शहरों में कई मनुष्यों को लग चुका है। कितने ही युवा तो घर से पैसे चुराकर भी नाटक देखने के चसके को पूरा करते हैं उसी तरह नाच, । तमाशे,। रमत गम्मत, इत्यादि के अति सेवन से जिन्हें इनके व्यसन लग जाते हैं वे भविष्य में दुर्दशा प्राप्त किये बिना नहीं रहते। रोज नाटक देखने का चस्का जिन्हे लगा है वे युवा पुरुष दिन को ऊंघकर तथा रात को जागकर स्वास्थ्य, उद्यम और धन का सत्यानाश करते हैं और जब तक वे तन मन और धन से सम्पूर्ण नष्ट नहीं हो जाते; अपनी आदत को नहीं छोड़ते, विद्यार्थियों को ऐसे मौज-शौक से हमेशा दूर रहना चाहिये। नाटक नाच, गम्मतें इत्यादि साधन सिर्फ आनन्द के हैं और उनका उपयोग किसी उत्सव के समय में ही हो तो ठीक है कितने ही ऐसे शौखी-खोर मनुष्य होते हैं कि वे समय न बीतने से

समय बिताने के लिये ही ऐसे मौज-शोक में पड़ते हैं। परन्तु तिस पर भी उनका समय नहीं बीतता, यह एक ढोंग है-बहाना है संसार में इतने उद्यम हैं कि वे यदि किये जायं तो किसी को उनसे फुरसत नहीं मिल सकी तब ऐसे शौकीनों का 'समय ही नहीं बीतता'? यह कैसे मान सके हैं? काउली नामक एक अंग्रेज विद्वान-लेखक कहता है कि "मनुष्य को समय बिताने के लिये साधन नहीं मिलता! यह सुन कर मेरे हृदय में अपार दुःख होता है!" नाटकादि तमाशे देखने में समय बिताना यह एक प्रकार की आलस्यता है, अथवा मनोविकार है। चित्त को व्याकुल, व्यग्र और विकल करने वाली गम्मतें या तमाशे सचमुच हानिकारक है। और विद्यार्थियों को तो ऐसे मानसिक व्यसनों में पड़ जाने के भय से सर्वथा इनसे अलग ही रहना चाहिये। नाटक देखने का व्यसन लग जाने से युवा मनुष्य कौन कौन से अपराध करना सीखने लगते हैं उसका दृष्टान्त इस लेखक ने अपनी आंखों देखा है। एक वनिक पुत्र को यह व्यसन लगा, जिससे उसका चित्त इतना परवश हो गया कि रात को नाटक में जो दृश्य देखता था वे हो उसे बार २ स्वप्न में याद आते थे। दिन को पाठ्य पुस्तक लेकर बैठता तौ भी उसकी दृष्टि के सामने नाटक के पात्र और परदे चमकते और कभी २ तो वह तान में नाटक के पात्रों के मुख से निकलते हुए भाषण और गायनों को नाटक की ढब से ही बोल देता था। चित्त की ऐसी परवशता के कारण वह कुछ न कुछ बहाना कर पिता की आज्ञा ले रोज नाटक देखने जाता था। परन्तु बार बार नाटक देखने जाने के लिये पिता ने पैसे देने से इन्कार किया तो भी उसने पैसे चुरा २ कर नाटक देखने जाना जारी रक्खा। धीरे २ उसकी यह आदत भी सब लोगों को मालूम हो गई, और घर में उस पर

पूरा २ बन्दोबस्त रक्खा जाने लगा तौ भी नाटक देखने का व्यसन उससे न छूटा। बाजार में बाप के नाम से कर्ज लेकर भी उसने नाटक देखना प्रारम्भ रक्खा। इसका भी बन्दोबस्त किया गया तो उसने दूसरी ही युक्ति भिड़ाई, उसके पिता ने अभ्यास की पुस्तकें और कपड़े की खरीदी के लिये इसे खुली आज्ञा दे रक्खी थी इससे वह पुस्तक बेचने वाले तथा कपड़े के व्योपारियों के यहां से भी पिता के नाम से पुस्तकें और कपड़े खरीद लाता और उन्हें आधी कीमत में बेच कर उन पैसों से नाटक देखने जाया करता। अहा! एक व्यसन के परवश होने से कितने अपराध करने पड़ते हैं।१३७।

उपसंहार।१३८।

इत्छेया विनयं विवेक सहितं घृत्वा शुभाज्ञां गुरो।
स्त्यक्त्वा दुर्व्यसनं तथैव विफलां क्रीड़ा प्रमादं पुनः॥
आरोग्य विधाय भोज्यनियमं सद्ब्रह्मचर्यं त था।
विद्यां सञ्चिनुते स एव विजयी कृत्ये द्वितीय भवेत्।

उपसंहार।

भावार्थः—जो युवक ऊपर बताये हुए क्रमानुसार ज्ञान और विनय के साथ माता पिता और बड़ों की आज्ञा शिरोधार्य कर, जुआदि व्यसनों को तिलांजली दे, व्यर्थ समय खोने वाले तमाशे और आलस्य-प्रमाद से दूर रह कर आरोग्यता रहे; इस तरह के भोजनादि को कार्यों में नियमित रूप से लावे। अभ्यास पूरा न हो वहां तक अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर एक चित्त से विद्या की उपासना कर शास्त्रिय-

ज्ञान में निपुण होगा। वही युवक गृहस्थी-धर्म रूप दूसरे कर्तव्य में सफल होने योग्य हो सकेगा।

विवेचनः—यहां द्वितीय खण्ड की समाप्ति होती है, इसलिये इस खंड में दिये हुए उपदेश का सार रूप उपसंहार ग्रंथकार कहते हैं कि इस तरह व्यवहार करने वाले विद्यार्थी अपनी प्रथमावस्था को पूर्णता से सफली भूत कर सके हैं, और पीछे वे दूसरी अवस्था में प्रवेश करते हैं, अर्थात् दूसरी अवस्था के कर्तव्य पूर्ण करने की योग्यता रखते हैं। प्रथम अवस्था में उनने विद्यादि गुरू से प्राप्त की है उसका स्वतंत्रता से प्रयोग करने का और दूसरे की मदद बिना अपने बल से विजय प्राप्त करने का अत्यन्त कठिन द्वितीय कर्तव्य पूर्ण करने के लिये अब वह उन्हें प्राप्त होगा।१२८।

* इति द्वितीय खंड समाप्त *

कर्तव्य-कौमुदी के तृतीय खंड की विषयानुक्रमणिका।

प्रथम परिच्छेद।

द्वितीय परिच्छेद।

तृतीय परिच्छेद ।

चतुर्थ परिच्छेद ।

पंचम परिच्छेद ।

षष्ठ परिच्छेद ।

सप्तम परिच्छेद ।

अष्टम परिच्छेद ।

नवम परिच्छेद ।

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥

कर्तव्य-कौमुदी।

तृतीय खण्ड।

क्रमानुसार अब "कर्तव्य कौमुदी" ग्रंथ का तृतीय खंड प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम खण्ड के प्रारम्भ में जीवन की भिन्न २ अवस्थाओं का दिग्दर्शन कराया है। उसमें लिखे अनुसार विद्यार्थी अवस्था के परिपूर्ण होते ही द्वितीय गृहस्थावस्था आरम्भ होती है। शक्ति सम्पन्न सुशील और धर्मप्रीत विद्यार्थी शायद गृहस्थाश्रम में रहना पसंद न करे और जल्दी ही तृतीय या चतुर्थावस्था के कर्तव्य में ही रुचि रक्खे तो भी जीवन की प्रत्येक अवस्था के भिन्न २ कर्तव्यों का उपदेश देने के लिये इस ग्रंथ की रचना की है इसलिये गृहधर्म के जिज्ञासुओं के उपयोगार्थ यह खण्ड बनाया है।

संसार शकट के दो चक्र स्त्री और पुरुष है। प्रथम अवस्था में मनुष्य को माता पिता गुरु आदि के सहवास में रह कर इस अवस्था का कर्तव्य पालना पड़ता है और दूसरी अवस्था में बहुधा स्त्री के सहवास में रह कर इस अवस्था का कर्तव्य पालन करना पड़ता है। सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः॥ अर्थात् प्रवास में अपने साथ चलने वाला मित्र गिना जाता है और घर के अन्दर पुरुष का मित्र उसकी स्त्री है संसार का शकट इन दो चक्रों से ही चलता है। इसलिये इस खण्ड में स्त्री-पुरुष के परस्पर धर्म दिखा कर "नीति"

रूप द्वितीय अवस्था के कर्तव्य पालन करने का उपदेश दिया है। प्रथमावस्था में तो कन्या और पुत्र उभय वर्ग का कर्तव्य लगभग एक सा है इसलिये कन्याओं के कर्तव्यों का भिन्न २ वर्णन नहीं किया गया परन्तु द्वितीयवस्था में प्रवेश होने पर दोनों वर्ग के कर्तव्यों में किसी २ स्थान पर भिन्नता है इस लिये उभय वर्ग के कर्तव्य विशेष को विस्तार से समझाने की आवश्यकता है। इस खण्ड में स्त्री और पुरुष के धर्मों का भिन्न २ कथन किया गया है।

प्रथम परिच्छेद ।

द्वितीयावस्था में प्रवेश ।

गार्हस्थ्य मर्यादा । १३९ ।

यावन्नार्जयते धनं सुविपुलं दारादिरक्षाकरं ।
यावन्नैव समाप्यते दृढ़तरा विद्याकला वाश्रिता ॥
यावन्नो वपुषो धियश्च रचना प्राप्नोति दार्ढ्यं परं ।
तावन्नो सुखदं वदान्ति विबुधा ग्राह्यं गृहस्थाश्रमम् ॥

अंग विकाश पर्यन्तं गार्हस्थ्य मर्यादा ।

कन्याया मतिगात्रवृद्धि समयो यावत्समां षोडशीं
स्यात्पुंसोपिच पञ्चविंशतितमीं स्वाभाविकात्तत्क्रमात् ॥
शास्त्रेसुश्रुतनामके च चरके वैद्येऽनुभूत्या चिरं ।
गार्हस्थ्ये गदितोवधिर्बुधवरैर्नान्यः पुनः श्रेय से ॥

गृहस्थाश्रम की प्रावेशिक मर्यादा।

भावार्थः—जब तक गृहस्थाश्रम के उम्मेदवार विद्यार्थी में अपना या अपनी स्त्री के निर्वाह करने का या घर का खर्च चल सके इतने पैसे पैदा करने का सामर्थ्य न हो या इतना पैसा पास न हो, जब तक विद्यार्थी अवस्था का अभ्यास पूर्ण न हो गया हो, जब तक बुद्धि का विकाश और शरीर के अंगों की प्रफुल्लता पूर्ण रीति से न हुई हो और शरीर की दृढ़ता चाहिये जैसी न हुई हो तब तक का समय विद्यार्थी अवस्था का ही है परन्तु गृहस्थाश्रम का नहीं इसलिये ऐसे समय में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना अकाल प्रवेश कहलाता है। और यह प्रवेश बालक को दुखकर होता है। इसलिये बालक के माता पिता को समय प्राप्त हुए बिना अपने पुत्र या कन्या को गृहस्थाश्रम में न फँसा देना चाहिये ॥१२४॥

शरीर के अवयवों का विकाश और गृहस्थाश्रम की मर्यादा सुश्रुत और चरक नामक शास्त्र जो वैद्यक के बहुत प्राचीन ग्रंथ गिने जाते हैं और जिनमें प्रायः प्रयोग सिद्ध बातें लिखी हैं, उनमें लिखा है कि कन्या के शरीर का बंध और अंग का विकाश सोलह वर्ष की उम्र तक और पुरुष के शरीर की रचना या विकाश पच्चीस वर्ष तक होता है, यह क्रम स्वाभाविक है और इससे पहिले अपने तथा भविष्य में होने वाली संतति के हितार्थ किसी को भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करना चाहिये। क्योंकि उन्हीं शास्त्रों में स्वास्थ्य रक्षार्थ पुरुष की उम्र २५ वर्ष और कन्या की उम्र सोलह वर्ष की होने बाद ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की सीमा दिखा है ॥

विवेचनः—वय और गुणों के अनुसार प्रथमावस्था पूर्ण होने पर ही प्रत्येक युवक को गृहस्थाश्रम में पड़ना चाहिये। यही इन दो श्लोकों का मुख्य सार है। प्रथम श्लोक में गृहस्थाश्रम में पड़ने के लिये किन २ गुणों की आवश्यकता है यह दिखाया है और दूसरे श्लोक में साधारणतः ये गुण स्त्री और पुरुष में कितनी उम्र में आते हैं यह दिखाने को वय की मर्यादा बांधी है। गृहस्थाश्रम के लिये चरक सुश्रुतादि ग्रंथों में वय की सीमा स्थित है और उसके नियत कर देने का मुख्य हेतु यह है कि गृहस्थाश्रम के इच्छुकों में पूर्ण योग्यता आजाय। वय की मर्यादा के विषय में भिन्न २ विद्वानों के प्रथक २ मत हैं। सुश्रुत में कहा है कि 'पंचविंशे ततो वर्षे पुमान नारीतु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक' ॥ अर्थात् कुशल वैद्यको-जन्म से पच्चीसवें वर्ष पुरुष और सोलहवें वर्ष स्त्री दोनों समान वीर्य प्राप्त करते हैं—ऐसा समझना चाहिये। चरक और सुश्रुत की तरह वाग्भट्ट भी कहते हैं 'षोड़श वर्षायाः पंच विंशति वर्षः पुत्रार्थं यतेत' ॥ अर्थात् पच्चीस वर्ष के पुरुष को सोलह वर्ष की स्त्री से प्रजोत्पत्ति करना चाहिये महानिर्वाण 'त्र में कहा है किः—विंशत्यवधिकान्पुत्रान्प्रेरयेद् गृहकर्मसु' अर्थात् पुत्र वीस वर्ष के हों तब ही उन्हें गृहकार्य सुपुर्द करने चाहिये। वय की ठीक निर्णय के सम्बन्ध में चाहे जैसा मतभेद हो और भिन्न २ देशों के लोगों की भिन्न भिन्न प्रकार की शारीरिक रचना के अनुसार भी गृहस्थाश्रम के लिये वय की मर्यादा में भेद हो परन्तु इतना तो अवश्य है कि उपरोक्त श्लोकों में के प्रथम श्लोक में दिखाये हुए सर्व गुणों का विकाश गृहस्थाश्रम के उम्मेदवारों में होना चाहिये। जब तक गृह कार्य निभाने के लिये इच्छितधन प्राप्त करने की योग्यता पुत्र में न आई हो, विद्या कला का अभ्यास पूर्ण न हुआ हो,

अंगों पांग का विकाश होकर देह रचना दृढ़ न हुई हो (कन्या के सम्बन्ध में:—गृहिणी बनने योग्य गुण न हों इस विषय में अधिक विस्तार आगे दिया है) यद्यपि यह गुण २०-२५ वर्ष तक न प्राप्त हुई हों तो चाहे ३० वर्ष तक हों तब तक पुत्र को गृहस्थाश्रम में न जोड़ना चाहिये। पुत्र की २५ और कन्या की १६ वर्ष की उम्र का जो क्रम दिखाया है उसके साथ ग्रंथकार ने 'स्वाभाविकोयं क्रमः' ये शब्द, रखे हैं। उनका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जाति के 'स्वभावप्रकृति' के अनुसार ही यह क्रम रक्खा है। परन्तु कदाचित्त इतनी उम्र में इन गुणों की प्राप्ति न हुई तो इस स्वाभाविक क्रम का उल्लंघन कर गुणों की प्राप्ति होने तक गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करने में ही चतुराई है। कच्ची उम्र, अदृढ़ शरीर, अपूर्ण अभ्यास तथा धनोपार्जन करने की अयोग्यता के समय जो लग्न होता है वह लग्न पति-पत्नि उभय के दुःखदाई होजाता है। अंग्रेजी में एक कहावत है कि "तुम ब्याह करते हो परन्तु इससे पहिले तुम्हारे रहने के लिये घर की योग्यता है या नहीं उसका विचार करना।" कहने का तात्पर्य यह है कि तुम्हारे कुटुम्ब के खर्च चलाने की तुम्हारे में शक्ति हो तो तुम्हें गृहधर्म अंगीकार करना चाहिये नहीं तो कुंवारे ही रहना! जिस तरह अपना निर्वाह करने की अशक्ति वाला पुरुष संसार में पड़ कर दुःखी होता है उसी तरह अपूर्ण अभ्यास और शरीर के अपक्क वीर्य के होने से संसार में पड़नेवाली बालिकाओं की अवश्य दुर्दशा होती है। [यह विषय आगे विस्तार से समझाया है] (१३६-१४०)

[जो इस उम्र और योग्यता की मर्यादा को न मानें तो क्या परिणाम होता है उसका चित्र एंव दिखाते हैं।]

वर कन्ययोर्वैषम्येकुयुगलम् ॥१४१॥

यत्र स्याद्वरकन्ययोर्विषमता शीले शरीरे पुन-
र्विद्यायां प्रकृतौ च रूप वयसोर्धर्मे कुले सद्गुणे।
सम्बन्धादनयोर्भवेत्कुयुगलं क्लेशाय सम्बन्धिनां।
व्यर्थं जीवनमेतयोः किल ततः सम्पद्यते दुःखदम् ॥

वर कन्या का अनमेल।

भावार्थः—जिस कन्या और वर के आचार, शरीर, ज्ञान, स्वभाव, उम्र, रूप, धर्म, कुल और धैर्य आदि सद्गुणों में विषमता हो अर्थात् वर सुशील और कन्या कुशील हो या कन्या पढ़ी हुई और वर अपढ़ हो इत्यादि, ऐसी विषम स्थिति में सम्बन्ध जोड़ा जाय या पति पत्नि का सम्बन्ध बांधा जाय तो यह कुजोड़ या अनमेल कहलाता है। इस कुजोड़ के कारण कन्या और वर के सम्बन्धी को अनेक प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैंइतना ही नहीं परन्तु उस कन्या और वर दोनों के जीवन अतिकटु दुखमय दुखप्रद हो निष्फल होजाते हैं किंवा दुनाम् उनकी जिन्दगी बर्बाद हो जाती है।

विवेचनः—पूर्वोक्त कथनानुसार-जो योग्य वर का लग्न योग्य कन्या के साथ न किया जाय तो वर कन्या की कुजोड़ होजाती है। कुजोड़ कुछ एक प्रकार से नहीं होती वय, विद्या, स्वभाव, सद्गुण, कुल, रूप इत्यादि अनेक प्रकार से वर-वधू की कुजोड़ होती है और जहां ऐसी कुजोड़ होती है वहां संसार सुख रूप नहीं परन्तु दुख की खानि रूप होजाता है। अपने लोग बहुधा वय की कुजोड़ नहीं होने की फिक्र करते हैं, और कितने ही तो कन्या और वर के दूसरे गुणों को देख-कर उम्र के अनमेल होने के तरफ ध्यान भी नहीं देते; ऐसा

करने से भी संसार दुःख दाई होजाता है वर कन्या का सम्बन्ध करते समय कई बातों की तपास करना आवश्यक है। वय की कुजोड़ ता दुखरूप होनी ही है परन्तु गुण, स्व-भाव, धर्म इत्यादि की कुजोड़ से भी कई समय अत्यन्त त्रास दायक परिणाम हो जाता है। इसलिये वर कन्या के शील, शरीर, विद्या स्वभाव, रूप, वय, धर्म, कुल इत्यादि सब बातों की समानता देखकर ही सम्बन्ध करना चाहिये। शुक्र नीति में कहा है कि:—

आदौ कुलं परीक्षते ततो विद्यां ततो वयः।
शीलं धनं ततो रूपं देशं पश्चाद्विवाहयेत॥

अर्थात्—प्रथम कुल, फिर विद्या, अवस्था, स्वभाव, धन, रूप, तथा देश की परीक्षा कर वर कन्या का व्याह करना चाहिये। वय की कुजोड़ होने से वर वधू के शरीर को हानि होती है और बहुधा वह वंध्या रहती है अथवा जो उनके संतति होती है वह बहुत निर्बल और जड़ स्वभाव की होती है। कुल, विद्या और स्वभाव के बेजोड़ होने से पति-पत्नि के आंतरिक भाव एक २ से अलग रहते हैं कारण कि विद्वान पति की रुचि को अपढ़ पत्नि से या, पढ़ी हुई स्त्री को अपढ़ पति से संताप नहीं मिलता। स्वभाव की विषमता के परिणाम से भी वे एक दूसरे पर क्रोध किया करते हैं। कुल की विषमता से उच्च कुलवान का अभिमान नीच कुल पर घृणा पैदा कर देता और उनके स्वभाव को मिलने नहीं देता है। इसी तरह धर्म की विषमता से उभय व्यक्ति को दुःख उत्पन्न हुआ ही करता है और पति अपनी स्त्री से अपना धर्म मनाने को बलात्कार किया ही करता है। इस तरह अनेक प्रकार से पति-पत्नि के आंतरिक गुण भिन्न होने से दुष्परिणाम उत्पन्न होते हैं और उनसे दुख के सिवाय और कुछ भी नतीजा नहीं निकलता।

द्वितीय परिच्छेद ।

गृहिणी के कर्त्तव्य ।

गृहिणिधर्माः ।१४२।

मन्तव्या जननीव साम्प्रतमसौ श्वश्रूः प्रपूज्योत्तमा ।
संसेव्यः श्वशूरस्तु तात सदृशः पूज्यः कुलीन स्त्रिया ॥
मान्यः स्वीयपतिर्हार्द प्रभु समः सेव्यैकदृष्टया सदा ।
येऽन्येपि स्वजनाः सुधामयदृशा दृश्याः प्रमोदेन ते ॥

गृहिणी के धर्म ।

भावार्थः—गृहिणी—अर्थात् बहू ब्याह होने के पहिले अपनी माता को जिस पूज्य बुद्धि से देखती थी वैसे ही पूज्य बुद्धि अब सासु पर रक्खे, अर्थात् सासु ही जन्म देने वाली माता है ऐसे भाव मन में रक्खे और पति के पिता अपने पूज्य पिताही हैं ऐसा समझ कर श्वसुर को पिता तुल्य समझे, उसी तरह पति अपने देह में प्राण हैं तब तक माननीय और पूज्यनीय हैं ऐसा समझ कर पति को प्रभु तुल्य गिने और देवर, जेष्ठ, ननद, देवरानी, जेठानी, इत्यादि जितने मनुष्य हों सब के साथ प्रेम प्रमोद भाव से वर्ताव रक्खे तथा छोटे बड़े सबको कौटुम्बिक स्नेह से भरी हुई अमृत दृष्टि से देखे कि जिससे घर में शांति रहे।

विवेचनः—एक कन्या ब्याहकर श्वसुराल में जाती है अर्थात् वह गृहिणी अर्थात् घर वाली या गृह धर्म में प्रवेश करनेवाली बनती है। परन्तु वह गृह धर्म को सार्थक करने वाली तब ही गिनी जाती है कि जब वह 'जङ्गल में मङ्गल' करने वाले को

रखती होय। कहा है कि:—गृहं तु गृहिणी हीनं कान्तारादतिरिच्यते—अर्थात् गृहिणी बिनाका गृह वह 'गृह' नहीं परन्तु जङ्गल है। उस जङ्गल जैसे शून्य गृह को जब एक स्त्री सचमुच में गृह बना दे तबही वह एक कुशल गृहिणी कही जाती है। तब सचमुच गृह बनाने वाली गृहिणी में किन २ गुणों की आवश्यकता है? जिस स्त्री के आगमन से घरमें आनन्द तथा शांति रहे, वही स्त्री एक कुशल गृहिणी कहलाती है और उस आनन्द और शांति को जन्म देने वाले गुण आगुन्तुक स्त्री में होना ही चाहिये। अपने से बड़ों या छोटों के साथ जैसा २ वर्ताव रखना चाहिये वैसा २ रखकर ही स्वजनों को आनन्द देने वाली स्त्री खुद सुख पाकर दूसरों को भी सुख दे सकी है और जङ्गल के समान गृह को भी मंगल युक्त बना देती है। योग्य जनों को योग्य मान मिलने से वे हमेशा संतुष्ट रहते हैं और मान देने वाले के तरफ उनका ममत्व बढ़ता है ऋग्वेद में स्त्री को ऐसी आज्ञा दी है कि:—

> सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
>
> ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥

अर्थात्:—सासु, श्वसुर, ननद तथा देवर इत्यादि को पूज्य आचरण से वश करने वाली हो। यह वशीकरण एक सच्ची गृहिणी को समझ लेना चाहिये तो वह अपने संसारिक कार्यों में अवश्य सफल होगी। अपने को जन्मदेनेवाले माता पिता के गृह का त्याग करने से पतिके माता पिता को अपने मातापिता समझ कर व्यवहार करना चाहिये। इसी तरह और बड़ों पर भी सन्मान बुद्धि रखना और पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गति अर्थात् अपना पति ही देव, स्नेही, तथा गति है ऐसा समझ कर यावज्जीवन उनकी

सेवा में तत्पर रहना ऐसा धर्म मानने वाली ही नव विवाहिता पतिगृह में आकर योग्य गृहिणी पद को प्राप्त करती है।१४२।

[ऐसे गुण जिस स्त्री में नहीं होते उस स्त्री से घर में कलह-क्लेश जन्म पाता है जिसका भयंकर परिणाम निम्न श्लोक में दिखाया है]

कुटुम्ब क्लेशस्यभयंकरता।१४३।

अत्यल्पोपि भया वहः क्षति करः क्लेशस्तु कौटुम्बका।
लज्जागौरवनाशकः कुलयशः ख्यातिद्रुदावानलः॥
लेशेनापि तदादरो न गृहिभिः कार्यः कुटुम्बे निजे।
स्याच्चत्कारणमशतोऽपि जनितं छेद्यं समूलं द्रुतम्॥

कलहानुद्भवाय सहिष्णुता।

यत्किञ्चिद्यदि यातृभिः कृतमहो न्यूनं स्वकार्यंगृहे।
भुक्तं वाधिकमिष्ट भोजन मलं स्वस्मात्तदीयैः सुतैः॥
भुक्त्वौदाय सहिष्णुते कुशलया ताभिः समं सत्कृते।
धार्यो नैव कदापि दुःख जनकः क्लेशो गृहिण्यातदा॥

कुटुम्ब क्लेश की भयंकरता।

कुटुम्ब में उत्पन्न हुआ थोड़ा सा भी क्लेश नुक्सान पहुंचाने वाला, दुख देने वाला और भयंकर गिना जाता है। कुटुम्ब क्लेश से कौटुम्बिक लज्जा और इज्जत में बाधा आती है। प्रतिष्ठा और गौरव का नाश होता है। यश-कीर्ति रूप वृक्ष समूह को जला कर भस्म करने में कौटुम्बिक क्लेश दावानल की गरज सारता है, कि बहुनाम शारिरिक। मानसिक और आर्थिक अनेक प्रकार की हानि पहुंचाता है। इसलिये स्वहितेच्छु स्त्री पुरुषों को अपने कुटुम्ब में लेश मात्र भी क्लेश को

स्थान न देना चाहिये। इतनाही नहीं परंतु क्लेश उत्पन्न होगा ऐसे किसी कारण का एक अंश भी उत्पन्न हुआ जाने तो तुरंत ही उस अंश को मूल से छेद डालना चाहिये कारण कि एक अंश वृद्धि पाने पर अंत में भयंकर रूप धारण कर लेता है।१४३।

क्लेश के कारण और सहन शीलता।

कितनेही समय देवरानी जेठानी में न्यूनाधिक गृह कार्य करने के कारण से घर में क्लेश उत्पन्न होता है किसी ने कुछ अच्छी चीज़ खाली हो या उसके लड़के को कुछ मिष्टान्न खिला दिया हो और दूसरों को वह चीज़ न मिली हो तो इससे भी कदाचित क्लेश होता है। ऐसी निर्जीव कारणों से उत्पन्न हुई ईर्षा को दबाने के लिये उदारता और सहन शीलता के गुण उपस्थित हों तो उपरोक्त कारणों से क्लेश उत्पन्न नहीं हो सक्ता। कुलवान सुज्ञ स्त्रियों का कर्तव्य है कि वे ऐसे निर्मूल कारणों से अपनी और घरकी प्रतिष्ठा हरने वाली देवरानी जेठानी के साथ के क्लेश को जरा भी आदर न दे कोई अधिक या कोई कम काम करती है, अथवा कोई कुछ खाजाय तो भी उदारता से सहन कर परस्पर प्रीति बनाये रख कभी भी क्लेश उत्पन्न न होने दे।१४४।

विवेचनः—आधुनिक आर्य संसार में गृह कलह जन्म पाता है, उससे एक सुज्ञ अंत करण को जितना दुख नहीं होता उससे विशेष दुख उस गृह कलह के जन्म होने के निर्जीव कारण और कौटुम्बिक जनो की क्षुद्र वृत्ति का स्वरूप देख कर होता है। अज्ञ स्त्रियों की क्षुद्र वृत्तियां इतनी अधिक प्रबल होती हैं कि किसी को भी ऐसे संसार पर घृणा हुए बिना न हो रह सक्ती। गुरु जनों का गुरुत्व अदृश्य होने लगता है और इसके साथ ही युवा वर्ग में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव

से समानाधिकार का घमंड होने लगा है इसी कारण से एक पुत्र वधू से सासु का मान रखने या सासु की आज्ञा पालने की अनिच्छा देखी जाती है। एक देवरानी अपनी जेठानी की ओर (योग्य) पूज्य भाव दिखाने की परवाह नहीं करती और उसी तरह सासु अपने पुत्र की वहू पर या जेठानी अपने देवर की स्त्री पर उचित प्यार या ममता नहीं रखती। ऐसी अज्ञता के फल से कौटुम्बिक स्वजन अपने परस्पर कर्तव्य पालने में पीछे रहते हैं, तब कौटुम्बिक क्लेश का जन्म होता है। जेठानी अपने से बड़ी है, ऐसा समझ कर देवरानी थोड़ा सा अधिक काम करने की उदारता करे या विचारी देवरानी अभी बालक है ऐसा समझ कर जेठानी अधिक काम करले तो ऐसी उदारता और सहिष्णुता से कदापि कौटुम्बिक क्लेश नहीं हो सकता। परंतु क्षुद्र वृत्तियों से पली हुई, अपढ़, और आंखों के सामने होते हुए खराब दृश्यों का स्वाभाविक अनुभव प्राप्त स्त्रियों में ऐसे गुण नहीं आसक्ते। इसी कारण से अपने आर्य संसार में अविभक्त (undivided शामिल) कुटुम्ब रखने की प्रथा होने पर भी पूर्णता से सफल होती हुई नहीं दिखती। गृहिणियां अपनी योग्य पदवी को शोभित करने वाले गुणोंवाली नहीं होती जिससे वहुधा कुटुम्ब क्लेश जन्म पाता है और कुटुम्ब की भिन्न भिन्न शाखाओं के भिन्न भिन्न झाड़ लग जाते हैं इस समय एक अविभक्त कुटुम्ब का मान, मर्यादा, लाज-इज्जत इन सब का नाश हो जाता है। जिस तरह अनेक वृक्षों के समूह में एक निर्बल पतला झाड़ भी लम्बे समय तक टिक सक्ता है, परन्तु चाहे जैसा वलवान और छटादार वृक्ष किसी जङ्गल में अकेला हो तो पवन का झपटा उसे एक क्षण भर में जड़ से उखाड़ फेंक देता है इसी तरह अविभक्त कुटुम्ब का अतुल वल कलह

के कारण बँट जाने से उसकी प्रत्येक शाखा रूप लघु वृक्ष निर्बल बन जाता है और उसे समूल उखड़ जाने में देर नहीं लगती। स्माइल्स कहते हैं कि "जो व्याह के पश्चात् पुरुष को सच्चा सुख और सच्ची शांति प्राप्त करना है तो उसकी स्त्री को उसके गृह संसार में सहायक होना चाहिये" परन्तु जहाँ व्याह होने पर भाइयों में और पिता पुत्र में कलह कराने वाली गृहिणी मिलजाय, वहां ऐसी आशा कहां से रहे ? इस लिये सुज्ञ जनों को कुटुम्ब क्लेश को जन्म देने वाले कारणों का युक्ति पूर्वक नाश करना चाहिये और स्त्रियों को योग्य शिक्षा दे सुज्ञ बनाना चाहिये। (१४३-१४४)

[कुटुम्ब में क्लेश न होने देने के लिये सुशील स्त्रियां हमेशा कैसी भावनाओं से संसार में विचरती हैं यह निम्न श्लोक में दिखाया है]

सुशील स्त्रीणांसद्भावना ॥१४५॥

पाताले प्रविशन्तु तानि रुचिराण्या भूषणानि द्रुतं ।
गर्ते तानि पतन्तु मञ्जुलमहामूल्यानि वस्त्राण्यपि ॥
सम्पन्नश्यतु सा ययाऽनिशमपि स्वीये कुटुम्बे कलि-
र्मन्यन्ते हृदि याः सदेत्थमुचितं ता एव साध्व्यः स्त्रियः॥

सुशील स्त्रियों की भावनाएं।

भावार्थ:—"जो कदाचित अलङ्कारादि के कारण से कुटुम्ब में क्लेश होना संभव हो तो वे सुंदर अलङ्कार चाहे पाताल में पैठ जायँ; जो सुंदर और महा मूल्यवान वस्त्रों के लिये क्लेश जागने का संभव हो तो वे सुन्दर वस्त्र गहरे खड्ढे में पड़जायें; जो कदाचित सम्पत्ति के लिये क्लेश हो तो वह सम्पत्ति सदा के लिये नष्ट हो जायँ; कारण कि जिनसे क्लेश होता है वे हमारे काम की नहीं है मुझे तो इतनी ही जरूरत

है कि किसी तरह कुटुम्ब में क्लेश न हो। कुटुम्ब में सुलह शांति ये ही आभूषण और अलंकार है "जिन स्त्रियों के मनमें ऐसी भावनाएं हमेशा रहती हैं वे ही सच्ची साध्वी और कुलीन स्त्रियाँ गिनी जाती हैं ॥ १४५ ॥

विवेचनः—स्वभाव से ही स्त्रियां अलंकार प्रिय होती हैं और इसीलिये वे अलंकारों से सुसज्जित रहने में आनन्द मानती हैं। अनसमझ स्त्रियाँ अलंकारों के लिये इतनी पागल बन जाती हैं कि उन्हें प्राप्त करने के लिये पति, सासु या श्वसुर के साथ क्लेश करने को तैयार हो जाती हैं। आप अपनी सखियों के वृन्द में सब से अधिक सुन्दर गहने और अलंकारो में सुसज्जित हुई तथा सम्पत्ति वाली दिखे, सब से अधिक मान पात्र गिनी जाय ऐसी अभिलाषाएं प्रकृति से स्त्रियों में स्वाभाविक है और इस कारण वे इस अभिलाषाओं का पूर्ण करवाने के लिये गृह में कलह कंकास का प्रवेश करती हैं। पुरुषों का धर्म है कि अपनी सम्पत्ति के प्रमाण में स्त्रियों को वस्त्र-भूषणों से शृङ्गारित रखे इस विषय में मनु जी ने कहा है किः—

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूति कामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषुच ॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥

अर्थात्:—समृद्धि की इच्छा रखने वाले पुरुषों को स्त्रियों का हमेशां, भूषण, वस्त्र और खान पान से सत्कार करना चाहिये, उसी तरह उत्सव के दिन भी उनका यथोचित आदर करना चाहिये। क्योंकि स्त्रियों की शोभा से सब कुल शोभा पाता है और स्त्रियों की अशोभा से नहीं

शोभता। परन्तु जो सम्पत्ति हीन और ग़रीब हैं तथा जो स्त्रियों के लिये वस्त्रालंकार खरीदने योग्य धन नहीं बचा सकते, उनके स्त्रियों को अपने पति की स्थिति विचार कर वस्त्रालंकार के लिये क्लेश करना योग्य नहीं। अपने कुटुम्ब में जिस प्रकार सुख का प्रचार हो, उस रीति से वर्ताव रखने में ही उन स्त्रियों को अपना सुख समझना चाहिये। वस्त्रालंकार के लिये कलह करना और बड़ों को तथा पतिको त्रास देना यह तो एक कुलटा स्त्री का लक्षण है। परन्तु सुशील स्त्रियों को ऐसी इच्छा रखनी चाहिये कि वस्त्रादि क्षुद्र वस्तुओं के कारण गृह में शांति रहे। जो ऐसी सुशील स्त्रियाँ प्रत्येक गृह में हों तो सब 'एडमंड बर्क' की तरह ऐसा कहने लगें कि 'मैं जब मेरे घर में पग रखता हूँ उस समय मेरी सब फिक्र चिन्ता उड़ जाती है !" ॥१४५॥

[कुलोद्धारक स्त्रियों में कैसी नम्रता होती है उसका चित्र नीचे के श्लोक में ग्रंथकार दिखाते हैं]

कुलोद्धारिणी स्त्री ।१४६।

मातस्त्वं महती विशालहृदया दक्षासि शिक्षाप्रदा ।
क्षुद्राहं स्खलनं मम प्रतिपदं हं हो भवत्यञ्जसा ॥
आगो मे सपदि क्षमस्व न पुनश्चैवं करिष्याम्यहं ।
श्वश्रूं या कुपितामिति प्रशमयेत्सा स्यात्कुलीना वधूः ॥

कुलोद्धारिणी स्त्री ।

भावार्थः—जिस स्त्री की कदाचित् भूल जाय उसे सासु इत्यादि शिक्षा या उलाहना दे तो वह शांति से सुने और इस प्रकार उत्तर दे कि "हे माता श्री ! हे सासु जी ! आप उदार मन के हैं और हम से बड़े हैं, आप उपदेश देने योग्य और देश

काल के ज्ञाता चतुर हैं। मैं एक बालक हूँ, भूल की पात्र हूँ, और इसी कारण मेरी पद २ पर भूल हो जाती है। आप मुझे सुधारने के अर्थ समय २ पर उचित शिक्षा देते हैं तो भी इस समय फिर मेरी भूल हो गई है। हे माजी! इस समय मेरा अपराध क्षमा करो और माफी दो। अब ध्यान पूर्वक चलूंगी और शक्ति भर कोशिश करके दूसरी वक्त भूल न करूंगी।" ऐसे मिष्ट वचन कह कर जो शिक्षा या उपालंभ देने वाली सासु इत्यादि को शांत करे और हित शिक्षा को हृदय में धारण करे, वही स्त्री कुल का उद्धार करने वाली कुलीन समझी जाती है। १४६।

विवेचनः—कुलवान स्त्री का मुख्य लक्षण नम्रता है। पर घर में—अर्थात् श्वसुर के घर आकर 'गृहिणी' पद प्राप्त करना। कुछ गर्व, रुआब या उद्दंडता से नहीं हो सकता। नम्रता के गुण में जो वशीकरण मंत्र है उस मंत्र के जप से ही नवौढ़ा पति, श्वसुर, सास इत्यादि सब कौटुम्बिक जन वश हो सकते हैं। गृह कार्य करते समय सासु, ननद, देवरानी, जेठानी इत्यादि स्त्रियों के साथ रहने से उनकी तरफ से कुछ सूचना, शिक्षा या उपालम्भ दिया जाय तो सदा अनुकूल स्वभाव धारण कर सुन लेना और उसका मधुर शब्दों में उत्तर देना चाहिये। ऐसी नम्रता दूसरे मनुष्यों को संतोष-कारक और नववधू पर प्रीति पैदा करनेवाली हो जाती है। स्माइल्स ने इस सम्बन्ध में अत्युत्तम शिक्षा दी है वे कहते हैं कि:—"व्याह किये पश्चात् यह सुनहली कहावत हृदयमें अंकित कर रखना कि:—"क्षमा रखो और संतोषी बनो" सब से अधिक अच्छा स्वभाव ही गृहस्थ-गृहिणी के गृहस्थाश्रम में बहुत निभता है और बहुत अच्छे फल देता है। इसके साथ ही मन को वश में रखने की जो अपने में हिम्मत या आदत

हो तो उससे धैर्य होता है जिससे कुछ सहनशीलता और क्षमा शीलता भी रह सकती है। जिन्हें जो कुछ कहना है वह अपन बिना ताने मारे सुन सकते हैं और क्रोध की बिजली का चमत्कार नष्ट हो जाय तब तक अपन अपने मन को वश में रख सकते हैं। 'मीठा उत्तर क्रोध को नष्ट कर देता है' यह शास्त्रीय वचन गृहस्थाश्रम में कितना असर करता है!"

नमन्ति गुणिनो जनाः॥ नम्रता रखना यह लक्षण गुणवान मनुष्यों का है और इसीलिये बड़ों के शब्दों को नम्रता पूर्वक सुनना यह लक्षण भी कुलीन स्त्रियों का ही समझा जाता है। १४६।

[गृहिणी पद के योग्य स्त्री के लक्षण निम्नाङ्कित श्लोक में दिखाये हैं]

गृहिणी पद योग्यता। १४७।

साहाय्यं कुरुतेऽन्यकार्यकरणे कृत्वापि कार्यं निजं।
श्रुत्वापि परुषं ननान्दृवचनं ब्रूते प्रशान्तं वचः॥
या यात्रादिजनैः सदैक्यमचलं बध्नाति बुद्ध्योत्तमं।
सा पात्रं गृहिणी पदस्य भवति प्रद्योतयन्तीयशः॥

गृहिणी पद की योग्यता।

भावार्थः--जो स्त्री अपने सुपुर्द किया हुआ घर के काम काज पूर्ण कर उदारता से देवरानी, जेठानी को उनके काम में मदद देती है इसी तरह ननद इत्यादि कोई उसे कठिन वचन कहें तो शांति से सुनकर शांत और मधुर वचनों से इस तरह उत्तर देती है कि जिसे सुनकर कठोर वचन बोलने वाले को स्वयम् लज्जित होना पड़ता है और वे शब्द पीछे ले लेने को तयार होता है जो स्त्री देवरानी जेठानी में से

कोई यदि भली बुरी हो तो भी अपनी बुद्धि और चतुराई से सब को अपने अनुकूल बना लेती है और आप खुद उनके अनुकूल बन पारस्परिक ऐक्य इस प्रकार निभाती रहती है कि वह किसी की बदखाह से भी न टूट सके। सचमुच वही स्त्री गृहिणी पद के अधिकार के योग्य है और वही इस पद को उन्नतावस्था में लाकर उज्वल कर सकती है। १५७।

विवेचनः—पूर्व श्लोक के विशेष विवेचनार्थ ही यह श्लोक लिखा गया है। 'गृहिणी' शब्द की सार्थकता सिद्ध करने वाली स्त्री में उदारता, शांति, प्रिय वादित्व, ऐक्य प्रियता इत्यादि गुण होने चाहिये कारण कि इन गुणों के बिना एक स्त्री अपना घर नहीं बाँध सकती और समुचित रीति से गृह स्थित हुए बिना वह 'गृहिणी' पद के योग्य नहीं समझी जाती। मधुर शब्दों में जो मोहिनी है उसके संयोग से ही कौटुम्बिक जनों में हमेशा सम्प-सुलह रह सकती है और यह कार्य एक योग्य गृहिणी ही कर सकती है। महाभारत में ऐसी स्त्री को धर्मचारिणी कहा है कारण कि अपनाधर्म-कर्तव्य समझ कर व्यवहार करने वाली स्त्री को यह उपमा देनी योग्य ही है।

सुस्वभावा सुवचना सुवृता सुखदर्शना।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्म चारिणी॥

अर्थात्:—जो स्त्री शुभ स्वभाव वाली, मधुर बोलने वाली, शुद्ध आचार वाली, सुख रूप दृश्यवाली, पति में ही चित्त रखनेवाली, और प्रसन्न मुखवाली होती है उसे धर्मचारिणी समझना चाहिये। जिस गृह में ऐसी गृहिणियों का निवास हो उस गृह में सर्वदा सुख सम्पत्ति की विपुलता रहे, इसमें क्या आश्चर्य है? ऐसी सुगृहिणियां ही संसार की और गृह की शोभा करने वाली हैं और इसीलिये

विद्वानों ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि 'गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादति रिच्यते'। अर्थात् गृहिणी विनाका घर जंगल से भी अधिक कष्टदाई है और कुलटा स्त्री हो तो उसके विनाका शून्य घर भी विशेष सुख प्रद है॥ १४७॥

[उत्तम स्त्रियां उत्तम प्रकार के बाह्याभूषनों से नहीं परन्तु शील रूप आंतिरकाभूषणों से जो शोभा पाती हैं वह नीचे के श्लोक में दिखाते हैं]

उत्तमस्त्रीणामुत्तमभूषणानि ।१४८।

किं स्यादञ्जनशोभया नयनयोः स्वल्पापि लज्जा न चे।
त्किं वस्त्रैर्मणिभूषणैः सुराचितैः पूज्ये न चेत्पूज्यधीः॥
किं रूपेण मनोहरेण वपुषः शीलं न चेच्छोभनं।
पातिव्रत्यमनुत्तमं हि गदितं स्त्रीणां परं भूषणम्॥

उत्तम स्त्री के आभूषण?

भावार्थ तथा विवेचनः—बाह्यालंकारों से अति प्रेम रखनेवाली स्त्रियों को यह श्लोक कण्ठाग्र कर लेना योग्य है। जिस तरह सर्प के मस्तिष्क में मणि रहती है तोभी उसे घरमें रखना कोई पसंद नहीं करता क्योंकि उसके मुँह में विष है इसी तरह बाह्यलंकारों से शोभित परन्तु दुर्गुण की भंडार रूप स्त्री का मुंह देखना भी कोई पसंद नहीं करेगा। जिस स्त्री के नैनों में लज्जा रूपी आंतरिक विभूषण नहीं है वह स्त्री अपनी आंख में अञ्जन लगाकर शोभा को बढ़ावे तो भी वह शोभा किस कामकी? बड़ों की ओर पूज्यभाव रखने की बुद्धि जिस स्त्री में न हो तो उसके धारण किये हुए सुन्दर वस्त्र, हीरा के हार, मोती की मालाएं या सोने की लड़ें, किस काम की हैं? सब मनुष्यों के लिये 'शीलं परम भूषणम्' कहा है परन्तु यह सब से बड़ा आभूषण जिस स्त्री में न हो फिर उसके शरीर

के चमड़े का बाह्याभूषण किस कामका है ? कारणकि स्वामि के बिना सब पुरुषों को भाई और पिता के समान गिनकर पति की आज्ञा में उद्यत रहने का पातिव्रत धर्म है यही स्त्रियों का उत्तम से उत्तम भूषण है। सारांश यह है कि आंख में लज्जा, बड़ों के ओर पूज्य भाव, शील रूपो उत्तम गुण और पातिव्रत धर्म येही स्त्री वर्ग के उत्तम आभूषण हैः—इन्हीं आंतरिक भूषणों से स्त्री सचमुच शोभापाती है तो फिर बाह्याभूषनों की उसे क्या जरूरत है ? ॥ ४८ ॥

[गृहिणी के लक्षणों का विवेचन किये पश्चात् अब पतिव्रता स्त्री को अपने पति के साथ कैसे २ कर्त्तव्य अदा करने चाहिये इनका सविस्तर वर्णन किया जाता है]

विपत्सौसाहाय्यम् ॥ १४६ ॥

यद्येभिमम भूषणैश्च वसनैः संरक्ष्यते गौरवं ।
स्वामिन् स्वीकुरु भूषणानि कृपया शीघ्रं तदेमानि मे ॥
एवं या विपदि प्रिया निजपतेः कुर्यात् सहायं परं ।
योषा सैव पतिव्रतापदमलं प्राप्नोति शोभास्पदम् ।

विपत्ति के समय पति को मदद ।

भावार्थः—"हे स्वामिन ! आपको इस समय व्यापाराद्दि में धक्का लगने से धन की आवश्यकता हुई हो तो जो ये मेरे सब अलंकार और अच्छे २ वस्त्र हैं, इन्हें बेच कर इनसे उत्पन्न पैसे सेलाज रहती हो और पैसे की त्रुटि दूर होती हो तो मुझ पर कृपा कर आपके सन्मुख पड़े हुए ये मेरे आभूषण लेओ और मुझे कृतार्थ करो।" ऐसी उदारता से जो स्त्री विपत्ति के समय में अपने पति को योग्य मदद देती है वही स्त्री पतिव्रता पद के योग्य है और इस पद की शोभा बढ़ाने वाली है ॥ १४६ ॥

विवेचनः—"स्त्रीयाः परीक्षा तु निर्धने पुंसि" अर्थात् जब पुरुष निर्धन हो जाता है तब ही वह अपने स्त्री के हृदय की सच्ची परीक्षा कर सकता है। सम्पत्ति के समय में तो सब कोई स्त्री, मित्र या सम्बन्धी जन अपना प्रेम भाव दिखाते हैं, परन्तु विपत्ति के समय जिस तरह विना फलवाले वृक्ष को पक्षी त्याग कर चले जाते हैं उसी तरह सब कोई अपनी प्रीति के बंधन तोड़ डालते हैं। इस समय स्त्री भी जो सुशील, समझदार न हो तो अपने पति पर घृणा दिखाती है। दीनता के समय में घर में अपव्यय से बचना पड़ता है वस्त्रालंकारों की खेंच सहनी पड़ती है, दूसरे की मिहनत मज़दूरी करके भी पेट भरना पड़ता है और बहुत ही नाज़ुक समय आ गया तो स्त्री के वस्त्राभूषण बेचकर भी उदर निर्वाह करना पड़ता है। यह स्वार्थ लम्पट स्त्री को अच्छा नहीं लगता और वह पति की ओर घृणा की दृष्टि से देखे इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु सच्ची पतिव्रता स्त्री के लक्षण तो भिन्न ही हैं। उस के मनमें अपने वस्त्राभूषणों की अपेक्षा पति की लज्जा-इज्ज़त का अधिक ध्यान रहता है। अपना स्वामी चिंतारहित हो फिर उद्योग में प्रवृत होगा तो अपने को भविष्य में अनेक नये वस्त्राभूषण मिलेंगे, ऐसा धैर्य जिस स्त्री में होता है और पति के विपत्ति के समय को अपनी भी विपत्ति का समय मानकर जो स्त्री समयानुसार वर्ताव रखती है, वही सच्ची पतिव्रता स्त्री गिनी जाती है। स्माइल्स सच कहते हैं कि "गृहस्थाश्रम की सच्ची कसौटी दुःख और विपत्ति का समय ही है" ॥ १४६ ॥

सन्मार्ग संसूचनम् ॥ १५० ॥

नैते योग्यतरा इमे च कुशला एभिर्वरा मित्रता।
मार्गोयं न हितावहः सुखकरश्चायं तु पन्था इति ॥

सन्दिग्धे विषये निनीषति पतिं मन्त्रीव या सत्पथं ।
योषा सैव पतिव्रता कुल मणिः संस्तूयते सज्जनैः ॥

पत्नि का पति को योग्य सलाह देना ।

भावार्थः—"हे स्वामिन ! वह मनुष्य आपके पास आता है परन्तु वह अयोग्य है उसके साथ मित्रता करनी योग्य नहीं । वे मनुष्य लायक, खानदान, और सदाचारी हैं उनके साथ मित्रता करना योग्य है । यह मार्ग अनीति और दुराचार का है । इस मार्ग में पांव धरना योग्य नहीं । यह मार्ग न्याय सम्पन्न और नीति मय है इसलिये इस मार्ग पर चलना हितावह है ।"जो स्त्री घबराहट में घबराये हुए या संशय में पड़े हुए अपने पति की घबराहट या संशय दूर कर देती है वही स्त्री पतिव्रता के पद को पूर्णता से निभा सक्ती है ॥ १५० ॥

विवेचनः—संसार में पतिवृता स्त्री की योग्यता अत्यन्त ऊँची है कारण कि संसार में पुरुष के सुख दुखों का आधार बहुधा स्त्री पर ही निर्भर है । नीति शास्त्र में पतिवृता स्त्री के छः मुख्य लक्षण कहे हैं उनमें से एक गुण कार्येषुमंत्रीकाभी है । संसार सम्बन्धी कार्यों में स्त्री पति को एक मंत्री की तरह सलाह दे यह उसका मुख्य कर्तव्य है । पति कदाचित् भ्रम वश हो, दुराचारी मनुष्यों की संगति करने लग जाय अथवा अनीति के मार्ग पर चलने लग जाय तो उसे उस मार्ग से दूर रहने का विनय पूर्वक उपदेश देना सन्मार्ग सुझाना, यह कार्य पति के संसारी साम्राज्य के अमात्य के समान स्त्री को करना चाहिये । महाभारत में भी एक स्थान पर कहा है कि 'धमार्थ काम कालेषु भार्या पुंसः सहायिनी' अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम के समय में पुरुष को सहायता करने वाली

स्त्री है चतुर स्त्री अपनी सलाह और शिक्षा से स्वामी को सुधार सकी है और इस तरह अपने तथा स्वामी के जीवन को तेजस्वी बना सकी है।

बनियान नामक एक वैश्यागामी अंग्रेज कंसारे का दृष्टान्त इस स्थान पर प्रासंगिक होगा। बनियन पीतल के फूटे वर्तनों को सुधारने का कार्य करता था और अत्यन्त दुराचारी था इतने में उसने एक अच्छे माता पिता की सुपात्र और युवा कुमारिका के साथ अपने अच्छे भाग्य के संयोग से व्याह कर लिया। बनियन खुद लिखता है कि "इस बाई के माता पिता धर्म निष्ठ थे उनकी इस लड़की पर भगवान की कृपा से मेरी दृष्टि गई। यह बाई और मैं जब दोनों शामिल हुए उस समय हम ग़रीब हालत में थे। हमारे दोनों में से किसी के पास घरके सामान में एक थाली या चमचा भी न था। तो भी इस स्त्री की सम्पत्ति में दो किताबें थीं। एक तो 'अच्छे मनुष्य के लिये स्वर्ग जाने की राह' और दूसरी 'धर्म के आचार' नाम की थीं। जो उसका बाप उसे मरते समय दे गया था"। ये और ऐसी दूसरी किताबों के पढ़ने से, अपनी स्त्री की हर समय की शुभ सलाह से और उसके मायालु अधिकार के प्रताप से बनियन अपने दुराचार से धीरे २ तिरगया और शांति तथा सुख के मार्ग पर चढ़ गया ॥१५०॥

पत्युरारोग्य रक्षिका ॥१५१ ॥

अन्नं पथ्यमिदं शरीरसुखदं मत्स्वामिनोऽस्मिन्नृतौ
नेदं सङ्गतमास्ति पथ्यमुचितं ज्ञात्वा विधेयं तथा ।
एवं या पतिदेहरक्षण विधौ यत्नं विधत्तेऽनिशं
योग्यं सैव पतिव्रताकुलमणिः संस्तूयते सज्जनैः ।

पत्नि का पति के शरीर की रक्षा करना।

भावार्थः—"यह ऋतु शरद या गरम होने से मेरे पति को अमुक प्रकार का भोजन ही अनुकूल होगा और अमुक समय में अमुक वस्तु का भोजन शरीर को प्रतिकूल होगा इसलिये इस ऋतु में ऐसी रसोई ठीक होगी और वह रसोई ठीक नहीं होगी "इस तरह जो स्त्री पति के शरीर की रक्षा करने का ध्यान रखने के साथ पथ्यापथ्य की योग्य व्यवस्था करती है और देश कालानुसार शरीर रक्षा के नियम जानकर उनके अनुसार वर्तती है, वही स्त्री पतिव्रता पद का प्रकाश में ला सकती है ॥ १५१ ॥

विवेचनः—विष्णु शर्मा ने सत्य ही कहा है कि 'भर्ता हि परमं नार्या भूषणं भूषणै विना॥ अर्थात् स्त्रियों को अन्य भूषणों के विना पति ही परम भूषण है और यह नित्य का भूषण चिरंजीव रहे, इसलिये एक पतिव्रता स्त्री हमेशा ध्यान पूर्वक चले यह उसका कर्तव्य है। पति निरोगी और चिरंजीव रहेगा तो अपना जीवन सफल होगा, ऐसी इच्छा से प्रत्येक स्त्री को पति के शरीर के अनुकूल और पथ्य ऐसा भोजन बनाना चाहिये। यहां एक दूसरे सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालना योग्य है, ग्रन्थकार ने 'पति देह रक्षण विधौ' इसमें विधि शब्द का उपयोग किया है इस पर से या उतने ऊपर के दो पद्यों में पथ्यापथ्य के विचार वाले शब्द एक पतिव्रता स्त्री के मुंह से कहलाये हैं उस पर से ऐसी सूचना होती है कि स्त्रियों को भोजन बनाने, खाने खिलाने, के विषय का विशेष ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। भिन्न २ ऋतुओं में किन २ प्रकार का भोजन शरीर को पथ्य होता है और कैसा भोजन अपथ्य होता है, इस सम्बन्ध का और

पाक शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान एक गृहिणी को याद रहना चाहिये। रसोई करने का कार्य प्रकृति ने स्त्रियों को सौंपा है, इस कार्य में अति दक्षता की जरूरत है। ऋतुओं के अनुकूल-प्रतिकूल भोजन सम्बन्धी तथा पाकशास्त्र सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान नहीं रखने वाली स्त्रियां कच्चे पक्के भोजन से अपने तथा पति आदि स्वजन के आरोग्य को हानि पहुंचाती है। इस विषय में विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं। पति के देह की रक्षा की विधि भी वे ही स्त्रियां समझ सक्ती हैं जिन्हें भिन्न २ ऋतुओं के अनुकूल भोजन सम्बन्धी और पाक शास्त्र सम्बन्धी उत्तम ज्ञान है और 'गृहिणी' पद प्राप्त होने पर उस ज्ञान का स्वजनों को निरंतर लाभ देती है॥ १५१॥

धर्म सहायिनी ॥ १५२ ॥

धर्मस्यावसरोयमस्त्यसुलभः कार्यान्तरं त्यज्यतां।
स्वास्थ्येनैव विधीयतामभिमतो धर्मस्तव श्रेयसे॥
एवं या समये निवेदयति तं धर्मे प्रसन्ना पतिं।
नित्यं सैव प्रतिव्रताकुलमणिः संस्तूयते सज्जनैः॥

पत्नि का धर्म कार्य में पति की मदद करना।

भावार्थः—"हे स्वामिन्! धर्म क्रिया करने का समय हुआ है, सत्कार्य या परमार्थ करने का यह समय है इसलिये दूसरा कार्य छोड़ कर प्रथम यह कार्य करो। कदाचित दूसरा व्यवहारिक कार्य त्यागने जैसा न हो और वह मुझ से हो सक्ता हो तो मुझे बताओ वह कार्य मैं करूंगी। इस समय आप निश्चिंतता से एक घंटा या इससे अधिक आत्मा के श्रेय के लिये आवश्यक धर्म कार्य कर लो"। इस तरह जो स्त्री योग्य समय पर सद्बुद्धि से पति को धर्म कार्य में लगाती

है और धर्म में मदद करती है, वही स्त्री अपने पतिव्रत पद को प्रख्यात कर इस पद को निभाती है॥ १५२॥

विवेचन:—चार पुरुषार्थ में से एक पुरुषार्थ 'धर्म' भी है। धर्म साधन में भी एक पतिव्रता स्त्री को स्वामी को सहायता देनी चाहिये। जिन पुरुषार्थ के साधन के लिये पुरुष स्त्री से अथवा स्त्री पुरुष से सम्बन्ध रखती है उन पुरुषार्थों को साधने के लिये दोनों की परस्पर सहायता करना उनका कर्त्तव्य है। धर्म कार्य की ओर स्वामी का लक्ष लगाना और दुख कष्ट आजाय तो शक्ति भर प्रयत्न कर धर्म कार्य को सुगम कर देना यह पुरुष के सांसारी सहवासी के समान एक स्त्री का कर्त्तव्य है। महाभारत में एक स्थान पर कहा है कि:—

नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्म संग्रहे।

अर्थात् पुरुष का धर्म संग्रह करने में स्त्री के समान कोई मददगार नहीं है। स्वामी के धर्म कार्य करने में कुछ प्रतिकूलता हो तो उसे दूर करने के लिये आप स्वतः अग्रसर होकर स्वामी के लिये अनुकूल प्रसंग उपस्थित करे, यही पतिव्रता स्त्री का सच्चा लक्षण है। यहां सती भामती का उदाहरण प्रासंगिक होगा। भामती वाचस्पति मिश्र की स्त्री थी। वाचस्पति ने भामती के साथ व्याह कर लेने पश्चात् संकराचार्य के भाष्य पर टीका लिखने का शुभ कार्य प्रारंभ किया था और भामती भी इस कार्य में स्वामी की सब तरह की सरलता प्राप्त कर देने में अपना समय व्यतीत करती थी। भाष्य लिखने में वाचस्पति इतने लीन हो गए थे कि रात दिन उन्हें और कुछ नहीं सूझता था। रात को भी वे शयनगृह में भाष्य लिखते और भामती लेखन साहित्य को पूर्ण करती तथा लेखन कार्य में कुछ प्रश्न उपस्थित हुआ तो स्वामी के साथ वाद विवाद कर प्रश्न का निराकरण करती थी। ऐसी

हालत में कई वर्ष बीतगए परन्तु वाचस्पतिने भामती के साथ अपना व्याह हुआ है कभी ध्यान भी न दिया। लेखन कार्य की लीनता में वे भामती को अपना विद्यार्थी मित्र समझते और भामती स्वामी के शुभ कार्य में हरकत न हो इस कारण से मौन धारण कर स्वामी सेवा में उपस्थित रहती थी। ऐसी अवस्थामें उन का यौवन बीत गया। एक समय रातको दिया, तेल न होने से निस्तेज होगया और अंधकार होने लगा तब वाचस्पति मिश्र की कलम रुकी और देखा तो भामती सोगई. उस समय उन्हें भामती के साथ लग्न होने का स्मरण हुआ। और यौवन काल व्यतीत होने पर भी लेखन कार्य में सरलता कर देने में भामती ने लग्न का स्मरण नहीं किया तथा आप अग्रसर रही इस लिये उस की प्रशंसा कर वाचस्पति ने अपनी टीका का नाम 'भामती' रक्खा। १५२।

पतिको पेपित्तमाधारिणी ।१५३।

श्रुत्वा या कटुभाषणानि बहुधा पत्ये न कुर्यात्क्रुधं ।
विज्ञाप्य प्रणिपत्य वा शमयति क्रोधं तदीयं द्रुतम् ॥
त्यक्त्वा कर्ण कटूर्गिरो मृदुतरा माधुर्य युक्ताः पतिं ।
ब्रूयात् सैव पतिव्रताकुलमणिः संस्तूयते सज्जनैः ॥

पति की क्रुद्ध प्रकृति के साथ क्षमा।

भावार्थः—अमुक प्रकृति के फलसे कोपायमान अपने पतिके कटु वचनों को सुनकर वह तुरंत ही क्रोध नहीं करती परन्तु जो स्त्री विनय या स्तुति कर विविध युक्तियों से पति के क्रोध को जल्द ही शांत करती है इतनाही नहीं परन्तु धीरे २ आनंद के समय में प्रसंगानुसार हित बोध दे पातकी प्रकृति में रही हुई कड़वाई और तीक्ष्ण प्रचण्डता को दूर कर उसके

स्थान पर मधुर और इष्ट क्षमा के तत्व भर कर पति की प्रचंड प्रकृति को बदल शांत प्रकृति बनाती है, वही स्त्री पतिव्रता पुष्प को सम्पूर्णता से खिलासकी है।

विवेचन:—पति पत्नी के स्वभाव एक दूसरे के अनुकूल न होने से त्रास और दुख में समय बिताने वाले सैकड़ों दम्पत्ति आर्यावर्त में मौजूद हैं। शिक्षा की कमी के कारण स्त्रियां पति के अनुकूल स्वभाव रखकर किस प्रकार व्यवहार रखना यह नहीं समझतीं और इसी कारण से सांसारिक दुखों का जन्म होता है। कितनेही पति भी अच्छे स्वभाव वाली स्त्रियों का मन-रंजन करते हैं सही परन्तु प्रकृति ने स्त्री के सिर पति रूप छत्र दिया है इस लिये स्त्री का कर्तव्य है कि वह जहाँ तक बने वहां तक स्वामी के स्वभाव के अनुकूल रह अपना स्वभाव परिवर्तित करे और इसी तरह धीरे २ अपने पति के क्रुद्ध स्वभाव को सुधारने का भी यत्न करे। पशियन भाषा में एक कहावत प्रचलित है कि 'स्त्री पति को उपदेश देकर उसपर साम्राज्य नहीं चला सकी परन्तु जो वह धार ले तो अपने स्वभाव से पति पर जरूर राज्य चला सकी है।' क्रुद्ध स्वभाव के पति को धैर्य से, दीनता से, अपनी त्रुटि मंजूर करने का दृश्य दिखाकर शांत हुए पश्चात मधुर शब्दों में सत्य बात कहे और अपनी त्रुटि न हो तो स्वामी का कोप शांत होजाने पर उन्हें सच्ची हकीकत समझावे तो पति-पत्नि के स्वभाव की भिन्नता से जो लम्बी झंझटें उत्पन्न होती हैं वे जरूर अदृश्य हुए बिना न रहें। बेनजोन्स ने एक स्थान पर कहा है कि—

"जो स्त्री अपने पति का क्रोध शांत होजाने तक उत्तर नहीं देती अथवा जो स्वामी पर काबू रखतीं हो तो वह अपना काबू प्रत्यक्ष में नहीं दिखाती, वही स्त्री अपने स्वामी को मोह मुग्ध बना सकी है और अपने खुद को उनकी सेवा में

अर्पण कर उन्हें अपने वश में कर सक्ती है, ऐसी स्त्री अपने धैर्य और क्षमा शील स्वभाव से सब कौटुम्बिक जनों को प्रिय होजाती है इतनाही नहीं परन्तु वही सच्ची पतिव्रता स्त्री समझी जाती है महाभारत में एक स्थान पर ऐसा कहा है कि:—

परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा।
सुप्रसन्न मुखी भर्तुर्या नारी सा पतिव्रता।

अर्थात्:—पति ने क्रोध वचन कहे हों या क्रोधित दृष्टि से देखा हो तो भी उनकी ओर जो प्रसन्न मुख रखती है वही स्त्री पतिव्रता कहलाती है। १५३।

[आर्य संसार में स्त्रियों ने बहुधा गृह कार्य का भार उठाही लिया है और इसी लिये उन्हें पालन पोषन के लिये द्रव्य पैदा करने का कार्य सुपुर्द नहीं किया जाता। तो भी दीनावस्थावाले दम्पतियों के संसार में एक स्त्री को कमाई न करने पर भी पति को किस तरह मदद देना चहिये वह अब नीचे के श्लोक में दिखाते हैं.]

पत्युर्दैन्ये व्ययेतियतत्वम् ।१५४।

नोद्योगः प्रचुरो न चास्ति विपुलो द्रव्यागमः साम्प्रतं ।
कार्योतो न गृहेव्ययश्च बहुशो नो भूषणादिस्पृहा ॥
यैवं प्रेक्ष्य पतिस्थितिं वितनुते स्वायानुसारं व्ययं ।
योषासैव प्रतिव्रताकुलमणिः संस्तूयत सज्जनैः ॥

गरीबी में मितव्ययता।

भावार्थ:—जो स्त्री वस्त्राभूषण इत्यादि के खर्च करने में पति की स्थिति का विचार रखती है कि "वर्तमान में चाहिये जैसा उद्योग नहीं चलता, उसी तरह पैसे की आमद भी चाहिये जितनी नहीं है, इस कारण से मेरे पति पैसे की तंगी भुगत रहे हैं, मुझे भी अलंकार या वस्त्र की चाह न रखनी

चाहिये, उसी तरह घर का खर्च भी कंजूसाई से चलाना चाहिये"। ऐसा ध्यान रख कर जो स्त्री अपने पति की स्थिति समझ उसके अनुसार खर्च रख पति को चिन्ता से दूर रखती है, वही स्त्री पतिव्रता धर्म के पंथ में अग्रेसर हो गृहिणी के पद का मूल्य बढ़ाती है।१५४।

विवेचन:—"अेवड़ तीसरा भाई है" यह कहावत हमेशा स्त्रियों के मुंह से निकलती है परन्तु इसका सच्चा अर्थ समझने वाली और समयानुसार इस कहावत का व्यवहार में उपयोग करने वाली चतुर स्त्रियां इस आर्य संसार में बहुत ही कम हैं। जब साम्पत्तिक दिन होते हैं तब इच्छानुसार खर्च कर स्वतंत्रता भुगतने वाली स्त्रियों को जब आपत्ति के दिन आते हैं, पति की कमाई कम हो जाती है, अथवा आमद की राह बंद हो जाती है, तब कंजूसाई से घर का खर्च चलाना या वस्त्रालंकारों का संकोच भुगतना बहुत ही कठिन मालूम होता है तो भी सुशिक्षित स्त्रियाँ समय देख कर और अनेक कठिनाइयाँ सह कर भी आपत्ति के दिन काटती रहती हैं। समय को न जानने वाली स्त्रियाँ ऐसे दिनों में पति को शत्रु सी मालूम होती हैं और स्त्रियों की कुलीनता भी ऐसे ही समय में देखी जा सकती है। दुःख के दिनों में स्वामी को धैर्य देने के बदले अधिक दुख देना यह एक कुलटा स्त्री का लक्षण समझा जाता है। इसके विरुद्ध पतिव्रता स्त्री स्वतः अनेक प्रकार के कष्ट सह कर गृह संसार कंजूसी से चलाती है और कम आमद के दिनों में भी स्वामी को दाहिने हाथ की तरह मदद करती रहती हैं।

समय को पहिचान कर चलने वाली स्त्रियों में विलीयम कोवेट की स्त्री का उदाहरण यहां प्रासंगिक होगा। उसकी स्त्री एक सेनापति की कन्या थी और जब वह कुआँरी थी

तब ही कोवेट ने उसके साथ प्रेम किया। उस समय उसकी उम्र १३ वर्ष की थी। प्यार के बंध में फंसते ही कोवेट को सैन्य के साथ परदेश जाना पड़ा और परदेश से आने पर दोनों का व्याह करना निश्चय हुआ। कोवेट एक ग़रीब मनुष्य था उसने नौकरी से ढाई हजार रुपये बचाये थे। जब वह परदेश जाने लगा तब उसने वह रक़म अपनी प्रियतमा को दे दी और कहा कि मैं इङ्गलैण्ड से पीछा लौट आऊँ तब तक तू सुख से रह सके इस लिये यह रक़म मैं तुझे सौंप जाता हूँ। उसके बाद पांच वर्ष बीत गए। कोवेट फ़ौजी नौकरी से लौट आया और जल्दी ही वह अपनी प्रियतमा से मिला* कोवेट लिखता है कि "मेरी बाल प्रियतमा सब गृह का कार्य करने के लिये केप्टन ब्रिलाक के मकान में वार्षिक पौन सौ पौंड पर दासी रह कर कठिन कार्य करती थी। इस विषय में एक बात भी मुझ से न कह मेरे हाथ में मेरी ढाई हजार की थैली एक पाई भी कम न कर ज्यों की त्यों सौंप दी" अपने प्रियतम की ग़रीब स्थिति को समझने वाली और उसके सच्चे पसीने की कमाई की कीमत समझने वाली इस कुमारिका के समान आर्यावर्त में कितनी कुमारियाँ होंगी? १५४।

[स्त्रियों के पति प्रति के धर्मों को थोड़े में समझा कर अब स्त्रियों में विनयादि दूसरे जिन गुणों की अनिवार्य आवश्यकता है वह ग्रन्थकार दिखाते हैं।]

गृहशोभा संपादिन्यः स्त्रियः ।१५५।

भो भो स्वागत मद्य पावनमभू द्गेहाङ्गणं वः पदै ।
जातं वः शुभदर्शनं वहु दिनैः स्वास्थ्यं शरीरेस्ति किम् ॥

* इस कोवेट ने Advice to yaung men नामक अंग्रेजी पुस्तक लिखी है और वह प्रत्येक युवा स्त्री पुरुषों के पढ़ने योग्य है।

एव यादरमुत्सुका कलयते प्राघूर्णिकानां मुदा ।
दारिद्र्येपि हि शोभतेऽधिकतरं गेहं गृहिण्या तया ॥

कैसी स्त्रियां घर की शोभा बढ़ाती हैं ।

भावार्थ:—जो स्त्रियां अपने गृह पर आये हुए योग्य गृहस्थ या मेहमान का प्रथम वाणी से सत्कार करती हैं कि "आप का आगमन शुभ हो। आपके चरणों से आज हमारा घर पवित्र हो गया; अब की बहुत दिनों में पधारे ! कितने ही समय से राह देखने पर बहुत दिनों में आज आपके दर्शन हुए शरीर तो स्वस्थ है ? और सब आनन्द में है ? इस तरह विनय और सभ्यता पूर्वक अधिक सम्मान से जो पाहुनों का योग्य सत्कार करती है कि जिससे आगन्तुक बहुत प्रसन्न होता है। ऐसी कुलीन स्त्रियों से ही चाहे जितनी दीन हालत परन्तु उनका घर अधिकाधिक देदीप्यमान रहता है ।१५५।

विवेचनः—विनय वाली स्त्रियां हमेशा घर के आभूषण समझी जाती हैं। अपना घर चाहे जैसी दीनवस्था में हो तो भी विवेक और मधुर वादिनी स्त्रियां दूसरे कुटुम्बों में अपने घर की कीर्ति बढ़ाने वाली होती हैं। अपने यहां आये हुए अतिथि (मेहमानों) का मधुर वचनों से सत्कार कर उनकी खबर वगैरह पूछना उन पर अपनी निर्दोष चाह दिखाना और अपने घर योग्य भोजनादि वस्तुओं से उनका सत्कार करना। ऐसे २ गुण जिन स्त्रियों में रहते हैं वे अपने शुभ स्वभाव के कारण लोगों में कीर्ति पाती हैं और उनकी गरीबी की हालत में अनेक पुरुष उन्हें मदद देने की इच्छा रखते हैं। सुशील पुरुषों की तरफ सब किसी की इच्छा खिंचे बिना नहीं रह सकतीं इसी कारण से कहा है कि:—न गृहं गृह

मित्याहु गृहिणी गृह मुच्यते॥ अर्थात् मिट्टी या पत्थर से बंधा हुआ घर कुछ घर नहीं कहलाता परन्तु 'गृहिणी' योग्य स्त्री यही स्वतः घर है। सारांश यह कि जो एक पुरुष को कुलीन गृहिणी मिलती है तो वह चाहे गरीब हो तो भी उस कुलीन गृहिणी के विनयादि गुणों से वह जन समाज में कीर्ति पाता है। गरीब घर भी ऐसी गृहिणियों से देदिप्यमान हो जांय इसमें क्या आश्चर्य है? ।१५५।

गृहशोभाविनाशिन्यः स्त्रियः ।१५६।

हा कैतेऽतिबुभुक्षिता अतिथयो गेहं प्रविष्टाश्चते।
किं नास्त्यत्र परं गृहं किमु विंदुर्दासी मिमे मां निजाम् ॥
एवं यात्र तिरस्करोति नितरां प्राघूर्णिकानुद्धता।
द्रव्ये सत्यपि शोभतेऽल्प मपि नो गेहं तथा योषिता ॥

कैसी स्त्रियाँ गृह की प्रतिष्ठा का नाश करती हैं?

भावार्थ तथा विवेचनः—पूर्व श्लोक में घर की शोभा बढ़ाने वाली सुगृहिणियों के लक्षण दिखाकर इस श्लोक में घर की शोभा का नाश करने वाली कुलटा स्त्रियों का चित्र अंकित किया है। जिस तरह सुशील और मधुर वादिनी स्त्रियों के विवेक से एक दीन गृह भी जन समाज में कीर्ति पाता है उसके विरुद्ध एक धनवान घर कुलटा स्त्री के दुःशील स्वभाव या उद्दंडता से अपकीर्ति पाता है। ऐसी स्त्रियाँ घर आये हुये योग्य गृहस्थों का तथा पाहुनों का प्रथम वचनों से अनादर करती है "अरेरे! ये भूखे दुकाल वाले अतिथि-मेहमान इतने अधिक क्यों आ गए? ये मेरे घर में क्यों घुसे? क्या मेरे ही घर पर इनकी दृष्टि पड़ी? मैं कुछ इनकी दासी हूँ सो इन्हें रसोई कर भोजन कराऊँ? इनको मुंह लगाये तो जावेंगे भी

नहीं"। ऐसे शब्दों से उनका तिरस्कार करती है। गुजराती में कहावत है कि "भूंडी स्त्रिये वमणोवरो" अर्थात् ऐसी कुलटा स्त्रियां अपने घर आये हुए अतिथि का अनादर करती हैं और उन्हें भोजन न करा जितना बचाव करती हैं उतना दूसरी तरफ उनके समान स्वभाव वाले दूसरे कुटिल मनुष्य ही उन्हें ठग लेते हैं। जहां एक से स्वभाववाले मनुष्य मिलते हैं वहां प्रत्येक व्यक्ति को अच्छा लगता है। इसी तरह कुलटा स्त्रियां सज्जनों का अनादर करती हैं परन्तु कुटिल मनुष्यों का आदर कर अपने धन को कुमार्ग पर व्यय करती हुई पीछे नहीं देखती हैं।१५६।

प्रतिष्ठावर्द्धिन्यः स्त्रियः।१५७।

वाचा मिष्टतरापि नानृतलवैर्मिश्रास्ति यस्याः स्त्रिया।
दृष्टिः स्नेहसुधाभृतापि विकृता नास्त्यन्यपुंसि प्रियात्॥
औदार्यं विपुलं हृदस्तदपि नायोग्यव्ययाध्वाश्रितं।
सानारी गृहिणी पदस्य तनुते सत्यां प्रतिष्ठां पराम्॥

प्रतिष्ठा बढ़ाने वाली सुनारियां।

भावार्थः—जिस स्त्री की वाणी कटुतादि दोष से रहित, अत्यन्त सभ्य और मधुर मीठी हो तथापि असत्य दोष से मिश्रित न हो, जिसकी दृष्टि स्नेह रूप अमृत से भरी हुई हो परन्तु अपने पति के सिवाय अन्य पुरुष तरफ विकार भाव से न खिंची हो, जिसका हृदय अत्यन्त उदार भाव से परिपूर्ण हो तोभी वह औदार्यता, व्यर्थ पैसे उड़ाने के समान उद्दण्डता में अपरिणित हुई हो, वही स्त्री अपने कुटुम्ब, घर, पति और अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाती है और गृहिणी पद को भी वही दिपाती है।१५७।

विवेचनः—कुटुम्बादि की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाली स्त्रियों में तीन गुणों की परम आवश्यकता है ऐसा इस श्लोक में दिखाया है। ये तीनों गुण मधुर वचन, स्नेह युक्त दृष्टि, और हृदय की उदारता है। परन्तु ये तीनों गुण एकान्त दृष्टि से होने ही चाहिये ऐसा नहीं मान सकते। एक स्त्री में मधुर वाक्त्व का गुण हो परन्तु वह दूसरों की चापलूसी करने के अर्थ या मीठे २ वचन बोल कर दूसरों को ठगने की बुद्धि से असत्य बोले तो यह मधुर वाक्त्व एक सद्गुण नहीं परन्तु दुर्गुण ही गिना जाता है। इसलिये स्त्रियों की वाचा बेशक मिष्ट हो परन्तु वह असत्य मिश्रित न होनी चाहिये। स्त्रियों की दृष्टि हमेशा आदर जनों, सम्बन्धियों और अतिथियों के तरफ स्नेह युक्त रहनी चाहिये और इसी गुण से स्त्री विनयी और चतुर समझी जाती है परन्तु जो स्नेह दूसरों के प्रति दिखाया जाय वह निर्विकारी होना चाहिये। जो स्नेह-स्वभाव पति तरफ दिखाया जाय उस भाव का एक अंश भी पर पुरुष पर दिखाने में न आना चाहिये। बड़ों के कटु वचन सहन कर लेने में, नौकर चाकरों से काम कराने में, दीन जनों को दान देने में और ऐसे दूसरे कार्यों में जो स्त्री उदार हो तो उसका यह गुण प्रशंसा पात्र है। परन्तु अपनी शक्ति के उपरांत धन खर्च करने में या गरीब स्थिति में समयानुसार व्यवहार नहीं करके एकसा खर्च रखने में उदारता नहीं, परन्तु उड़ाऊपन है, इस तरह ये तीनों गुण—दुर्गुण रूप में न पलटें ऐसी चिन्ता जो कोई स्त्री में रहे तो वह स्त्री गृहिणी की उच्च पदवी को पाती है। स्त्रियों में सात दोष तो 'स्वाभाविक' अर्थात् स्वभावसे—प्रकृति से जन्मे हैं।

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वं मति लोभता।
अशुचित्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥

अर्थात्:—झूठ बोलना, सहसा काम करना, माया छिपाना, मूर्खता, अतिलोभीपना, अशुचिता और निर्दयता, ये सात दोष स्त्रियों में स्वभाव से ही जन्मे कहलाते हैं। परंतु उपर्युक्त तीन मुख्य गुण जिस स्त्री में हो तो ये सातों दोष उन गुणों के प्रताप से दूर हो जाते हैं ।१५७।

[गृहिणी के साथ सासु तथा पति का कैसा भाव रखना चाहिये कि जिससे संसार शकट तनिक भी न अटकते सरलता से चला करे इस सम्बन्ध का उपदेश अब निम्न श्लोक में देते हैं]

वधूं प्रति श्वश्रूकर्तव्यम् ।१५८।

या पुत्रीमिव मन्यते सुत वधूं प्रेम्णा प्रमोदान्विता ।
नो निष्कारणमेव कुप्यति तथा न द्वेष्टि ना क्रोशति ॥
दत्ते चोत्तम शिक्षणं हितधिया प्रासङ्गिकं शान्तितः ।
साश्वश्रू पदमर्हति स्वपरयोः सौख्यं विधातुं क्षमा ॥

बहू के साथ सासु का किस रीति का
व्यवहार होना चाहिये ?

भावार्थ:—जो सासु अपनी पुत्र वधू से भिन्नता न रख अपनी पुत्री के प्रेम जैसे प्रेम से देखती है और उसके साथ प्रसन्नता का व्यवहार रखती है, बिना कारण उस पर कोप या द्वेष नहीं करती, उसे वार २ उपालंभ नहीं देती और ताने भी नहीं मारती, कदाचित् बहू की भूल हो तो मौके २ से शांति और धैर्य के साथ हित बुद्धि से उत्तम शिक्षा देती है, वे भी ऐसे वचनों में, कि सुनने वाले को मीठे लगें और असर पहुंचाये बिना सो न रहें; ऐसे गुण और ऐसे लक्षण वाली स्त्री ही सासु के पद के योग्य बनती है और अपना तथा सब का हित साधती हुई सब तरफ से सम्मान पाती है । १५८।

विवेचनः—गृह कलह के अनेक कारणों में एक कारण सासु और बहू के आपसी कलह का भी है। इस कलह में कई वक्त सासु कारणीभूत होती है तो कई वक्त बहू। सासु के मन से बहू दासी या गुलाम सी है और इसी लिये वह उसके साथ तिरस्कार करती है, तब बहू तरुण होने से और पितृ गृह में लाड़ प्यार के साथ पली होने से सासु की कुशित दृष्टि नहीं सह सकती। ऐसे २ निर्जीव कारणों से सासु और बहू में बहुधा कलह उत्पन्न हो जाता है। जो दोनों को उचित शिक्षा मिली हो और दोनों में पूर्वोक्त कहे हुए गृहिणी पद के योग्य गुण हो तो यह कलह कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। पहिले नववधू के कर्तव्य के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है और उसमें सासु के साथ बहू के कर्तव्य का भी उल्लेख हो चुका है इसलिये इस श्लोक में बहू के साथ सास के कर्तव्य का विवेचन किया है। प्रत्येक सास को यह समझ लेना चाहिये कि अपने यहां बहू होकर आई हुई स्त्री उसके पिता के घर तो पुत्री ही थी, इसलिये सास अपनी पुत्री के साथ जिस तरह व्यवहार करती है उसी तरह अपनी पुत्रवधू के साथ भी व्यवहार करे। बहू को दासी समझ कर बारम्बार उस पर क्रोध करना, उसका द्वेष करना, उपालंभ देना, यह एक सुज्ञ सासु को शोभा नहीं देता। सासु को संसार में लम्बे समय से जो शिक्षा मिली है वह बहू को प्राप्त नहीं हुई है, इस सबब से बहू के हाथ से कई जगह भूल होना संभव है। परन्तु उन भूलों के कारण क्रोध न कर हितबुद्धि से शिक्षा देना और शांति से उसे उसकी भूल दिखाना इसमें सासु के उच्च पद का सार्थक्य समाया हुआ है। नहीं तो सास पुत्रवधू के साथ जैसा हलका व्यवहार करती है वैसी ही शिक्षा पुत्र वधू को भी मिलती है और परम्परा से ऐसे कुटुम्ब में सुगृहिणियां उत्पन्न ही नहीं होतीं।

यहां प्रसंगानुसार एक रमणीय दृष्टान्त देना उचित होगा। एक प्रौढ़ा स्त्री अपनी वृद्ध सास के साथ बहुत ही नीच व्यवहार करती थी। घर के एक गंदे और अंधेरे भाग में वह अपनी सास को रखती और घर में जो जूठा बचे उसे एक मिट्टी के बर्तन में लेकर उसे खाने को दे देती। बिचारी वृद्ध सासु इससे बहुत दुखी थी, तो भी वह सुख दुख सह कर अपनी वृद्धावस्था के एक दो वर्ष निकालने के लिये सुख से यह सब सह लेती थी। इतने में इस प्रौढ़ा स्त्री के पुत्र का ब्याह हुआ और बहू घर को आई। बहू अपनी सास का अपनी बड़ी सास के साथ नीच व्यवहार देख कर बहुत दुखी हुई। अपनी सास को भान में लाने के लिये पुत्र वधू ने एक उपाय किया जिस मिट्टी के कटोरे में अपनी बड़ी सास को खाना दिया जाता था, वे सब कटोरे न फेंक के उसने इकट्ठे किये एक समय बहुत जूठे बर्तन उसकी सास ने देखे तब उसने अपनी बहू को इन्हें फेंक देने के लिये कहा। पुत्र वधू ने कहा सासु जी ! आप अपने वृद्ध सासु जी को इन बरतनों में जूठा खाना खाने को देती हो इसी तरह जब आप वृद्ध होंगे तब मुझे भी इन्हीं बर्तनों में आपको खाना देना होगा या नहीं ? इसीलिये मैं ये सब बर्तन इकट्ठे कर रखती हूं कि जिससे ये भविष्य में काम आवें"। यह उत्तर सुन कर सास तो आश्चर्यान्वित हो गई और समझ गई कि मैं खुद अपनी सासु के साथ नीच बर्ताव करती हूं, यही शिक्षा अपनी पुत्र-वधू को मिलती रही है और भविष्य में मुझे भी ऐसा ही दुख सहना पड़ेगा। उस दिन से वह सास अपनी सास के साथ सम्मान दृष्टि से व्यवहार करने लगी। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसी सास होती है वैसी ही बहुएं होती हैं कारण कि बहुधा सास के गुण ही बहू में देखा देखी प्रवेश करते हैं।

इसलिये अपनी पुत्रवधुओं को सुलक्षणी बनाने के लिये प्रत्येक सास को उनके साथ शुभ व्यवहार रखना चाहिये ।१५८।

पत्नीप्रति पत्युर्भावः ।१५९।

दासीयं गृह दास्यकर्मण इति श्वश्वा न संचिन्त्यतां ।
किन्त्वस्माकमियं वधूः कुल यशः सौख्य प्रदेति स्फुटम् ॥
किंचेयं मम धर्म कार्य करणे साहाय्य संपादिनी ।
सन्तत्युत्तमशिक्षि केति सततं पत्या विनिश्चीयताम् ॥

स्त्री के साथ कैसे भाव रखना ?

भावार्थ तथा विवेचनः—सासु को मन में ऐसा ख़याल न रखना चाहिये कि "यह तो दासी है घर में बेशक दासी का काम करे" किन्तु ऐसा ख़याल रखना चाहिये कि "यह तो मेरे कुल का यश और सुख बढ़ाने वाली, भविष्य की संतति को उत्तम शिक्षा देकर उन्नत बनाने वाली कुलवधू है", इसी तरह पति को भी ऐसा मानना चाहिये कि "मेरी स्त्री मुझे प्रत्येक समय में सहाय देने वाली, सुख बढ़ाने वाली, संतति को उच्च संस्कारों में दृढ़ कर उनका सद्भाग्य प्रफुल्लित करने वाली, सहधर्मिणी-सहचारिणी एक अच्छी नारी है।" इस तरह जिस घर में गृहिणी को योग्य दृष्टि से देखने में आता है वहां हमेशा सुख और सम्पत्ति का निवास रहता है। मनु जी ने कहा है कि:—

यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

अर्थात्:—जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है उनको मान भरी दृष्टि से देखा जाता है वहाँ हमेशा देवता निवास करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जहां स्त्री रूप कुल लक्ष्मी को योग्य मान मिलता है, वहां देवताओं को भी निवास करते

आनन्द होता है। इसके विरुद्ध जहां कलह हुआ करता है वहां से सम्पत्ति आपही आप विलीन हो जाती है। शेख सादी साहब ने अपनी 'गुलीस्तान्' में सच हां कहा है कि "जिस घर में से स्त्रियों के कलह का बड़ा आवाज सुना जाता है उस घर के लिये सुख के द्वार हमेशा बंद ही हो जाते हैं" ।१५६।

तृतीय परिच्छेद ।

विधवाओं का कर्त्तव्य ।

[दुर्भाग्य से कई बाल और युवा स्त्रियां वृद्ध हो जाती हैं और सधवा स्त्रियों की अपेक्षा विधवाओं के धर्म तथा कर्त्तव्य केवल निराले ही होते हैं इसलिये इस परिच्छेद में ग्रन्थकार ने उनका विवेचन किया है]

विधवानां-कर्त्तव्यम् ।१६०।

वैधव्यं स्वकठोर कर्म वशतो यद्याप्नुयार्य स्त्रिया ।
निर्वाह्यं सुसती पवित्र चरितान्यालोच्य सत्प्रज्ञया ॥
वैराग्यान्वित शील मेव परमं तस्या मतं भूषणं ।
यावज्जीवमखण्डितं हितकरं धार्यं न चान्यत्ततः ॥

विधवाओं का कर्त्तव्य ।

भावार्थः—कदाचित् किसी आर्य स्त्री को दुर्भाग्यवश विधवावस्था प्राप्त हो जाय तो उस अवस्था को पवित्र सती स्त्रियों के सुचरित्र सुनकर और उनका सद्भाव पूर्वक मनन कर बिताना चाहिये। वैराग्य वृत्ति के साथ ब्रह्मचर्य पालना यह विधवा स्त्रियों का परम उच्च भूषण है और इस उत्तम भूषण को उन्हें रात दिन, जीवन पर्य्यंत अपने शरीर पर अखंड रूप से धारण कर रखना चाहिये।

विवेचनः—पूर्व संचित किसी अशुभ कर्म के उदय से स्त्रियों को तरुणावस्था में वैधव्य प्राप्त होता है। प्रौढ़ावस्था में स्त्रियों को वैधव्य प्राप्त होने से जो कुछ मनोः दुख होता है उससे शतगुणा अधिक दुख तरुणावस्था में यह स्थिति हो जाने से होता है और उसके कारण स्पष्ट ही हैं। तारुण्यता की उछलती हुई उर्मियों में और संसार में ललचाने वाले अनेक आकर्षणों के मध्य में रह कर अपने शील को कलंकित न होने देना, यह अत्यन्त क्लिष्ट है। यह क्लिष्ट मानी गई अवस्था विधवा स्त्रियों को बहुत ही सावधानी से बितानी चाहिये। अपने को प्राप्त हुई अवस्था पर हमेशा रोने न रोवे 'सुखस्य दुखस्य न कोपि दाता। स्वकर्म सूत्र ग्रथितो हि लोकः'॥ अर्थात् अपने ऊपर कोई सुख या दुख लाकर नहीं डाल सका परन्तु अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों का यह फल है। ऐसा मानकर संतोष पूर्वक वैराग्य मय जीवन बिताने में चितको लगा रखना चाहिये। अपनी अपेक्षा सुखी सौभाग्यवती स्त्रियों को देखकर उनके सुख की कल्पना कर अपने को दुःखी मान, चित्त को हमेशा संतप्त करना आर्त ध्यान रूपी नये पाप बांधना है; उसके बदले 'चक्र वत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च' अर्थात् सुख और दुख चक्र की तरह घूमा करते हैं, ऐसा मानकर वर्तमान जीवन हमेशा संतोष मानते साधना चाहिये और चित्त वृत्ति को पूर्व सती स्त्रियों के सुचरित्र के स्मरण में लगा रखना कि जिससे दुख सहन करने का हृदय में बल आ जाय। पूर्व की सती स्त्रियों ने अपने सिर पर पड़े हुए दुःख किस तरह सहन किये थे और शील पर आक्रमण होने पर भी किस हिम्मत और बहादुरी से अपने इस भूषण की रक्षा की थी इनका स्मरण करने से हृदय में निराशा पैठती हुई रुकती है। शील यह सब का परम भूषण है तो भी विधवाओं को

तो अखण्ड ब्रह्मचर्य रूपी भूषण धारण करना ही चाहिये। इस श्लोक में शीलम् शब्द के पूर्व वैराग्यान्वित ऐसा सामासिक विशेषण लगाया है। "वैराग्य" धारण करना यह मनका व्यापार है। और इस वैराग्य से युक्त शील रूपी भूषण धारण कर रखने के उपदेश में ऐसी अन्तःसूचना है कि विधवा स्त्रियों को मन से भी शील को दूषित न करना चाहिये, कारण कि मन के वैराग्य विना अपकीर्ति के या दूसरे किसी भय से सिर्फ बाह्य शील का संरक्षण कर लेना तो भी मानसिक व्यभिचार का महत् पातक तो लगता ही है और इससे विधवाधर्म का खंडन होता है। मनुजी भी ऐसा ही अभिप्राय दिखाते हैं :—

> पतिं या नाभि चरति मनोवाग्देह संयता।
> सा भर्तृ लोक माप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥

अर्थात्—जो स्त्री मन, वचन और देह को अपने वश रख व्यभिचार नहीं करती। वह इस जन्म में या जन्मांतर में पति का सुख प्राप्त करती है और सज्जनों में वह साध्वी कहलाती है।१६०।

[मानसिक उसी तरह शारीरिक शील के रक्षणार्थ विधवाओं को कैसे बाह्याचार से वर्ताव रखना चाहिये वह नीचे के श्लोक में दिखाते हैं]

विधवानां बाह्याचारः ॥१६१॥

तप्ताङ्गारसमः स्त्रियाः पतिमृतौ शृङ्गार भारो खिल-
स्त्याज्यः काम कथापि कण्टकसमा शीलं शुभं रक्षितुम्॥
दुःसङ्गद्वृत भञ्जकाच्च नितरां तिष्ठेच्च दूरे ततो।
हेयं सूक्ष्मतरांशुकं च नियतं भोज्यं विकारोज्झितम्॥

विधवाओं को कैसा आचार रखना चाहिये ?

भावार्थ:—अंजन, मंजन, तिलक, ताम्बूल, विलेपन, अलंकार और वस्त्रच्छटा इत्यादि सधवा स्त्री के शृंगार हैं परन्तु विधवा स्त्रियों को तो अपने पति के मृत्यु बाद इन शृंगारों को आग के समान समझना चाहिये। उनका तो पवित्र शील, यही शृंगार है। उसकी रक्षा करने के लिये उनको कामोद्दीपक समय या कथाओं को कंटक समान गिनना चाहिये। दुष्ट मनुष्यों का संग अनर्थकारी और व्रत नष्टकारी होता है इसलिये उनके सहवास से परे रहना श्रेष्ट है। इसी तरह प्रत्येक कार्य में सादा वर्ताव करना, पोशाक भी सादी पहिनना, और मर्यादित रहना, भोजन भी विकारी, राजसी, तामसी नहीं परन्तु सात्त्विक करना चाहिये॥१६१॥

विवेचन:—सौभाग्यवती स्त्रियों के बाह्य शृंगार कि जो पति के लिये ही 'शृङ्गार' गिने जाते हैं उस पति की मृत्यु के पश्चात् असौभाग्यवती स्त्रियों के मन को 'अंगार' अर्थात् अग्नि से लगना चाहिये मतलब यह कि विधवा स्त्रियों को ऐसे शृङ्गारों को अग्नि समान गिन उन्हें धारण नहीं करना चाहिये। जिस तरह रात को नभ मण्डल में अनेक तारे चमकते रहते हैं परन्तु जो एक चंद्र नहीं होता तो रात्रि शोभा नहीं पाती और अंधकार मय रात गिनी जाती है। उसी तरह एक पति रूप मुख्य भूषण के गत होते ही एक स्त्री चाहे जितने अलंकारों से शरीर को दिपावे परन्तु उसका शरीर शोभा नहीं पाता। इस कारण से ऐसी स्त्रियों को शारीरिक क्षुद्र अलंकारों को त्याग शीलरूप परम अलंकार अलंकृत करना चाहिये। इसी तरह कामोद्दीपक चेष्टाओं और कथाओं का भी त्याग करना चाहिये क्योंकि इनके मानसिक आवेग से

शील का खंडित होना संभव है। विधवाधर्म यथातथ्य रीति से पालना महादुश्कर कार्य होने से दुर्जनों के साथ तो तनिक भी परिचय न रखना चाहिये कारण कि इससे दुर्जनों की दुष्टता का सम्बन्ध जुड़ता है, इतना ही नहीं परन्तु लोगों में अपकीर्ति भी होती है। विधवाओं को विकार के उत्पादक तमोगुण और रजोगुण युक्त भोजनों का त्याग भी करना आवश्यक है। विधवाओं को बाह्याचार पालने की भी जरूरत है। उसका कारण यह है कि अखंड बाह्याचार पालने से उनकी चित्तवृत्ति को कुव्यापार में लगने का अवकाश नहीं मिलेगा जिससे एक तप की प्राप्ति होगी ब्रह्मतप द्वारा इन्द्रियों के आकस्मिक आवेग से उनका चित्त मलीन नहीं होगा। विधवाओं को इस तरह वर्ताव रखना यही उनका धर्म है परन्तु उनपर कई समय बलात्कार किया जाता है, यह अयोग्य है। कोई तो विधवाओं के केश मुंडा डालते हैं, कोई उन्हें दिन २ भर भूखी या सूक्ष्म आहार पर रखते हैं, कोई विधवाओं को जमीन पर बिना बिछौने के सुलाते हैं और इस तरह उनसे बलात्कार तप करवाते हैं। विधवाओं को अत्यन्त शारीरिक कष्ट देना यह तो जीवित प्राणों के साथ निर्दयता-क्रूरता करने के कारण प्रथम व्रत नष्ट हुआ समझा जाता है॥ १६१ ॥

समय निर्वहनम् ।१६२।

सद्भावे किल संततेः समुचितं तद्रक्षणं सर्वथा ।
नो चेत् स्थित्युचितं विधाय निलये कृत्यं निजं सादरम् ॥
त्यक्त्वान्यां विकथां निवृत्ति समये विद्यार्जनं वाचनं ।
शास्त्रस्य श्रवणं विचिन्तनमथो धर्मस्य कार्यं पुनः ॥

विधवाओं को अपना समय किस तरह बिताना चाहिये ?

भावार्थ तथा विवेचनः—विधवा स्त्रियों को चाहिये कि अपनी संतति का गृह कार्य के साथ २ सब प्रकार से रक्षण करें और उनकी भविष्य की जिन्दगी सुधरे ऐसी योग्य शिक्षा दें तथा दुर्व्यसन से दूर रखने का ध्यान रखें। खासकर विधवा स्त्री को तो अपनी संतति के पालन में अधिक ध्यान देना योग्य है। कई समय विधवाओं के बच्चे बालवय में पिता अथवा अन्य किसी बड़े पुरुष के अंकुश बिना उच्छृङ्खल और दुर्गुणी बन जाते हैं। संतानों पर माता का स्वभाव अत्यन्त मायालु होता है, उस उदारता से अलाभ प्राप्तकर उनकी संतानें "रांड पुत्ता शाहजादा" बने हुए देखने में आते हैं। इसलिये संतानो के पालन में विधवाओं को विशेष लक्ष देना आवश्यक है। जो कदाचित् संतति न हो तो अपने कुटुम्ब की स्थिति के अनुसार घरमें अपने करने का गृह कार्य फिक्र और विवेक के साथ करलेने पश्चात् एक क्षण भी आलस्य या विकथा में न खोते उस निवृत्ति के समय में जो कोई पाठ-शाला, आश्रम या ऐसी ही दूसरी संस्था हो तो उसमें, नहीं तो किसी पढ़ी हुई स्त्री से नैतिक और धार्मिक शिक्षा प्राप्त करना चाहिये। अगर पढ़ना आता हो तो बड़ी २ सतियों के चरित्र या ऐसी ही उत्तम पुस्तकें पढ़ना और दूसरी स्त्रियों को सुनाना धर्म शास्त्र सुनने का योग हो तो धर्म स्थान में शास्त्र श्रवण करना या धर्म चिंतन इत्यादि सदनुष्ठान करना परन्तु निरर्थक वातों में व्यर्थ समय न खोना चाहिये। कितनी ही अकेली विधवाएं जिनको संतति नहीं, पतिसेवा में समय नहीं बिताना पड़ता उन्हें निवृत्ति समय बहुत मिलता है परन्तु वे अज्ञता के कारण कई अंश से उस समय का दुरुपयोग करती हैं।

ऐसा दुरुपयोग न करने की शिक्षा देने के लिये ही उन स्त्रियों के वास्ते ग्रंथकार को 'त्यक्त्वान्यां विकथां निवृत्ति समये' ऐसे निषेध सूचक शब्दों का उच्चार करना पड़ा है । १६२ ।

प्रौढ़न्निधवायाः कर्तव्यम् । १६३ ॥

सम्पन्ने निज शिक्षणे स्वचरिते लोक प्रतीतिं गते ।
लब्ध्वाज्ञां कुल नायकस्य विधवा कुर्यात्परार्थे मनः ॥
स्त्री वर्गस्य भवेद्यथोन्नतिरथ भ्रान्त्यज्ञते नश्यतः ।
स्वश्रेयोऽपि भवेत्तथाऽनवरतं यत्नं विदध्यात् सती ॥

प्रौढ़ावस्था में विधवा का कर्तव्य ।

भावार्थः—योग्य शिक्षा प्राप्त कर उस शिक्षा का लाभ दूसरी स्त्रियों को देना अथवा सामाजिक या धार्मिक सेवा करना यह शिक्षा का उत्तम उपयोग है । यह स्थिति पा कुटुम्बके अधिपति की आज्ञा ले विधवास्त्री को सामाजिक या धार्मिक सेवा करने के लिये प्रयाण करना चाहिये और अपनी शिक्षा का लाभ अन्य अनपढ़ 'स्त्रियों को इस तरह देना चाहिये कि जिससे उनके संदेह और अज्ञान नष्ट होजायँ । और अपना भी श्रेय होजाय उन्हें हमेशा ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिये ।१६३।

विवेचनः—पहिले तृतीयावस्था के धर्म का संक्षिप्त कथन किया है । उसपर से मालूम होता है कि तृतीयावस्था प्रौढ़ावस्था कहलाती है और इस अवस्था का मुख्य कर्तव्य परमार्थ साधना है । अपने ज्ञान तथा अनुभव का दूसरों को लाभ देना इस तरह परोपकार करना यही इस अवस्था का प्रमुख धर्म है । प्रौढ़ावस्था प्राप्त हुई स्त्रियों का भी यही धर्म है: और जो इस अवस्था में वैधव्य भी प्राप्त होजाय तो भी इस धर्म

के पालने में कुछ अंतराय नहीं आसक्ती। प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने तक कई विधवाओं के बालक भी बड़े होजाते हैं और उनकी रक्षा की विशेष चिंता नहीं रहती। इस अवस्था में जो निवृत्ति समय मिले उस समय अपनी जैसी दुखी विधवाओं को या समस्त स्त्री समाज को सन्मार्ग पर लगानेका प्रयत्न करना इस के समान शायद ही कोई दूसरा पुण्य कार्य होगा. स्त्री समाज में शिक्षा के कम प्रचार से अज्ञान और संदेह का वास बहुत देखा जाता है और इसी से उन्हें संसार में बहुत यातनाएं भुगतनी पड़ती हैं। इन दुःखों से वे मुक्त होजायँ और संसार को सुख मय बनासके ऐसा चैतन्य उनमें उत्पन्न करने से उनका श्रेयः होता है और उनके साथ उनके श्रेय के मार्ग को खुला करने वाली विधवाएं भी पुण्य भागिनी होती हैं. परोपकार के ऐसे कार्य करना एक विधवा स्त्री का किसी भी प्रकार से बाधक नहीं होसक्ता। तो भी ग्रंथकारने इस-श्लोक में एक वाक्य ऐसा कहा है कि जिससे विधवाओं का एक विशिष्ट धर्म सूचित होता है। यह वाक्य 'लब्धआज्ञां कुल नायकस्य' इतने शब्दों से बना है। प्रौढ़वय पाकर और परोपकार जैसे शुभ कार्य में चित्त वृति देने पर भी "कुलके बड़ों की आज्ञा लेना" और फिर उस कार्य का प्रारंभ करना इस सूचना से स्पष्ट जाहिर होता है। प्रत्येक स्त्री को प्रत्येक अवस्था में स्वतंत्र रहने का विचार भी नहीं करना चाहिये। मनुजी ने कहा है कि:—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥

अर्थात्:—स्त्री का बालवय में पिता, युवावस्थामें पति, और वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करता है क्योंकि स्त्री स्वतंत्रता के अयोग्य है। आजकल 'सेवासदन' 'वनिताविश्राम' इत्यादि

संस्थाएं निकली हैं । ये संस्थाएं विधवा और सधवा स्त्रियों द्वारा चलती है और उस में जिंदगी अर्पण करने वाली स्त्रियों में अपनी बहिनों का हित किस तरह हो सका है, दूसरी स्त्रियों को वह मार्ग बताने में आदर्श रूप है । ऐसी संस्थाओं में कार्य पद्धति की शिक्षा प्राप्त कर ऐसी दूसरी संस्थाएं खोलना अथवा इन संस्थाओं में रहकर स्त्री वर्ग को उपयोगी कार्यों में अपना जीवन बिताना यह आधुनिक परोपकार में समय बितानेवाली विधवाओं के लिये सलाह है।

परोपकार में ही अपना समय बितानेवाली देवी अघोर कुमारी का चरित्र सु प्रसिद्ध है। यह स्त्री अनपढ़ स्थिति में ब्याही जाकर अपने पतिके घर आई थी, परन्तु पति के आग्रह से और अपने परिश्रम से वह थोड़े ही समय में पति से पढ़ना लिखना सीख गई उसका पति प्रकाशचंद्र बांकीपुर में एक बड़े सरकारी पद पर नियुक्त था. तो भी वह कामिनी बहुत साधारणता से रहती थी। उसे अपने शरीर पर अलंकार पहिनना अच्छा नहीं मालूम होता था वह स्त्रियों की सभाओं में बिलकुल आदर नहीं पाती थी तो भी वह बिलकुल सफेद सादे वस्त्र पहिनती थी। ग्राम में किसी दिन घर में कोई बीमार होता और उसकी हिफाजत करने वाला कोई न होता तो वह मध्य रात्रि में भी उठकर उसकी सेवा सुश्रुषा करने जाती थी। अपने घर में २०-२५ अनाथ बालकों को वह हमेशा रखती और उनका पालन कर उन्हें पढ़ाती थी। उसके पश्चात् उसने लड़कियों को शिक्षा देने के लिये एक पाठशाला खोली परंतु आप खुद अधिक पढ़ी न होने से लोग अपनी पुत्रियों को उस पाठशाला में नहीं भेजते थे। उस कामिनी ने दूसरे ग्राम जाकर वहां ट्रेनिंग कालेज में पांच वर्ष तक अभ्यास किया। और फिर कन्या पाठशाला खोली।

प्रकाशचंद्र का प्रायः समस्त वेतन कामिनी गरीबों को दान देने, रोगियों की सेवा सुश्रुषा करने या अन्य परोपकार के कार्य में खर्च कर डालती थीं. और उसमें पति की भी आज्ञा होने से कामिनी को यह परार्थ जीवन बहुत ही सुखद और आनंददायक मालूम होता था। कामिनी की युवा पुत्री भी उसके पति के त्याग करने से अपनी माता के पास रहती थी, और उसके दुख के कारण कामिनी को भी अधिक धक्का पहुंचता था तो भी वह धैर्यता से सब दुख सहती और पति के जीते रहते हुए भी विधवा जैसी अवस्था प्राप्त अपनी पुत्री को कामिनी ने अपने जैसा परार्थ जीवन बिताने की शिक्षा दी। आज देवी अघोर कुमारी के गुण पटना बांकीपुर में घर २ गाये जाते हैं।१६३।

[विधवाओं के अन्य मनुष्यों के साथ के धर्म कह देने के पश्चात् कुटुम्बादिकों के विधवाओं के धर्मों का कथन किया जाता है]

विधवाः प्रति कुटुम्बिनां वर्तनम्। १६४।

वर्षत्स्नेहसुधाभृता शुभदृशा कौटुम्बिकैः सज्जनैः।
सम्प्रेक्ष्या विधवा विशुद्धचरिता मान्याश्च साध्वीसमाः॥
आसां स्यात्कुपितं मनो न हि पुनर्विघ्नोपि विद्यार्जने।
सत्कार्यप्रतिबन्धनं च न भवेद्धर्त्यं तथा ताः प्रति॥

कुटुम्बादिकों को विधवाओं के साथ कैसा व्यवहार करना चहिये?

भावार्थः—श्वसुरवाले या पिता के पक्ष वालों को विधवा के साथ अति कोमल और सदय हृदय से तथा स्नेह सुधा वर्षाने वाली दृष्टि से देखना चाहिये। उसे अनाथ समझ उसका पूर्ण रीति से पालन करना चाहिये। प्रत्येक पवित्राचरण वाली विधवा को एक साध्वी स्त्री के समान

सम्मान देना चाहिये । किसी भी समय उसका मन कुपित या व्यग्र न हो, उसके अभ्यास में बाधा न पड़े, और अभ्यास कर लेने के पश्चात् सत्कार्य, समाज सेवा, और धर्म सेवा बजाने की तरफ उसकी चित्त वृत्ति झुके उसमें अंतराय न लगे इस तरह उसके साथ वर्ताव करना प्रत्येक कुटुम्बी का परम कर्तव्य है । १६४ ।

विवेचनः—विधवा स्त्रियों से दिधवा सरीखे धर्मों का पालन कराने में बलात्कार करना अयोग्य है यह पहिले कहा गया है। यहां इसी आशय का उपदेश ग्रंथकारने विधवा स्त्री के सम्बन्धी पुरुषों को दिया है। वैधव्य के असह्य दुख से दुखित केवल लाचार बनी हुई विधवा स्त्रियों के साथ कुटुम्बियों को दयालुता का व्यवहार रखना चाहिये। उनके बड़ों को अपने पुत्र की मृत्यु के पश्चात् पुत्रवधू को पुत्र तुल्य समझ मृतपुत्र के स्मारक सम गिनना चाहिये, और उस विशुद्ध चरित्र वाली स्त्री को एक साध्वी समान समझ उसका योग्य सत्कार करना चाहिये। इस प्रकार का वर्ताव न करके जो विधवाओं को 'अभागिनी' 'पति का जीव लेने वाली' और ऐसे ही अन्य विशेषणों से विभूषित करते हैं वे महान पाप कमाते हैं। निराधार और लाचार पशुओं को या माता पिताओं के मर जाने से अनाथ हुए बालकों को देखकर प्रत्येक पुरुष को दया आये बिना न रहेगी। इसी तरह पति के मरने से जिनका इह लोक में सर्वस्व छीन गया है। ऐसी विधवाओं को देखकर जिन्हें दया न आवे उसमें मनुष्यत्व नहीं ऐसा कह सक्ते हैं। विधवाओं के धर्म में पहिले कहा जा चुका है कि कौनसा भी शुभ कार्य हो अपने बड़ों की आज्ञा प्राप्त कर प्रारंभ करना और यहां कुटुम्ब, स्वजनों को यह उपदेश दिया गया है कि विधवाओं को विद्या अभ्यास कार्य में

या दूसरे शुभ कार्य करने में अंतराय नहीं देना चाहिये। विधवा स्त्री को लाचार स्थिति प्राप्त हो जाने से उसे सबका दासत्व स्वीकार करना चाहिये, यह मान्यता अमान्य है। इतना सच है कि दुर्भाग्य से ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर स्त्रियों को विशेष नम्रता रखने की आवश्यकता है कारण कि इस विशिष्ट गुण बिना वह भाररूप गिनी जाने वाली विधवा आप्त जनों को विशेष अप्रिय हो जाती है। परन्तु उसे घर का दास्य कर्म सौंपना और उसे पवित्र जीवन बिताने में मदद देनेवाली कौनसी ही विद्या न प्राप्त करने देना या परोपकार अथवा ऐसे ही अन्य सत्कार्य करने से रोकना, यह तो अनुचित ही है। इसलिये विधवाओं को उनके विधवा धर्म में सहायभूत होने वाले कार्यों के करने से न रोकना चाहिये, बल्कि कौटुम्बिक जनों को उसमें उत्तेजना देनी चाहिये ॥१६४॥

चतुर्थ परिच्छेद।

पुरुषों के धर्म कृतज्ञता और प्रत्युपकार।

कृतज्ञता प्रत्युपकारौ ॥१६५॥

एते सन्त्युपकारिणो मम कदा कुर्याममीषां हितं।
बोध्योऽयं हि कृतज्ञता भिधगुणो यैवंविधा भावना ॥
तेषां यद्‌बहुमानपूर्वमनिशं साहाय्यदानं मुदा।
ख्यातः प्रत्युपकारनामकगुणः सोयं सतां सम्मतः ॥

निरुक्तगुणद्वयस्य प्रत्येकमप्यावश्यकता ।१६६।

एतौ द्वौ सुगुणौ मनुष्यनिहवहेवश्यं सदाऽपेक्षितौ ।
दृश्येते शुनकादिके पशुगणेप्येतौ यतः स्पष्टतः ॥
न स्तो यत्र गुणाविमौ स मनुजाकारोपिनीचः पशो-
र्गार्हस्थ्यं सुगुणान्विहाय सफलीकर्तुं समर्थः कथम् ॥

कृतज्ञता और प्रत्युपकार ।

भावार्थः—उस मनुष्य ने मुझे उस कार्य में मदद दी, मुझ पर उपकार किया, उस उपकारी पुरुष के उपकार का बदला मैं कब चुका सकूंगा? ऐसी इच्छा या भावना को विशुद्ध लोग कृतज्ञता कहते हैं। इसी तरह वैसा प्रसंग आने पर उपकारी पुरुषों का अत्यन्त मानपूर्वक आदर सत्कार करना और किये हुए उपकार का बदला चुकाने के लिये उनके कार्य में अपनी शक्त्यनुसार तन मन से मदद करना और वैसा कर आनन्द मानना इसी गुण को 'प्रत्युपकार' के नाम से सत्पुरुषों के समुदाय ने प्रसिद्ध किया है ॥ १६५ ॥

इन दोनों गुणों की प्रत्येक को आवश्यकता है ।

'कृतज्ञता और प्रत्युपकार' ये दोनों शब्द इतने दीर्घ व्यापी हैं कि उनका न्यूनाधिक अंश पशु पक्षियों में भी देखा जाता है। कुत्ते जैसे पशु भी जिसका नमक खाते हैं, उसकी पूर्ण सेवा बजा कृतज्ञता और प्रत्युपकार के गुण स्पष्ट तौर से दिखा सकते हैं तो फिर मनुष्य जाति जो समस्त जातियों में उत्तम और सभ्य गिनी जाती है उसे इन गुणों की क्या आवश्यकता नहीं होती? जिन मनुष्यों में ये दोनों गुण बिलकुल न हों तो समझना चाहिये कि वह केवल दिखाने मात्र का मनुष्य है। वास्तविक रीति से तो वह पशु से भी अधिक

अधम है। उपरोक्त दोनों गुणों रहित मनुष्य, मानुषिक गुणों का संग्रह कर गृहस्थपने को सफल नहीं कर सक्ता।

विवेचनः—उपरोक्त प्रथम श्लोक में 'कृतज्ञता' और प्रत्युपकार शब्द की व्याख्या दी है। कृतज्ञता अर्थात् किसी ने अपने साथ उपकार किया है उसका जानना अथवा किसी ने अपने साथ जो उपकार किया है उसकी पूर्ण क़द्र करना यही कृतज्ञता कहलाती है। और कृतज्ञता के मानसिक गुण से उत्पन्न हुआ जो कुछ उपकारी पुरुष के साथ का सत्कार वह (प्रति उपकार) 'प्रत्युपकार' अर्थात् उपकार के बदले में उपकार करना यह गुण कहलाता है। 'कृतज्ञता' यह मन द्वारा या वाणी के व्यापार द्वारा दर्शायी जा सक्ती है, और प्रत्युपकार तो वाणी या शरीर के कार्य द्वारा हो सक्ता है। ये दोनों गुण जिन संसारियों में न हों उनका संसार सरलता से नहीं चल सक्ता। संसार के कार्य में प्रत्येक मनुष्य को दूसरे मनुष्यों के मदद की आवश्यकता है और वैसी मदद करने वाले उपकारी पुरुषों की फिर मदद न की जाय तो पारस्पारिक व्यवहार नहीं निभ सक्ता अर्थात् किसी के अपने पर किये हुए उपकार की क़द्र करना और समय आने पर उन्हें मदद दे प्रत्युपकार द्वारा बड़े नैतिक ऋण से मुक्त होना यह प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। इन गुणों का पशु-पक्षियों में भी स्वाभाविक होना संभव है। दूसरे श्लोक में श्वान के उदाहरण द्वारा इन गुणों की व्यापकता दिखाई है और इन गुणों से रहित मनुष्य को श्वान से भी अधिक अधम समझा है। कुत्ता अति अधम प्राणी समझा जाता है और कितने तो उससे स्पर्श करना भी अपवित्र समझते हैं तो भी उसमें एक प्रत्युपकार का बड़ा भारी गुण है। वह अपने मालिक का अन्न खाकर उनकी सम्पत्ति की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है। जो गुण

कुत्ते में है वे गुण मनुष्य में न हों तो वे कुत्ते से भी अधम गिनाने के पात्र हैं। और इसी कारण से ग्रंथकार की तरह सुभाषितकार भी कृतघ्न मनुष्य को कुत्ते से भी अधम गिनते हैं:—

शोकं मा कुरु कुक्कुर सत्वेष्वहमधम इति मुधा साधो ।
कष्टादपि कष्टतरं दृष्ट्वा श्वानं कृतघ्ननामानम् ॥

अर्थात्:—हे श्वान! 'सब प्राणियों से मैं नीच हूँ' ऐसा तू व्यर्थ शोक मत कर—कारण कि तुझ से भी अधिक नीच कृतघ्न नामक एक श्वान है, उसे देख ।१६५-१६६।

[प्रत्युपकार करने योग्य सबसे पहिले सम्बन्धी जन माता पिता हैं। उनके साथ सुपुत्र के कर्तव्य के विषय में ग्रंथकार विवेचन करते हैं]

पुत्रंप्रति पित्रोरुपकारः ।१६७।

मान्या यद्यपि तेखिला गुरुजनाः प्रौढा विशिष्टाश्च ये ।
नैकट्यात्पितरौ च तेष्वपि सदा पुत्रस्य पूज्यौ मतौ ॥
ताभ्यां योपकृतिः कृतातिमहती तस्याः पुनर्निष्कृतिं ।
कर्तुं लक्षतमांशतोऽपि न सुतः शक्नोति सेवादिना ॥

किं किं करणेऽपि प्रत्युपकारोऽशक्यः ।१६८।

नाशं क्वापि भनक्ति यो जनकयोः सेवापटुः सर्वदा—
भीष्टं भोजयति स्वयं सुमनसा तौ स्तः प्रसन्नौ यथा ॥
स्कंधे वाहयते यथारुचि च तौ निःसीमभक्त्या मुदा ।
कर्तुं निष्क्रयणं तयोस्तदपि नो पुत्रः कथंचित् क्षमः ॥

माता पिता का उपकार ।

भावार्थ:—एक युवा गृहस्थ को, अपने से अधिक उमर के प्रौढ़ और शिष्ट जितने भी बड़े आदमी हैं वे सब

माननीय और आदरणीय हैं, तो भी अपने जन्मदाता और पालने वाले माता पिता पुत्र के निकट सम्बन्धी अत्यन्त और खास कर सर्वथा आदरणीय और पूजनीय हैं। क्योंकि उन्होंने पुत्र के पालन में और उनके हितार्थ जो प्रेम भाव से परिश्रम सह पुत्र का उपकार किया है उसके बदले पुत्र योग्य वय में माता पिता की जितनी सेवा करे तौ भी उपकार का सतवां भाग भी प्रत्युपकार करने में पुत्र शक्तिमान नहीं हो सकता। इतना अधिक माता पिता का पुत्र पर उपकार है।१६७।

क्या करने पर भी प्रत्युपकार नहीं हो सकता ?

जो पुत्र हमेशा माता पिता की सेवा में प्रस्तुत रह उनकी आज्ञा सिरो धार्य करे, कभी भी आज्ञा न लांघे, माता पिता को अभीष्ट भोजन कराये बिना आप भोजन न करे, जिस तरह माता पिता प्रसन्न प्रफुल्लित रहैं वैसा बर्ताव रक्खे इतना ही नहीं बल्कि काम पड़ने पर माता पिता को स्कंधा रूढ़ कर अत्यन्त भक्ति भाव से मा बाप की इच्छानुसार पृथ्वी पर्यटन करावे और माता पिता के मन को खुश रखने के लिये जिन्दगी भर घोर श्रम करे तौ भी पुत्र माता पिता के उपकार का पूर्ण बदला नहीं चुका सकता।

विवेचनः—पुत्र पर माता पिता के अनहद् उपकार का विवेचन इन दो श्लोकों में किया है। मनुष्यावतार अत्यन्त दुर्लभ है और इस अवतार के निमित्त भूत माता पिता का संतान पर बड़ा भारी उपकार है। शुभ कृत्य द्वारा मोक्ष पाने के साधन समान मनुष्य देह को जन्म देने वाले इन उपकारी माता पिता के उपकार का बदला किसी भी तरह चुक सक्ता हो तो वह कार्य प्रत्येक पुत्र को सब से प्रथम करना चाहिये। संसार में कृतज्ञता का सब से पहिला और उत्तमोत्तम पाठ सीखने का यही प्रसंग है। विशेष में पुत्रादि के पालने में

माता पिता को जो कष्ट सहने पड़ते हैं वे प्रायः प्रीति सेवन के लिये ही सहते हैं। उनसे उऋण होने के लिये पुत्र को क्या करना चाहिये ? इस विषय पर मनु जी भी इस प्रकार कहते हैं किः—

यं माता पितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्याकर्तुं वर्षशतैरपि॥

अर्थात्:—बालकों को पालन कर बड़े करने में माता पिता ने जो कष्ट सहे हैं, उनका बदला सौ वर्ष तक सेवा करने पर भी नहीं चुक सकता। परन्तु माता पिता के नैतिक ऋण से किंचिदंश मुक्त होने के कुछ मार्ग ये हैं। माता पिता की सेवा में हमेशा तत्पर रहना, दिन रात उनकी आज्ञानुसार व्यवहार करना, उनको भोजन कराने पर भोजन करना, उनके योग्य मान-मर्यादा का पालना, उनका चित्त हमेशा प्रसन्न रहे ऐसा कार्य करना इत्यादि। इस श्लोक में ग्रंथकार ने माता पिता के उपकार की महत्ता का रूपक 'ठाणांग सूत्रानुसार दिया है कि जो पुत्र कदाचित् माता पिता को कंधे पर बिठा पृथ्वी पर्यटन करावे तो भी माता पिता के उपकार का सम्पूर्ण बदला नहीं चुका सकता। ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे का उक्त पाठ निम्नाङ्कित हैः—

तिण्हं दुप्पड़ियारं समणाउसो तंजहा अम्मापिउणो भट्टिस्स धम्मायरियस्स संपाउविण्णं केडपुरिसे अम्मापियरं सयपाग सहस्स पागेहिं तिल्लेहिं अभिंगेत्ता सुरमिणा संवट्टणणं उव-ट्टित्ता तिहिं उदगेहिं मज्जावेत्ता सव्वालंकार विभूसियं करेत्ता मणुण्णं थाली पाग सुद्धं अट्ठार जणाउलं भोयणं भोआवेत्ता जावज्जीव पिट्ठिवडिंसिया ते परिवहेज्जा तेणावि तस्स अम्मा-पिउस्स दुपड़ियारं भवइ अहेवणंसे तं अम्मा पियरं केवली पण्णत्ते धम्मे आघवइत्ता पणवइत्ता परुवइत्ता ठावित्ता भवइ तेणामेव तस्स अम्मापिउस्स सुपड़ियारं भवई।

अर्थात्:—हे आयुष्यवान श्रमणो ! तीन जनों पर प्रत्युपकार बहुत कठिनाई से होता है। ये तीनों मनुष्य, माता, पिता, पालन पोषणकर्ता, और धर्माचार्य हैं। (पहिले माता पिता के प्रत्युपकार की रीति दिखाते हैं) कोई एक मनुष्य अपने माता पिता को शत पाक, सहस्त्र पाक के तेल से मर्दन करावे, सुगंधादि पदार्थ मल कर शुद्धोदक, गंधोदक, या उष्णोदक ऐसे तीन प्रकार के जल से स्नान करावे, सब योग्य भूषण पहिनावे, अठारह प्रकार के शाक युक्त मनोज्ञ भोजन करा जहाँ तक जीवित रहे अपने स्कंध पर बिठा कर फिरता रहे तो भी माता पिता ने जो पुत्र पर उपकार किया है उनसे वह पुत्र उऋण नहीं हो सकता। परन्तु जो वह पुत्र अपने माता पिता को केवली निरोपित धर्म का उपदेश दे अनुकूल संयोग मिला उन्हें धर्म में दृढ़ करता है वही प्रत्युपकार कर सकता है।

प्रत्युपकार का सम्पूर्ण भाग इसी तरह दिखाया है मातृ पितृ भक्ति का एक ज्वलंत उदाहरण पितृ भक्त श्रवण का है जो रामायण में दिया है। श्रवण के माता पिता अंधे और वृद्ध होने से उनकी एक अंतिम इच्छा तीर्थयात्रा करने की थी। उसे पूर्ण करने के लिये श्रवण ने अपने माता पिता को एक कावड़ में बिठा उस कावड़ को स्कंध पर उठा कर अनेक तीर्थ स्थानों की यात्रा कराई। पितृ भक्ति का एक द्वितीय दृष्टान्त डामा नामक पालेस्टाइन के जौहरी का है। जेरुसेलम के आचार्य को हार के लिये थोड़े उत्तम हीरे की चाहना थी उनके लिये डामा के घर अनेक मनुष्य गए। डामा ने कितने ही हीरे दिखाये उनमें से एक भी खरीदार ने पसंद नहीं किया डामा ने कहा "तुम ठहरो, मैं पास के खण्ड से दूसरा माल ले आता हूं"। ऐसा कह कर जहां उसके पिता सोये थे

वहां गया परन्तु हीरे निकालने के लिये द्वार खोलने से गड़-बड़ मची। जिससे तनिक जगकर पिता ने दूसरी तरफ लेट लगाई। यह देख कर सोचा कि अधिक द्वार खोलूंगा तो अधिक आवाज़ होगी और पिता की निद्रा भंग होगी। वह हीरे न निकाल वापिस लौट आया और हीरे न लाने का कारण, पिता की निद्रा भंग न करना, दिखाया। ग्राहकों ने समझा कि इनके पास दूसरा अच्छा माल नहीं है जिससे ये ऐसे बहाने निकालते हैं पिता की निद्रा भंग न हो इस कारण डामा ने अधिक लाभ त्याग दिया। आज कल कहां है ऐसी पितृ भक्ति? ।१६७।१६८।

कथं प्रत्युपकारः शक्यते कर्तुम् ? ॥१६९॥

किं नास्त्येव तथाविधं किमपि यद्दत्त्वा प्रमोदास्पदं ।
स्वर्गीयं सुखमात्मनश्च सहजं संसाधयेन्निष्कृतिम् ॥
अस्त्येतादृशमेकमेव विदितं वस्त्वत्र धर्मात्मकं ।
तस्मान्निष्कृतये सुतः पितृ मनः कुर्यात्सुधर्माश्रितम् ॥

उपकार का बदला किस तरह दिया जा सका है?

भावार्थ:—क्या इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो आत्मा को शांति प्रदान करे और दूसरे भव में भी सुखदाई हो? पुत्र को ऐसी उम्दा वस्तु की भेंट देने का प्रसंग प्राप्त हो जाय और उस समय वह ऊपर बताये हुए सुख के साथ निरुक्त वस्तु माता पिता को अर्पण करे तो कितनेकांश वह माता पिता के उपकार से उऋण हो सकता है। प्रश्न यह होता है कि वह वस्तु कौन सी है? उत्तर में कहना चाहिये कि वह उत्तम वस्तु धर्म है। धर्म इस भव में

शांतता प्रदान करता है, और परभव में भी सद्गति देता है, दोनों भव में सुखकर्ता है। इसलिये पुत्र माता पिता की आज्ञा पालने के साथ २ ऐसे संयोग प्राप्त करे जिनसे उनकी अभिरुचि धर्म की ओर झुके कि जिससे गुणज्ञता और प्रत्युपकार के गुणों की रक्षा हो सके।१६९।

विवेचनः—पूर्व के श्लोक के विवेचन में ठाणांग सूत्र का पाठ दिया है उसमें कहा है कि "जो पुत्र माता पिता को केवली धर्म का उपदेश देकर सानुकूल संयोग प्राप्त करा उन्हें धर्म में दृढ़ करता है वही प्रत्युपकार कर सकता है"। यही कथन इस श्लोक में किया है। माता पिता पुत्र को जन्म दे, उसे पाल, शिक्षा दे, आरोग्यादि के लिये खर्च कर उसे गृहस्थाश्रम में फँसाते हैं, उनके इन अनहद उपकारों का बदला इस श्लोक में तथा ठाणांग सूत्रानुसार इस तरह क़ायम किया है कि पुत्र को माता पिता को धर्म में लगाना चाहिये। इस कथन में साफ्ययुक्तिवाद यह है कि माता पिता पुत्र को जन्म देने में निमित्त भूत है—साधन भूत है। प्रायः उनके इस जन्म के कारण, उनके विगत भव के सुकर्म हैं तो भी इस जन्म के, इस जीव के मनुष्य देह के साधन भूत माता पिता होकर उनकी इस निमित्त भूतता के कारण हो उनका पुत्र पर अत्यन्त उपकार है। इस जीव को मनुष्य का देह प्राप्त कराने में ये माता पिता ही निमित्त भूत हुए और सिद्ध गति प्राप्त करने—पाने के संयोगों में यह जीव लीन हुआ। इसलिये माता पिता की निमित्त भूतता विशिष्टत्वमय समझनी चाहिये। जिस जीव को माता पिता ने ऐसी उच्च स्थिति पर पहुंचाया उस जीव को चाहिये कि उसके बदले में वह भी माता पिता को ऐसी ही उच्च स्थिति प्राप्त करावे, उपकार की महत्ता के प्रमाण से ही उसका बदला होना चाहिये।

थोड़े उपकार का थोड़ा बदला और बड़े उपकार का बड़ा, इसी न्यायानुसार पुत्र को माता पिता की पारलौकिक स्थिति पर्याप्त कराने का प्रयत्न करना चाहिये—उसके लिये साधनभूत होना चाहिये। पिता को धर्म का उपदेश देना, ऐहिक चिंताएं त्याग एक केवली या केवली प्रणीत धर्म में चित्तलीन करने की सुचाना, उनके अनुकूल संयोग प्राप्त कर देना, इन्हीं से उनके महद् उपकारों का योग्य बदला दिया जा सकता है। मातापिता ने तो सिद्ध गति प्राप्त करने के लिये पुत्र को मनुष्य देह दी और पुत्र उस गति को प्राप्त करने योग्य सुकार्य न करे तो इसके उत्तरदाता माता पिता नहीं। इसी तरह उनसे उऋण होने के लिये पुत्र माता पिता को सिद्धगति पाने योग्य धर्म में चित्त मग्न करने के लिये मानसिक तपश्चर्या करने के संयोग प्राप्त कर दे। उपदेश दे, यत्न करे इस पर तो भी माता पिता उस स्थिति तक न पहुंचे तो पुत्र उत्तर दाता नहीं। ऐसा करने से ही पुत्र मातापिता के महद् उपकारों के ऋण से मुक्त हो सके हैं और विशेषतः इतना लाभ प्राप्त करते हैं कि उनकी कुल असर पुत्र के भविष्य की संतति पर पड़ने से वे समस्त कुल के उदय करने के संयोग प्राप्त कर देते हैं ॥ १६९ ॥

[अब माता पिता को धर्म में लीन करने की विधि दिखाते हैं

पित्रोर्नैश्चिन्त्यसंपादनेप्रयत्नः ।१७०।

निश्चिन्तं निरुपाधिकं यदि भवेच्चित्तं प्रसन्नं सदा ।
धर्मे शांतिसमन्विते दृढतरं स्थैर्यं तदा लभ्यते ॥
तस्मात्सद्व्यवहारमार्गनिपुणैः कार्यः प्रयत्नस्तथा ।
स्यात्पित्रोर्हृदयं यथा समुचितं धर्मं क्षमं सेवितुम् ॥

प्रत्युपकार प्रयत्ने कृते फला भावेऽपि सुतस्य निर्दोषता ।१७१।

पुत्रो धर्मपरायणो विनयवान् भक्त्या स्वधर्मेण वा ।
कर्तुं वांच्छति सर्वथा जनकयोः सौख्यं द्विधाप्युत्तमम् ॥
तृष्णादोषवशौ तथापि यदि तौ नो शक्नुतः सेवितुं ।
धर्मं शांतिलवं च कश्चिदपि चेद्दोषः सुतस्यात्र कः ॥

माता पिता की चिन्ताएं दूर करना।

भावार्थः—जब धनादि की उपाधि और व्यापार गृह-व्यवहार की चिंताएं चित्तसे हटती हैं और समीप की आधि व्याधि दूर रहने से चित्त वृत्ति स्वस्थ और प्रसन्न रहती है तब जिससे शांति और परमानन्द प्राप्त हो ऐसे धर्म में रुचि बढ़ने के साथ मन दृढ़ता से लीन होता है और उससे रस उत्पन्न हो स्थिरता होती है इसलिये सुपुत्र को हर एक व्यवहार कार्य में कुशलता प्राप्त कर माता पिता के सिर पर पड़े हुए गृहकार्य के भार को अपने सिर उठा मातापिता को उस उपाधि से मुक्त करने की कोशिश करना चाहिये। पीछे उन्हें चिन्ता न हो और मन अप्रसन्न न रहे ऐसी दक्षता से सुपुत्र को उनके अनुकूल वर्त्ताव करना चाहिये कि जिससे वे प्रसन्नतापूर्वक धर्माचरण कर पीछे ज़िन्दगी साफल्य बना सद्गति प्राप्त कर सकें ॥ १७० ॥

पुत्र के प्रयत्न से भी माता पिता को धर्म का रंग न लगा तो?

जो पुत्र विनीत, माता पिता का भक्त और धर्म परायण है। माता पिता को शांति दे संतुष्ट रख धर्म की अनुकूलता कर देना अपना कर्त्तव्य धर्म समझता है और ऐतिहासिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त करने के लिये माता पिता को सम-

आता है, उनकी चिंता तथा उपाधि दूर करने के लिये घोर परिश्रम सहता है और विविध दृष्टांत दे उनके मन को शांत करने के लिये अपनी शक्ति भर प्रयत्न करता है तो भी माता पिता का मन तृष्णा में लयलीन होनेसे धर्म में बिलकुल नहीं लगता और दिन रात चिंता रूपी सुलगती हुई होली तनिक भी शान्त नहीं रहती और जिन्हें अन्त समय तक लेश मात्र भी शान्ति नहीं मिल सकी, वहां किसका दोष समझना चाहिये ? दोष सिर्फ उनके कर्मों का ही है। उनके पुत्र का नहीं ॥१६१॥

विवेचनः—पूर्व श्लोक से सम्बन्धित इन दो श्लोकों में के प्रथम श्लोक में माता पिता की धर्म की ओर रुचि पैदा करने की युक्ति दिखाई है। साधारणतः कितने ही पुत्र वृद्ध माता पिता से त्रस्त हो कहते हैं कि "अब एकांत में बैठकर परमेश्वर का नाम क्यों नहीं लिया करते हो, व्यर्थ बकवाद कर सिर क्यों पिचाते हो ?" यह कुछ मातापिता की धर्म में रुचि पैदा करने का उपदेश नहीं यह तो एक प्रकार से उनका अपमान करना है। बहुत समय तक संसार में और संसारिक विडम्बनाओं में लीन रहा हुआ जीव एकदम धर्म प्रेमी नहीं हो सकता, ऐसा समझकर पुत्र को उनकी रुचि देखकर उनके मनको धर्म तरफ़ लगाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। कहा है कि—श्रावयेन्मृदुलां वाणीं सर्वदा प्रियमाचरेत्। अर्थात् उन्हें हमेशा मधुर वचन सुनाना और हमेशा उनका हित करना। सब से पहिले उनकी ऐहिक चिन्ताओं के विषयों को समझ लेना चाहिये क्योंकि जब तक चिन्तारूपी मैल उनके चित्त रूपी पट से अलग न होगा उनका चित्त पट स्वच्छ नहीं हो सकता। और चित्त पट स्वच्छ हुए बिना धर्म का मन मोहक रंग नहीं लग सकता इसलिये प्रथम उनकी चिन्ताएं दूर करनी चाहिये। उनकी चिन्ताएं ऐसी हों कि हमारी मृत्यु बाद हमारे छोटे २ बाल

बच्चों की क्या दशा होगी ? तो बड़े पुत्रों को उनकी चिन्ता दूर कर उन्हें कोमल वचनों से अश्वासन देना चाहिये कि मैं उन्हें अपने पुत्र समान समझ कर तनिक कष्ट नहीं होने दूंगा। इसी तरह की उनकी अन्य ऐहिक चिन्ताएं हों उनका भी निवारण करना चाहिये। उनके सिर पर पड़े हुए गृह व्यवहार के भार को भी हटा लेना चाहिये जिससे चित्त शान्त रखने के लिये उन्हें बहुत समय मिल सके। वृद्ध देह के अनुकूल दूसरे सुख साधन अथवा धर्म चिन्तन के लिये एकांतादि उपकरण की योग्य व्यवस्था भी पुत्र को कर देना चाहिये। और फिर उन्हें धर्म में चित्त लीन करने का उपदेश दे उस मार्ग की ओर प्रवृत्त करना चाहिये। मनुजी ने भी कहा है कि 'तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यात्' अर्थात् मातापिता को हमेशा प्रिय होना। उनका श्रेष्ठ से श्रेष्ठ ऐहिक तथा पारलौकिक प्रिय यही है कि उन्हें धर्म में रत करें और उसकी विधि ऊपर दिखाई ही है। इतना करते हुए भी जो माता पिता के चित्त पट पर धर्म का रङ्ग न चढ़े तो फिर उनके कर्म को दोष देना ही समुचित है। 'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोत्र दोषः ?' प्रयत्न करने पर भी कोई कार्य सिद्ध न हो तो फिर इसमें किसका दोष है ? पुत्र अपनी शास्त्र विशिष्ट क्रिया बजावे तो भी उस कर्त्तव्य का यथेष्ट फल न मिले और माता पिता किसी अधम जीव योनि में से पैदा होने के कारण धर्म तरफ़ न लगें तो इसमें पुत्र दोष का पात्र नहीं रहता इस तरह माता पिता के साथ प्रत्युपकार का यही एक मार्ग है और सुपुत्र को इसी मार्गानुसार व्यवहार करना चाहिये ॥ १७० । १७१ ॥

[ऐसा कर्त्तव्य न बजानेवाला पुत्र माता पिता के ऋण से मुक्त नहीं हो सकता, इतनाही नहीं परन्तु उनके उपकार को भूल जाने के कारण वह कृतघ्न गिना जाता है यह अब नीचे के श्लोक में दिखाते हैं।]

कृतघ्नता ।१७२।

दुःशीलाङ्गनया यथाकथमपि व्युद्ग हितो यो गृही ।
विस्मृत्यैव तदर्हणं नु कुरुते दुःखाकुलं तन्मन: ॥
प्रायो धर्म पराङ्मुखोयम धमो नूनं कृतघ्नो नरो ।
न स्थातुं क्षणमप्यलं शुभतरे कर्त्तव्यकार्ये पुनः ॥

कृतघ्नता।

भावार्थ तथा विवेचनः—माता पिता के अप्रतिम उपकारों की महत्ता प्रथम दिखाई है और उन उपकारों से उऋण होने के लिये प्रत्युपकार की विधि भी दिखाई है:—वह कर्त्तव्य न बजाने वाला पुत्र कुपुत्र ही समझा जाता है। दूसरों के उपकारों को भूल जाने वाला कृतघ्न समझा जाता है। कृत+घ्न अर्थात् किये हुए उपकारों का नाश करने वाला भूल जानेवाला वही कृतघ्न। आजकल कितने ही उद्धत, कम समझ और अभिमानी पुत्र वृद्ध माता पिता के उपकारों को भूलकर उन्हें दुख देने लग जाते हैं। उनके ऐसे व्यवहार में कई समय उनकी ईर्षालु और अभिमानवती युवान स्त्रियाँ ही कारण भूत होती हैं। वे अपने पति को उनके वृद्ध माता पिता के विरुद्ध समझाती हैं, और अपनी ईर्षामय प्रकृति को तृप्त करती हैं। जो मूर्ख होते हैं वे ही ऐसी समझ में आते हैं और अपने माता पिता के कृतघ्न हो जाते हैं। जो कृतघ्न बन कर माता पिता का तिरस्कार करते हैं, उनके मन को दुखाते हैं, वे गुण चोर कहला कर अधमाधम गिनाते हैं। 'अविनीतः सुतो जातःकथं न दहनात्मकः? अविनीत-उद्धत पुत्र माता पिता को दहन करने वाली अग्नि के समान क्यों न लगे? कारण कि ऐसे कुपुत्र माता पिता के तथा समस्त कुलके नाशकर्ता होते हैं। जिस

तरह एक सूखा वृक्ष अग्नि से जलने के कारण उसके साथी समस्त दूसरे हरे झाड़ों को या समस्त वन को अग्नि से भस्मी-भूत कर देता है। ऐसे कृतघ्न और नीच पुत्र कर्त्तव्य के उत्तम मार्ग पर एक क्षण भी पग नहीं उठा सक्ते॥ १७२॥

[पिता के जितना ही उपकार करनेवाले अन्नदाता या पालनेवालों के प्रति जो कर्त्तव्य किये जाने चाहिये वे नीचे के श्लोक में दिखाये हैं]

सहायकाना प्रत्युपकारः ।१७३।

येषां स्नेहजुषा दृशा व्यवहृतौ प्राप्तः समृद्धिं परा-
मिच्छेत्प्रत्युपकारमात्महृदये तेषां कृतज्ञो मुदा ॥
सोयं यद्यपि दुष्करो निगदितः प्रायस्तथाप्युत्तमं ।
दत्त्वा धर्मसहृत्तवस्तु समये सेयं कृतिः साध्यताम् ॥

पालक और उद्धारक के साथ प्रत्युपकारः।

भावार्थः—जिनकी स्नेह और दयापूर्ण अमीदृष्टि से एक मनुष्य व्यवहार में आगे बढ़ा, दीन था वह समृद्धिवान हुआ, और अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर प्रसिद्ध बना, उस सुखी बने हुए गृहस्थ को अपने सहायकर्ता उपकारी पुरुष का उपकार कभी भी न भूलना चाहिये। समय आनेपर गुणज्ञ हो उपकार का बदला चुकाने के लिये उद्यत रह अपनी कुलीनता प्रत्यक्ष दिखा देनी चाहिये। इतना अवश्य याद रखना चाहिये कि जिस तरह माता पिता पर प्रत्युपकार अत्यन्त परिश्रम से ही हो सक्ता है उसी तरह अपने प्रतिपालक या उद्धारक सेठ के साथ भी प्रत्युपकार सरलता से नहीं हो सक्ता। किन्तु श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पदार्थ जो कुछ हो और वह पदार्थ भेट करने का समय आजाय तभी प्रत्युपकार हो सक्ता है अर्थात् माता पिता के समान प्रतिपालक सेठ का भी अनहद उपकार है। जो २

अपने उपकारी हैं उनके साथ प्रत्युपकार करने से ही मनुष्य कृतज्ञ हो सक्ता है ॥ १७२ ॥

विवेचन:—चाणक्य नीति में पांच प्रकार के पिता कहे हैं जन्म देने वाला, राजा, गुरु, अन्नदाता और भय से रक्षा करने-वाला। इनमें भी अन्नदाता, पालक या सेठ की गिनती की है, सारांश यह है कि जितना उपकार माता पिता का है, उतनाही महद्उपकार राजा, गुरु, अन्नदाता, इत्यादि का है और इसीलिये उनके साथ प्रत्युपकार करना भी अत्यन्त कठिन है। जो धर्म, एक सुपुत्र को अपने जन्म देनेवाले पिता के साथ अदा करने पड़ते हैं, वे ही ध अन्य पिताओं के साथ भी अदा करना योग्य हैं। अपने पालक की आज्ञा मानना, उनसे सुविनीतता से रहना, उनका योग्य सत्कार करना, ये तो एक नौकर के सामान्य कर्त्तव्य ही हैं परन्तु कदाचित् दैवयोग से सेठ की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई या वे वृद्ध हो गये तो भी एक विश्वास या विनयी नौकर को सेठ के साथ यथार्थ कर्त्तव्य अदा करना चाहिये। ऐसा करने पर भी सेठ के अनहद उप-कारों का सम्पूर्ण बदला नहीं चुक सक्ता। जिस मार्ग से यह बदला दिया जा सक्ता है वह एक मार्ग, जन्म देनेवाले पिता के उपकारों का बदला देने की तरह, ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे में यों दिखाया है:—केइ महच्चे दरिदं समुक्कसेज्जा तएणं से दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे पच्छापुरंचणं विउलं भोग समिह समण्णागएयावि विहरेज्जा तएणं से महच्चे अण्णया कयाइं दरिद्दो हूए समाणे तस्स दरिद्दस्स अंतियं हव्वमागच्छेज्जा तएणं से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्सवि दलयमाणे तेणाव्वि तस्स दुप्पडियारं भवइ अहेणं से तं भट्टिं केवलीपण्णत्त धम्मे-आघवइत्ता, पण्णवइत्ता, परूवइत्ता ठावइत्ता भवइ तेणामेव तस्स भट्टिस्स सुप्पडियारं भवई॥ अर्थात् कोई साहूकार

किसी दरिद्री को मार्ग पर लगा आजीविका में मदद दे और उसकी उन्नति करदे ; साहूकार के आश्रयसे वह दरिद्री मनुष्य विपुल वैभव तथा धन प्राप्त करे ; कर्म की विचित्रता से वह साहूकार दरिद्री हो जाय और आश्रय लेने के आशय से उन्हें धनाढय बने हुए अपने नौकर के पास जाय। उस समय वह नौकर अपने सेठ को दरिद्रावस्था में देखकर वहां आया समझ उसे अति मान सम्मानपूर्वक अपनी सब सम्पत्ति अर्पण करदे तो भी सेठ के किये हुए उपकार का बदला वह नौकर नहीं चुका सक्ता। बदला चुकाने का सिर्फ एक उपाय यह है कि वह सब वस्तुओं से श्रेष्ठ धर्म जो किसी तरह अपने सेठ को समझा सके तो प्रत्युपकार हो सक्ता है॥ १७३॥

पंचम परिच्छेद।

पुरुषों के धर्मः—उदारता और सहिष्णुता।

[संसार में चित्र विचित्र प्रकृति के स्त्री. पुरुषों का सहवास करना पड़ता है और उनके साथ सुलह भी रखनी पड़ती है इसलिये उदारता और सहिष्णुता गुणों की अनिवार्य आवश्यकता है इसी विषय का इस परिच्छेद में वर्णन किया है]

औदार्यं सहिष्णुता च। १७४।

दातैकः कृपणः परश्च चपलो धीरो परो मन्दधी-
रेवं चैकगृहेपि भिन्नरुचयः कौटुम्बिकाः स्युर्जना॥
तेन्योन्यस्य न चेत्स्वभावजनितं भेदं सहन्ते मनाग्।
जागर्त्येव गृहे तदा प्रतिदिनं क्लेशो पिरयावहः॥

उदारता और सहनशीलता।

भावार्थः—प्रत्येक गृहस्थ के लिये कुटुम्ब में रह सुखी जीवन बनाने के लिये उदारता और सहन शीलता इन दो गुणों की परमावश्यकता है। एक घर में रहने वाले बहुधा सब मनुष्य एकसी प्रकृति के नहीं होते। कोई उदात्त मनको दातार रहता है तो कोई कंजूस प्रकृति का। कोई चपल स्वभाव वाला तो कोई धैर्य गंभीर स्वभाव वाला, कोई विशेष बुद्धि वाला विद्वान् रहता है तो कोई मन्द बुद्धिधारी मूर्ख, इस तरह अधिक या कम स्वभाव में अंतर रहता है। इस समय जो किसी एक मनुष्य में अपने साथियों में से किसी मनुष्य की जो चाहे नरम हो या गरम, स्वभाव सहन कर सकने की उदारता या सहन शीलता न हो तो वह घरमें निशि दिन परस्पर कलह जगाता है। जहां क्लेश है वहां विपत्ति अवश्य रहती है और उनका जीवन दुखमय हो जाता है॥ १७४॥

विवेचनः—गृह संसार में उदारता और सहनशीलता के गुण कुटुम्ब के प्रत्येक मनुष्य में होना प्रथम आवश्यक है। स्त्रियों के कथन में, स्त्रियों में भी इन गुणों की आवश्यकता दिखाई है, कुटुम्ब के प्रतिष्ठित पुरुष जो उमदा मनवाले, समझदार, गरम नरम दृश्य देखकर प्रासंगिक टेववाले होते हैं तो वे घर के अनुसार स्त्री समाज को वश में रख या उपदेश दे कलह बन्द कर सकते हैं और इसे बन्द करने में विशेषकर पुरुषों के मनकी उदारता और सहिष्णुता ही की अत्यन्त आवश्यकता है। इतना सच है कि कुटुम्ब के समस्त मनुष्यों की प्रकृति एक सी नहीं होती। जब दो विरोधी गुण एक दूसरे के सामने आते हैं तब वे एक दूसरे पर आघात, प्रत्याघात किये बिना नहीं रह सके। इसी तरह कुटुम्ब का एक मनुष्य

दाता हो और दूसरा कंजूस हो तो उनके व्यक्तिगत गुण एक दूसरे का संघर्षण कर कलहरूपी अग्नि पैदा करते हैं। उन दोनों में से एक भी मनुष्य उदार मनका और सहिष्णु हो तो दूसरे के स्वभाव को सह लेता है जिससे क्लेश नहीं हो सक्ता अथवा कुटुम्ब का मुखिया जो उदार और सहनशील होता है तो दोनों को समझा कर शांत कर देता है और फिर कौटुम्बिक क्लेश होना बन्द हो जाता है। कुटुम्ब के स्त्री और पुरुष दोनों में ये सद्गुण हों तो वह कुटुम्ब हमेशा सुख से ही समय व्यतीत करता है, परन्तु जो स्त्री, समाज में ये गुण न हों और पुरुषों या पुरुषों के मुखिया में ही ये गुण हों तो वह सब पर अपने गुणों का प्रभाव डालकर कुटुम्ब को सुलह में स्थिर रख सक्ता है ॥ १७४ ॥

[इन गुणों के अभाव से क्या परिणाम होता है वह नीचे के श्लोक में दिखाते हैं]

असहिष्णुता परिणामः । १७५ ।

आर्णां कलहेन यत्र सुखदं चैक्यं विनश्येद्यदा ।
नष्टं तस्य गृहस्य गौरवयशः ख्यातिप्रतिष्ठादिकम् ॥
तस्मादैक्यबलोच्छ्रयाय गृहिणा सर्वप्रसङ्गे पुनः ।
सोढव्यं परमादरेण सकलं कृच्छ्रं हिताकाङ्क्षिणा ॥

असहनशीलता का परिणाम ।

भावार्थ तथा विवेचनः—एक दूसरे के परस्पर प्रकृति का अंतर न सह सकने के कारण अरुचि या द्वेष हो जाता है जिससे जो कुछ परस्पर ऐक्य या सम्पथा वह कम हो जाता है और परस्पर मन भिन्न होने से एक दूसरे की बदनामी करने लग जाता है अर्थात् लोगों में उस घर की ऐबें ज़ाहिर होने लगती

है। उनकी ख्याति-प्रतिष्ठा घट जाती है लाज-इज्जत कम हो जाती है, चारों तरफ छीनता होती है और थोड़े ही समय में वह घर गिरती दशा में आ पड़ता है, इसलिये विचारशील मनुष्यों को चाहिये कि यदि वे अपना और कुटुम्ब का हित चाहते हों तो कुटुम्ब के अंदर ऐक्य या सम्प रक्खें। सम्प से ही विजय है, सम्प यही बल और गौरव है। कौटुम्बिक कलह से छिन्न भिन्न होकर नाश हुए कई आर्यगृह आज सुन हैं। ऐं कथनानुसार मानसिक औदार्य और सहिष्णुतापूर्वक जो कौटुम्बिक कलह न दबाया जाय तो इन गुणों की अनुपस्थिति में कुटुम्ब के विनाश होने का समय समीप आ जाता है सहनशीलता रखकर एक दूसरे की प्रकृति को सहन कर लेने का गुण अपने में न हो तो अंत में प्रकृति संकष्ट सहनें की शक्ति अपने पर ज़ोर से चलाती है और असहनशीलता का परिणाम संकष्ट सहन करने के रूप में अपने को प्राप्त हो जाता है ॥१७५॥

अनौदार्ये चेर्ष्यायाः सामर्थ्यम् । १७६ ।

यः स्वस्मादधिको भवेच्च सुगुणैर्ज्येष्ठः कनिष्ठोथवा ।
प्रख्यातं भुवि तद्यशोधिकतरं तस्मिन्प्रसङ्गे यदि ॥
नौदार्यं भवति प्रमोदजनकं भ्रात्रोस्तदेर्ष्योद्भव-
स्तत्साहोपपरम्परा हि गृहिणां पुण्याङ्कुरोन्मूलिनी ॥

उदारता की अनुपस्थिति में ईर्षा की शक्ति।

भावार्थः—एक कुटुम्ब में छोटे या बड़े भाई में अपने से अधिक चतुराई हो तो उसे लोगों द्वारा अधिक सम्मान मिलता है, चारों ओर उसकी यश-कीर्ति फैल जाती है और लोगों में उसकी अधिक प्रशंसा होती है। उस समय यदि

दोनों में उदारता का गुण न हो तो दो महान दोष उत्पन्न हो जाते हैं। एक में ईर्ष्या रूपी दोष प्रकट होता है और दूसरे के मन में घमण्ड पैदा हो जाता है और वह अपने से अधिक शक्ति वाले के सामने भी अपनी कीर्ति गाने लगता है तथा उनका तिरस्कार करता है जिससे उनके चित्त में भी घृणा उत्पन्न हो जाती है; और इसी ईर्ष्या के बलसे खटपट, परस्पर निन्दा, कलह, परस्पर दोषारोपण, इत्यादि पुण्यरूप अंकुर को भस्म कर देने वाले दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं जिससे कुटुम्ब अनेक प्रकार से अवनति या अस्त व्यस्त हो जाता है॥ १७८॥

विवेचनः—मानसिक उदारता के अभाव में कैसा अनिष्ट परिणाम होता है ? वह दिखाने के लिये यहाँ ग्रंथकार दो सहोदर बन्धुओं का दृष्टांत देते हैं। सुभाषितकार ने कहा है कि 'नास्ति बन्धु समो रिपुः' अर्थात् भाई के समान संसार में कोई दूसरा वैरी नहीं। यह कथन कदाचित् किसी को विचित्र मालूम होगा क्योंकि संसार में सहोदर भाई सा कोई सम्बन्धी नहीं ऐसी कहावत है और उक्त कथन में इसके प्रतिकूल शत्रुता दिखाई है; परन्तु अनुदार भाई के सम्बन्ध में सुभाषितकार का यह कथन सत्य ही प्रमाणित होता है दो भाइयों में एक विद्या, कला, ज्ञान, सम्पत्ति, इत्यादि में दूसरे से बढ़ चढ़ कर निकलता है तो दूसरे का अनुदार हृदय ईर्ष्या से जलने लगता है। दोनों भाई एक ही पिता के पुत्र होने से समान हैं, जिससे ईर्षालु भाई सोचता है कि विद्या, सम्पत्ति, इत्यादि में भी समान ही रहना चाहिये परन्तु अपने से अपने भाई की शक्ति की विशेषता के कारण अपना भाई बढ़ चढ़ निकले तो इसमें ईर्ष्या करने का कोई कारण नहीं, ऐसा वह मूर्ख नहीं समझ सकता। हीनावस्था वाला भाई

अपने हृदय की ईर्ष्या से उस उन्नतावस्था प्राप्त भाई को पतित करने की कोशिश किये बिना नहीं रहता। जिसके फल से उन्नतावस्था वाला उसे खराब करने का प्रयत्न करता है। जो वह उदार हृदय हो तो अपने ईर्ष्यालु भाई को समझा कर शांत करने के पश्चात् उसे भी अपने जैसा सम्पत्तिवान करने का प्रयत्न करे; परन्तु ऐसा गुण उसमें न हो तो दोनों में ईर्ष्याङ्कुर ऐसे बड़े प्रमाण से फूट निकलते हैं कि वे एक दूसरे के विनाश में ही प्रवृत्त रहते हैं। अरबी भाषा में एक कहावत है उसका अर्थ यह है कि 'बुरी कृति को शुभ कृति से हटा देना' जिससे शुभ कृत्य, बुरे कृत्य पर प्रभाव डालकर उसे भी शुभ बना दे परन्तु जो बुरी वृत्ति को बुरे कृत्य द्वारा ही हटाया जाय तो वह बुरे कृत्य करनेवाले पर ही हमला करेगी। इसी प्रकार जो ईर्ष्या का शमन करने की एक में उदारता हो उसका फल अच्छा मिलता है परन्तु जो दोनों में ईर्ष्या की जागृति हो जाय तो दोनों का विनाश हो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। यह दृष्टांत दो भाइयों से सम्बन्ध रखता कहा है परन्तु वस्तुतः सबको ही लागू हो सका है ॥ १७६ ॥

[उदारता और सहनशीलता ये दो सद्गुण हैं जहां तक ये मर्यादा में हैं वहां तक सद्गुण हैं और मर्यादा का उलंघन करने पर दुर्गुण के समान हो दुष्परिणाम देते हैं इस विषय में अब कहा जाता है।]

औदार्य सहिष्णुतयोरवधिः । १७७ ।

यद्यन्यस्य विलक्षणः क्षतिकरो दुष्टस्स्वभावः पर-
स्तद्दुष्टत्वविनाशनाय गृहिणा यत्नो विधेयो भृशम् ॥
यत्नेचेत् प्रकृतिर्नशुद्ध्यति मनाक् कौटुम्बिकस्योद्धता ।
तत्सम्बन्धविघट्टनेपि गृहिणो नौदार्यहानिस्तदा ॥

उदारता और सहनशीलता की सीमा।

भावार्थः—जो कदाचित् सम्बन्धियों में किसी मनुष्य का स्वभाव अति दुष्ट और विलक्षण हो और उससे दूसरों की हानि होना संभव हो तो यथा संभव उसके स्वभाव की दुष्टता का विनाश करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि ऐसा करने पर भी उसकी प्रकृति वश में न हो सके और उस प्रकृति के साथ सम्बन्ध रखनेवालों को आर्थिक, नैतिक या आत्मिक हानि होने की संभावना जचे या उस समय सुज्ञ गृहस्थ उसके साथ सम्बन्ध रख द्वेष क्लेशादि में भाग लेने लगें तो श्रेष्ठ यही है कि उससे सम्बन्ध छोड़ तटस्थ रहें और शांतता रक्खें। ऐसा करने में सहनशीलता या उदारता कम करना पड़े तो कुछ नुकसान नहीं उभय का या अपना हित हो सके यहां तक ही उदारता की सीमा है।१७३।

विवेचन:—सर्वदा और सर्वथा उदार होने से दुष्ट पुरुषों को अनुचित लाभ लेने का बहुत मौका मिल जाता है जिससे सज्जनों की उदारता दुर्जनों की पालक हो जाती है। उदारता और सहनशीलता के सद्गुण शुभ कार्यों के पालक हैं परन्तु दुर्जनों के दुष्ट कार्यों के लिये नहीं। जो एक पुरुष दुर्जन के पोषनार्थ अपनी उदारता दिखाता है तो वह पुरुष या तो पहिले दुर्जन होना चाहिये अथवा दुर्जन की दुर्जनता को न समझ व्यर्थ उदारता दिखानेवाला मूर्ख होना चाहिये। इसी लिये विद्वान् पुरुषों ने उदारता की भी सीमा स्थित की है। और उस हद के बाहर उदारता दिखाने से वह हानिकारक हो जाती है ऐसा कहा है। यह सीमा कैसे समझना चाहिये इसलिये ग्रंथकार ने दुष्ट स्वभाव के एक कौटुम्बिक जनका

दृष्टांत दिया है। कुटुम्ब में एक दुष्ट मनुष्य हो और उसके दुष्ट आचार विचार से कुटुम्ब के अन्य जनों की हानि होना सम्भव हो तो प्रथम उसकी दुष्टता दूर करने के लिये उसके दुष्ट कार्यों को क्षमा कर देना चाहिये जिससे वह अपनी भूल समझ ले कहा है कि:—

आजन्म सिद्धं कौटिल्यं खलस्य च हलस्य च।
सोढुं तयोर्मुखाक्षेपमलमेकैव सा क्षमा॥

अर्थात्:—दुष्ट मनुष्य और हलकी कुटिलता जन्म से ही सिद्ध है इसलिये उनके मुख के आक्षेप सहन करने के लिये एक क्षमा ही की आवश्यकता है। (दुष्ट जन के लिये क्षमा—सहन शीलता और हल के लिये क्षमा पृथ्वी समझना) यदि ऐसी क्षमा भी उसे सुधारने में निष्फल हो जाय तो उसे शिक्षा दे उसकी दुष्टता भुलाने का प्रयत्न करना चाहिये। कदाचित् 'दुर्जनः कृत शिक्षोपि सज्जनो नैव जायते' वह ऐसा भयंकर दुर्जन हो तो फिर उसकी दुष्ट वृत्तियों से होती हुई हानि से बचने के लिये कुटुम्ब से उसका त्याग करना ही योग्य है। इतना सच है कि इस तरह उसका त्याग करने से स्वाभाविक उदारता में क्षति आती है परन्तु यह क्षति दोष रूप नहीं कही जा सकती और वास्तविक रीति से उदारता की हानि हुई भी नहीं समझी जाती। उदारता का उपयोग विनय के साथ होना चाहिये। यह दिखाने के लिये ही ऐसी सीमा स्थिति करने की आवश्यकता ग्रंथकार ने दिखाई है कि जो सर्वथा योग्य है। १७७।

[उदारता और सहिष्णुता के भेद नीचे के दो श्लोकों में दिखाये हैं]

औदार्य प्रकारः । १७८ ।

दृष्ट्वात्मीयजनोन्नतिं भवति यच्चित्तं प्रफुल्लं भृशा-
मौदार्यं किल मध्यमं निगदितं प्राग्गृहिस्थाश्रमे ॥
साहाय्यं तदधोगतौ सुमनसा यद्दीयते चार्थिकं ।
यावच्छक्तिगुणोत्तरेण गृहिणौदार्यं प्रधानं हि तत् ॥

उदारता के भेद।

भावार्थ तथा विवेचनः—उदारता के दो भेद हैं। एक, मध्यम और दूसरा उत्तम, उपरोक्त कथनानुसार अपने भाई, कुटुम्बी, सम्बन्धी, और स्वदेश बंधु की चढ़ती कला अपने से अधिक शक्ति और मान पाने देखकर ईर्षा न कर अधिक प्रमोद से आनंदित होना, उनकी उन्नति देख प्रफुल्लित होना यह मध्यम उदारता है। इस सामान्य उदारता का भी जन समाज में अभाव ही है इसीलिये वे ईर्षा के वश हो अपनी ही हानि कर लेते हैं। दूसरी उत्तम और प्रधान उदारता यह है कि अपने भाई, कुटुम्बी, या सम्बन्धियों में से कोई भी मनुष्य निराधार हो गया हो। विना साधन के भटकता हो, शिक्षा प्राप्त करने या आजीविका चलाने की कांक्षा रखता हो उसे ऐसे समय में प्रेम और आनन्द के साथ अपनी शक्त्यनुसार तन मन और धन से कुछ न कुछ मदद करे तथा विश्वास दे उसके कष्ट दूर करे या आश्वासन दे अश्रु पूँछ अत्यन्त वत्सलभाव से अपने भाई या पुत्र की तरह मान हर एक रीति से आश्रय दे। यद्यपि ऐसी उदारता दिखाने का साधन धनवानों को ही प्राप्त है तथापि ऐसी उदारता वाले विरले ही होते हैं। जहां दूसरे की सम्पत्ति देख ईर्षा सुलग रही हो वहां से अपनी सम्पत्ति दूसरों को देने जितनी उदारता की आशा कैसे हो सकी है। सच है किः—

शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पंडिता ।
वक्ता दश सहस्रेषु दाता भवति वा न वा ॥

अर्थात्:—सौ पुरुषों में एक शूरवीर होता है, सहस्र में एक पंडित और दस सहस्र में एक वक्ता, परन्तु दातार तो हो या न हो ।

सहिष्णुता प्रकार । १७६ ।

यद्येषास्ति सहिष्णुता सुगृहिणां सामर्थ्ययुक्ता वरा ।
साप्यौदार्यगुणे सुपर्यवसिता प्राधान्यमापद्यते ॥
नो सामर्थ्ययुता तदा व्यवहृता सा नम्रताख्ये गुणे ।
द्वावेतावरिवर्गतोपि विशदप्रीत्यर्जने शक्नुतः ॥

सहिष्णुता के भेद ।

भावार्थ तथा विवेचनः—उदारता की तरह सहनशीलता के भी दो भेद हैं एक उत्तम और दूसरा मध्यम अमुक मनुष्य की ओर से किसी समर्थ पुरुष की अवज्ञा हुई और यह समर्थ पुरुष अवज्ञा करने वाले को दण्ड दिलाना चाहे तो दिला सकता है परन्तु वह उसपर दया लाकर कुछ भी बदला न चखावे तो समर्थ पुरुष की सहनशीलता उत्तम श्रेणी की है। और उसका पर्यवसान उदारता में होता है। असमर्थ मनुष्य समर्थ मनुष्य को क्षमा कर सहनशीलता दिखाता है वह मध्यम प्रकार की है। उसका पर्यवसान नम्रता में होता है। प्रथम श्रेणी की सहिष्णुता तो अत्यंत श्रेष्ठ है उसी तरह मध्यम सहिष्णुता भी गृहस्थों के लिये कम लाभकारी नहीं। यह सहनशीलता दुश्मनों के हृदय को पिघाल, द्वेषभाव दूर कर, द्वेष के स्थान पर वत्सलता का बीजारोपण कर, दुश्मनों के

हृदय में प्रेम भाव उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखती है। ऐसे उदारता और नम्रता रूपी दो गुण सहिष्णुता के दोनों भेदों में समा जाते हैं। अपकार के बदले में उपकार करने योग्य उदारता का एक दृष्टांत सर फीलीप सीडनी का है। एक मूर्ख युवाने सर फीलीप सीडनी के साथ कलह किया। इतना ही नहीं परन्तु सर फीलीप को लड़ने के लिये पुकारा तो भी सर फीलीप लड़ने के लिये प्रस्तुत न हुआ तब उस मूर्ख युवाने सर फीलीप के मुंह पर थूक दिया और उसका उसने भयंकर अपमान किया। सर फीलीप ने कहा "युवा ! जिस सरलता के साथ मैं अपने मुंह से अपना अपमान पूंछ डालता हूं उतनी ही सरलता से मैं अपने हृदय से अपना (मनुष्यत्व का) रक्त उबालूं तो इसी समय मैं तुम्हारे प्राण ले सक्ता हूं।" सर फीलीप ने इस समय अनुपम उदारता के समान सहिष्णुता दिखाई क्योंकि यदि वह निश्चय कर लेता तो तुरंत उसके अपमान का बदला सरलता से ले सका था। सामर्थ्य पुरुष शक्ति होते हुए उदारता दिखावें इसी से वे उत्तम श्रेणी के गिने जाते हैं। तथा असमर्थ पुरुष में शक्ति न होने से वह किसी का अपमान शांतिपूर्वक सहन कर लेता है यह उसकी गहन समझ का फल है जिस से नम्रता प्रकट होती है यह गुण मध्यम प्रकार का है। (राजा चोर को दण्ड देता है और चोर असमर्थता के कारण वह दण्ड सह लेता है परन्तु आंतरिक नम्रता नहीं रहती वह सोचता है कि अगर मौका मिल जाय तो राजा पर हाथ उठाऊं. यहां चोर का सहिष्णुता रूपी गुण नहीं समझा जा सक्ता. कारण उसकी सहिष्णुता उसके आंतरिक नम्रता रूपी गुण से अयुक्त है) ॥ १७८ ॥

[व्यक्ति और व्यक्ति के अधिकार के कारण इन गुणों की भिन्न २ रीति से आवश्यकता है जो ये गुण न हो तो प्रत्येक व्यक्ति को उनके फल भी भिन्न २ प्राप्त होते हैं यह नीचे के श्लोक में दिखाया है]

औदार्याचमाभावस्य परिणामः। १८०।

स्यादौदार्यगुणो न चेदधिपतौ गेहस्य वा संसदो।
नो शक्नोति चिरं स नायकपदे स्थातुं व्यवस्थाकृते॥
न स्याच्चेद्धि सहिष्णुताश्रितजने दक्षेपि भृत्ये पुनः।
स प्राप्नोति न वत्सलत्वमुचितं भ्रश्येद्भृशं स्वार्थतः॥

उपरोक्त दोनों गुणों की अनुपस्थिति का फल।

भावार्थः--यद्यपि उदारता के गुण की आवश्यकता प्रत्येक मनुष्य को है तथापि जो मनुष्य कुटुम्ब का अधिपति या सभा का सभापति—प्रमुख अथवा देश का राजा हो उसमें उदारता होने की परमावश्यकता है जो उनका मन उदार न हो तो वे कम अधिकार प्राप्त मनुष्यों को प्रिय नहीं हो सके। और अधिक मनुष्य उनके प्रतिकूल हो जाते हैं। अधिक मनुष्यों के विरुद्ध होने से व्यवस्था भंग हो जाती है और उनकी महत्ता हवा हो जाती है। इसी तरह सहन-शीलता का गुण खासकर आश्रित मनुष्यों या नौकर अथवा अति दुर्बल मनुष्यों के प्रति काम का है। जो चतुर नौकर हो और उसमें ऐसे गुण न हो तो वह अपना कार्य कभी अदा नहीं कर सक्ता। इसी तरह मालिक की प्रीति भी नहीं पा सक्ता और स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। १८०।

विवेचनः—अनुदारता और असहिष्णुता से होती हुई अनेक हानियों का प्रथम विवेचन किया गया है। जिन जिन मनुष्यों में उदारता, और सहिष्णुता के गुणों का अस्तित्व रहता है, वे सुख पाते हैं और उपरोक्त गुणों रहित मनुष्य अनेकानेक कलह-कष्टादि भुगतते हैं परन्तु सबसे श्रेष्ठ सत्ता-

वाले या सबसे हल्की स्थिति वाले मनुष्यों में तो इन गुणों का न होना अत्यन्त हानिकारक है। कुटुम्ब का मुखिया, सभा का सभापति; देश के राजा जैसे अधिकारियों में उदारता या सहिष्णुता न हो तो वे सिर्फ एक शब्द के कारण अनेक मनुष्यों को कष्ट पहुँचा सकते हैं। इसके विरुद्ध उनमें जो ये गुण हों तो उनके हाथ से अनेक कष्ट निवारण हो सकते हैं इतना ही नहीं परन्तु वे कुटुम्ब में, समाज में, अथवा देश में प्रिय हो जाते हैं। इसी तरह हलकी अवस्था वाले मनुष्य जैसे कि नौकर, मज़दूर इत्यादि में भी ये गुण होना चाहिये यदि इनमें इन गुणों का अभाव हो तो वे अपने स्वामी के हुक्म, उपालंभ आदि नहीं सह सकें और वे अपने अधिकारी की प्रीति सम्पादन कर अपना हित नहीं साध सके।

प्रत्येकं शुभकृत्येऽनयोरपेक्षा। १८१।

एतौ गेहगतैक्यरक्षणकृते नापेक्षितौ केवलं।
किन्तूद्योगविवर्द्धने व्यवहृतौ स्वार्थे परार्थे तथा॥
शिक्षाया ग्रहणे तथा वितरणे नेतृत्व निर्वाहणे।
देशज्ञातिसमाजकार्यकरणे कामं सदापेक्षितौ॥

शुभकार्यों मे भी इन दो गुणों की आवश्यकता।

भावार्थः—उदारता और सहनशीलता इन दो गुणों की आवश्यकता केवल घर में ऐक्य रखने के लिये ही है ऐसा नहीं, परन्तु उद्योग बढ़ाना हो, व्यवहार श्रेष्ठ बनाना हो, स्वार्थ के साथ परमार्थ कार्य साधना हो, किसी को कुछ शिक्षा देना हो, किसी से उपदेश ग्रहण करना हो, महत्ता प्राप्त कर मुख्य अधिकार पाना हो, देश, जाति, और समाज के का साधना

हो इत्यादि स्थान २ पर इन दो गुणों की परमावश्यकता है। ये दो गुण जो न हो तो उपरोक्त समस्त कार्य इच्छानुसार सिद्ध नहीं हो सके। १८१।

विवेचनः—इस परिच्छेद में उदारता और सहनशीलता के सम्बन्ध का जो लम्बा विवेचन ग्रंथकार ने किया है, उस विवेचन में उदाहरण रूप प्रायः एक कुटुम्ब ही लिया है। जिससे शायद पाठक यह समझें कि सिर्फ कुटुम्ब का व्यवहार चलानेवाले मनुष्यों को ही इन गुणों की आवश्यकता है। परन्तु ये गुण प्रायः मनुष्य जीवन की समस्त शाखाओं के काम के हैं, उद्योग या व्यापार बढ़ाना हो तो ग्राहकों की प्रीति बढ़ाने के लिये इन गुणों की आवश्यकता है। व्यवहार में लोगों से उच्च अभिप्राय सम्पादन करना हो तो भी उदार और सहनशील होना पड़ता है। स्वार्थ के साथ परोपकार रूपी उच्च कर्तव्य बजाना हो तो भी मन और धन से उदार हुए बिना यह कार्य नहीं हो सक्ता। किसी को शिक्षा देना हो या किसी से शिक्षा ग्रहण करना तो भी सहनशील होना पड़ता है कारण कि शिक्षा दिये जानेवाला मनुष्य मूर्ख या दुर्जन हो तो अपना अपमान करता है और उस अपमान के सह लेने का गुण अपने में होना आवश्यक है अथवा उपदेश ग्रहण करते समय कोई कटु शब्दों में कुछ कह दे तो भी उसकी हित बुद्धि का सम्मान कर उसके कटु शब्दों को उदारता-पूर्वक सहना पड़ता है। यही रीति उपरोक्त श्लोक में दिखाई है यदि आपको कुटुम्ब के मुखिया समाज या जाति के अग्र-सर या देश के राजा बन उच्च अधिकार पाना हो और इस तरह लोगों का हित साधना हो तो उदारता और सहिष्णुता के गुण बिना यह कार्य नहीं हो सक्ता। इनके सिवाय अनेक

स्थलों और अनेक कार्यों में इन गुणों की आवश्यकता दृष्टिगत होती है। सहनशीलता की प्रशंसा करते मि० स्माइल्स सच कहते हैं कि "सहनशीलता एक ऐसा गुण है जिसे सब मनुष्य सम्मान देना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं। यह ऐसा उत्साह है कि जो जीवन के समस्त संकटों के समय में उन्नति करता है और कर्तव्य अदा करने में आवश्यकता हुई तो प्राण त्यागने की भी मनुष्य को शक्ति देता है"। १८१।

—o—

षष्ठ परिच्छेद।

पुरुषों के धर्मः संमित्र।

मित्राणामावश्यकता ॥ १८२ ॥

प्रत्येकं परिवर्तते तनुभृतां दुःखं सुखं चान्वहं।
दुःखे सन्निहिते सुखे च विगते चित्तं भृशं क्लिश्यते ॥
न स्युश्चेत्सुहृदो विशालमनसस्तस्मिन्प्रसङ्गे तदा।
दद्यादाश्वसनं सहायमथवा तस्मै निराशाय कः ॥

मित्रों की आवश्यकता।

भावार्थः—प्रत्येक मनुष्य पर निरंतर सुख दुख का चक्र घूमा करता है अर्थात् सुख के पीछे दुःख और दुःख के पश्चात् सुख लगा ही रहता है। जब पुण्य का संयोग व्यतीत हो जाने से सुख सम्पत्ति विलीन हो जाती है और दुख या विपत्ति सन्मुख आ उपस्थित होती है और जिससे मन बहुत व्याकुल होने लगता है उस समय उदार, सच्ची सलाहदेने वाले, सहायता करने वाले मित्रों की आवश्यकता होती है जो ऐसे चतुर मित्र न हों तो दुःखित, निराश मनुष्य के मन को

आश्वासन या आर्थिक मदद दूसरे कौन दें? और संकट के समय में कौन सहायता दे? इसलिये प्रत्येक गृहस्थको अच्छे मित्रों के साथ मित्रता रखने की परम आवश्यकता है। १८२।

विवेचनः—संसार में मित्रों की आवश्यकता मन और तन को आश्वासन देने तथा हितार्थं समभी गई है। मनुष्य किसी समय ऐसी शुभावस्था में होता है कि उसे उस समय मित्रों के आश्वासन, सलाह या सहायता की आवश्यकता नहीं रहती परन्तु ऐसी ही अवस्था सदैव स्थित रहेगी ऐसा पूर्णतः ज्ञात नहीं होता। समय बदलता है, मन में दुख पैदा होता है या आर्थिक हीन दशा आ पड़ती है तब मित्रों के आश्वासन, सलाह इसी तरह धन सम्पत्ति की मदद की आवश्यकता होती है। उस समय नये मित्र ढूंढने से कुछ लाभ नहीं परन्तु जिस समय मित्रों की आवश्यकता न थी उस समय जो मित्र कर रक्खे हैं वे ही जूने मित्र काम आते हैं। खराब हालत में नये मित्र नहीं हो सक्ते परन्तु जो जूने और सच्चे मित्र हैं वे ही विपत्ति के समय में काम आते है, अंग्रेजी में एक कहावत है कि Old times are swcctest and old friends are surest अर्थात् पुराने समय की बातें मधुर लगती हैं और पुराने मित्र पूर्ण भरोसे वाले होते हैं। इसलिये सच्चे अंतकरण वाले कुछ मित्र अवश्य बना रखना चाहिये। "वनमें अकेला भाड़" भी कुछ नहीं चाहता इसी तरह विना मित्र के अकेला मनुष्य संसार में कुछ चाहने योग्य नहीं होता। पंच तंत्र में एक स्थान पर कहा है किः—

अपि संपूर्णतायुक्तैः कर्त्तव्याः सुहृदो बुधैः।
नदीशः परिपूर्णोऽपि चंद्रोदय म पेक्षते॥

अर्थात्:—बुद्धिमानों को स्वतःपूर्ण होने पर भी मित्र करना चाहिये, क्योंकि समुद्र परिपूर्ण है तो भी चंद्र का उदय

होना चाहता है। अंग्रेजी कवियोंने तथा संस्कृत विद्वानों ने मित्रता की आवश्यकता दिखा कर कई जगह मनुष्य को उपदेश दिया है। असंभव कार्य भी मित्र की सहाय से संभव हो जाते हैं। कई समय सम्बन्धी जितनी सहायता दे सक्ते हैं उस से भी अधिक सुमित्रों से अपना भला होसक्ता है। इतना कभी न भूलना चाहिये कि जो आवश्यकता है, वह सुमित्रही की है और इसलिये ग्रंथकार ने 'सुहृद' शब्द का उपयोग किया है। सु+हृद अर्थात् जिनका अपने लिये अच्छा हृदय है। वे ही 'सुहृद' कहलाते हैं। अपने किसी स्वार्थ के कारण कोई मित्रता करने आया तो उसे 'सुहृद' नहीं कह सक्ते, क्योंकि जहां पैसा होता है वहां अनेक मित्र होने लग जाते हैं परन्तु वे अपने स्वार्थ के लिये मित्रता करने का प्रयत्न मारते फिरते हैं वे 'सुमित्र' नहीं परन्तु 'कुमित्र' ही गिने जाते हैं।

सुमित्र हों तो विपत्ति में कैसा आश्वासन देते हैं। उसका एक दृष्टांत सुनिये। कोरीन्थ नगर के युडेमीदास को केरिकझेनस और अरेथ्युफ्र नामक दो मित्र थे। युडेमीदास बिलकुल गरीब था और उसके दोनों मित्र धनवान थे। युडेमीदास जब मरने लगा उसने एक वसीयतनामा (विल) बनाया। उसके पास कुछ सम्पति नहीं थी परन्तु उसने वसीयतनामें में यही लिखा कि "मैं मरने पर मेरी वृद्ध माता के पालन पोपण का कार्य अरेथ्युफ्र को सौंपता हूं और मेरे पुत्र के व्याहने तथा उसे यथा शक्ति शिक्षा दिलाने का काम मेरे मित्र केरिकझेनस को सौंपता हूं। कदाचित् दोनों मित्रों में से कोई मर जाय तो पीछे जो जीवित रहे उसे दोनों कार्य सौंपता हूं" ऐसा विचित्र और दूसरे मनुष्यों के सिर पर भार डालने वाला वसीयतनामा पढ़कर लोग हंसने लगे परन्तु युडेमीदास को अपने मित्रों पर पूर्ण विश्वास था और इसीलिये उसने अपनी

मृत्यु का समय शांतता से व्यतीत किया। उसकी मृत्यु बाद जब उसके मित्रों ने वसीयतनामा पढ़ा तो उन्होंने बहुत हर्ष के साथ कबूल कर लिया। फिर उन दोनों मित्रों में से पांच दिन बाद ही केरिकसेनस मर गया और युडेमीदास के समस्त कुटुम्ब का पालन करने का भार अरेथ्युस के सिर आपड़ा। उस समय उसने उस वृद्ध स्त्री का पूर्ण विश्वास तथा माया पूर्वक पालन किया, इतनाही नहीं परन्तु उसके जो जागीरी थी उसके दो सम भाग कर एक अपनी पुत्री को और एक दूसरी पुत्री (युडेमीदास की पुत्री को) को कन्यादान में दे दोनों का ब्याह एक साथ ही कर दिया ॥१८२॥

[अब सुमित्र तथा कुमित्र कैसे होते हैं इनके लक्षण नीचे के श्लोकों में दिखाते हैं]

कीदृशं मित्रं ? ॥१८३॥

यो मर्त्यो विषमे विपत्तिसमये प्रेम्णा सदा निर्वह-
द्धर्तुं दुःखमपेक्ष्यते यदि शिरो दातुं स सज्जो भवेत् ॥
नेतुं यः सुहृदं यतेत सुपथे रुद्ध्वा दुराचारतः।
सन्मैत्रीपदमर्हति क्षितितले दक्षः स एवोत्तमम् ॥

कीदृशाजना मैत्र्यनर्हाः ? ॥१८४ ॥

ये क्रूरा व्यभिचारिणो व्यसनिनो विश्वासघातेरताः।
मिथ्याभाषणशालिनश्च मलिना मायाविनो मानिनः ॥
लुब्धाः स्वार्थपरायणाः परहितं निघ्नन्ति ये निर्दयाः।
मैत्र्यां ते मनुजाः परीक्ष्य गृहिणा वर्ज्याः सदा श्रेयसे ॥

मित्र कैसे होना चाहिये ?

भावार्थः—जो मनुष्य अपने मित्र पर विषम से विषम

विपत्ति के समय में भी मनको विना संकोचे सच्चे हुल्लास भाव से मित्रता का सम्बन्ध बनाए रखने को तत्पर रहता है, इतना ही नहीं परन्तु सुख की तरह दुख में भी भाग लेने को हाजिर रहता है, मित्रों के दुख दूर करने के लिये अपनी शक्ति से अधिक मदद करने पर उतारू रहता है, तथा मित्र के लिये अपना मस्तक भी देना पड़े तो एक समय देने के लिये तैयार हो जाता है, हर समय मित्र को सच्ची सलाह दिया करता है, मित्र कदाचित् प्रतिकूल राह पर चलता हो, दुराचारी होता हो, तो उसे जैसे तैसे समझाकर युक्ति प्रयुक्ति से उस प्रतिकूल मार्ग की राह छुड़ा देता है, और सच्चे रास्ते पर लगाता है, ऐहिक तथा पारलौकिक सुख के साधन प्राप्त कराने में उसे मदद देता है, वही चतुर मनुष्य पृथिवी पर मित्रता के उत्तम अधिकार पाने योग्य है।१८३।

कैसे मनुष्य मित्रता करने अयोग्य हैं !

जो मनुष्य स्वभाव से क्रूर, व्यभिचारी, जुआरी मदिरा पान वाला और मांसादि खाने के विषयों के व्यसन में लीन हो, विश्वासघात के कार्य करने में चतुर हो, जिसके लिये दिन रात में एक शब्द भी सत्य बोलना हराम हो, केवल असत्य से ही व्यवहार चलाता हो, मनका मैला, अभिमानी और लम्पटी हो, कपटी हो, स्वार्थ साधन में मशहूर हो लोभी और अपने तनिक लोभ के कारण दूसरों को हज़ारों के गहरे गड्ढे में डाल देता हो, नीच हो, उनसे मित्रता कभी न करनी चाहिये। प्रत्येक सद्गृहस्थ को सदैव अपने श्रेय के लिये मित्रता दृढ़ करते समय उस मनुष्य की पूर्ण पहिचान कर लेनी चाहिये तत्पश्चात् मित्रता करनी चाहिये। जो उपरोक्त अवगुणों वाला मनुष्य हो तो उसके साथ दोस्ती का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये॥ १८४॥

विवेचनः—मित्र शब्द की व्याख्या ही विद्वानों ने 'आपत्ति के समय में मदद देनेवाला' ऐसी की है। मित्रके पर्यायवाचक शब्द जैसे, सहवासी, संगार्थी, वयस्य, सुहृद, अनुसंगी इत्यादि हैं परन्तु इनके अर्थ से यही भावार्थ निकलता है कि अपने साथ रहकर विपत्ति के समय में मदद करे वही अपना संगार्थी, सहवासी या मित्र कहलाता है। वय में समान हो वह मित्र वयस्य कहलाता है और मित्र पर जिसका शुभ हृदय हो वह सुहृद कहलाता है, अनुसंगी में भी सहवासी या संगार्थी जैसा अर्थ भरा हुआ है। तात्पर्य यह है कि मित्र का मुख्य धर्म दुख में मदद करना है। अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि A friend in need is a friend in deed अर्थात् कठिनता के समय में जो मित्र मित्रता का धर्म बजाता है वही सच्चा मित्र है। जिस तरह दुख के अनेक भेद हैं उसी तरह मित्रके भी अनेक भेद हैं। सम्पत्ति के समय में बना हुआ मित्र विपत्ति के समय टिकाही रहे। इतना ही नहीं परन्तु मित्र के दुख में अपना सर्वस्व भोग देने को प्रस्तुत रहे। कदाचित् अपने मित्र के रक्षार्थ अपना सिर देना पड़े तो भी ऐसा करने में इन्कार न करे। वही सच्चा मित्र है। किसी समय मित्र को धन या तन की आवश्यकता नहीं रहती परन्तु सच्ची सलाह की ज़रूरत होती है मित्र भूल से विरुद्ध मार्ग पर चल रहा हो तो उसे उस समय शुभ शिक्षा की आवश्यकता है, उस समय उसे वैसी ही देना और दुख में पड़ने से रोकना सच्चे मित्र का प्रथम और परम कर्तव्य है। सुमित्र के लक्षण राजर्षि भर्तृहरि ने भी ऐसे ही बतलाये हैं किः—

पापान्निवारयति योजयते हिताय।
गुह्यानि गूहति गुणान्प्रकटी करोति॥

आपद्गतं न च जहाति ददाति काले ।
सन्मित्र लक्षणमिदं प्रवदन्ति संतः ॥

अर्थात्:—पाप में पड़ते रोके, हित की योजना करे, गुप्त बातों को गुप्त रख गुण प्रकट करे और विपत्ति के समय न त्याग मदद दे, ये ही सच्चे मित्र के लक्षण हैं। ऐसा सन्त जनों ने कहा है परन्तु ऐसे सुमित्रों की तलाश से कई समय मनुष्य कुमित्रों में फंस जाता है और इसीलिये कैसे मित्रों से दूर रहना यह भी ग्रंथकार ने दिखाया है। क्रूर, व्यभिचारी, व्यसनी, जुंआरी, विश्वासघाती, असत्यवादी, अभिमानी कपटी, स्वार्थी, लोभी, इत्यादि दुर्गुणों से भरपूर मनुष्यों की संगति कभी न करना चाहिये। एक मनुष्य में सब दुर्गुण एक साथ नहीं रहते परन्तु सिर्फ उनमें एक भी दुर्गुण हो तो भी उन्हें मित्र पद नहीं देना चाहिये। इस श्लोक में 'परीक्ष्य शब्द का उपयोग किया है उसका मतलब यह है कि मित्र के गुणावगुण की परीक्षा कर उसे मित्र समान समझना योग्य है—'आपदि मित्र परीक्षा' अर्थात् मित्र की परीक्षा विपत्ति के समय में होती है। इसलिये कुछ छोटी मोटी विपत्ति तक शांत रहना और उसमें मित्र अपने को तन, मन, धन पूर्वक मदद देता है तथा मित्र के यथार्थ गुणों की परीक्षा में उत्तीर्ण होता है, उसे ही मित्र बनाना, नहीं तो वह मनुष्य अपने स्वार्थसाधन के लिये ही मित्र होता आ रहा है ऐसा समझ कर उसका त्याग करना योग्य है चाणक्य नीति में कहा है कि:-

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदन ताप ताड़नैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणैन कर्मणा ॥

अर्थात्:—जिस तरह सुवर्ण की परीक्षा चार तरह से घर्षण, छेदन, ताप, और ताड़न से होती है उसी तरह चारों

ही रीति से पुरुष की परीक्षा होती है:—त्याग, शील, गुण, और कर्म, परीक्षा की यह रीति भी ध्यान में रखकर फिर मित्रता करना योग्य है।

मस्तिष्क देनेवाले एक सुमित्र का दृष्टान्त। यहां प्रासंगिक होगा। साइरेक्युस के घातकी राजा डायोनीसीअस ने डेमन नामक एक तत्त्व वेत्ता को फाँसी की सजा दी। डेमन ने ऐसी इच्छा प्रगट की कि मुझे मारने के पहिले मेरे बाल बच्चे स्त्रियों से मुझे मिलने को जाने की परवानगी दी जाय। राजा ने स्वीकार कर ली परन्तु डेमन के बदले कोई दूसरा मनुष्य कैद में रहे और डेमन नियत समय तक न आ जाय तो वह कैदी अपना सिर दे ऐसी शर्त रक्खी। ऐसा सिर देने वाला मनुष्य कोई भी निकलना असंभव जान डेमन ने स्त्री पुत्रादि से मिलने की आशा छोड़ दी। इतने में डेमन का मित्र पाइथीअस ने राजा की शर्त के अनुसार रहना स्वीकार किया। और डेमन को उसके कुटुम्ब से मिलने जाने देने के लिये छुड़ाकर आप कैदी बना। डेमन गया परन्तु कुटुम्ब से मिलकर वापस आते समय रास्ते में अधिक कष्ट हुए और वह निश्चित समय पर न आ सका। पाइथीअस अभी तक कैद में ही था परन्तु अपनी जान बचाने के लिये छूट नहीं गया यह देखकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। अंत में पाइथीअस को फांसी के काष्ट पर चढ़ाने की तैयारी हुई। जहां पारथीअस के गले में फांसी डालने में एक क्षण भर की देरी थी कि इतने में डेमन घोड़े पर सवार हुआ आ पहुंचा और अपने मित्र के गले में फांसी डालना छुड़ाया मित्र के बदले अपना सिर नहीं दिया गया और अब मित्र मरेगा ऐसा जानकर पाइथीअस शोकातुर हुआ। परन्तु जल्दी ही दोनों मित्रों की मित्रता देख राजा ने उदारता पूर्वक फरमाया कि

"ऐसे मित्रों की जोड़ी हमेशा क़ायम रहे।" और डेमन तथा पाइथीअस दोनों को जीवित छोड़ दिया* (१८३। १८४)

[सुमित्र के संयोग से आपत्ति के समय में रक्षा होती है और नादान मित्र के योग से आपत्ति में फँस जाते हैं यह नीचे के श्लोक में दिखाया है]

दुष्ट मैत्र्याः परिणामः। १८५।

प्रख्यातं हि कुलं विनश्यति यथा दुष्टैः सुतैरुद्धतै-
र्मात्राऽशिक्षितया सुतश्च वनिता वेश्यादिसंसर्गतः॥
पाखण्डेन मतिर्वरोऽपि नृपतिः क्रूरैश्च मन्त्रीश्वरै-
र्दुर्मित्रैरधमैर्विनश्यति तथा हा मानुषं जीवनम्॥

नादानों की मित्रता का दुष्ट परिणाम।

भावार्थः—जिस तरह जुआरी, वेश्यागामी और उद्धत लड़कों से श्रेष्ठ और प्रख्यात वंश का भी नाश होता है अशिक्षित माता के हाथ में पलता हुआ बालक भी अनिष्ट हो जाता है, वेश्या अथवा उसके समान ख़राब स्त्रियों के सहवास से खानदान कुटुम्ब की स्त्री भी आचार से भ्रष्ट हो पतित हो जाती है पाखंडियों के पाखंड से सद्बुद्धि नष्ट हो जाती है, क्रूर और अन्यायी मंत्रियों से अच्छा राज्य भी बिगड़ जाता है इसी तरह दुष्ट अधम और नादान मित्रों से एक मनुष्य का समस्त जीवन बरबाद हो जाता है।१८५।

---

* इस दृश्य से बराबर मिलता जुलता दृष्टांत बूंदी कोटा के राजा चांपराज और उसके मित्र पहाड़सिंह का है परन्तु वर्तमान में यह दृश्य सच्चा ऐतिहासिक होने में इतिहास के संशोधकों को शंका-शीलता उपस्थित हुई है।

विवेचनः—कुमित्र के सहवास से कितनी हानि होती है वह इस श्लोक में अनेक उपमाओं द्वारा दिखाई है। कुपुत्र से जिस तरह कुल का नाश होता है, अशिक्षित माता से पुत्र का जीवन निरर्थक हो जाता है। वेश्या की संगति से कुलवती स्त्री का भी विनाश होता है, पाखंड से सद्बुद्धि और क्रूर तथा अन्यायी मंत्रियों से राजा का नाश हो जाता है. उसी तरह कुमित्र के सहवास से मनुष्य का समस्त जीवन व्यर्थ बरबाद हो जाता है। उपरोक्त उपमाएं कुमित्र की मित्रता से यथार्थ घटती हैं कुपुत्रों के जन्म से उच्च कुल हो तो उसकी प्रतिष्टा और धन की हानि होती है, इसी तरह कुमित्र मित्रता से धन और इज्जत दोनों चले जाते हैं—अशिक्षित माता से पुत्र मूर्ख और संदेही होता है उसी तरह कुमित्र के सहवास से उसके समान ही मूर्खता पूर्ण कार्य करने की इच्छा होती है जि न से वे चाहे जितने चतुर हों तो भी लोगों में मूर्ख ही समझे जाते हैं। वेश्या के सहवास से कुलवान स्त्री में भी अनीति के अंकुर फूट निकलते हैं उसी तरह कुमित्र के सहवास से कुमार्ग पर जाने की ही वृत्ति उस मनुष्य की हो जाती है। पाखंडी जनों के पाखंड से सद्बुद्धि विलीन हो जाती है, उसी तरह कुमित्र के पाखंड से बुद्धि का अस्तित्व नष्ट हो जाता है और कुमंत्रियों की करतूतों से तथा क्रूरता से राजा के राज ध र्म की हानि होती है. उसी तरह कुमित्र की मित्रता से दुष्ट कार्यों के कारण लोगों में अपनी हीनता होती है। यहाँ इन भिन्न २ उपमाओं का एक साथ उपयोग करने में एक विशिष्ट हेतु है। कुमित्र की मित्रता से प्रतिष्ठा, चतुराई, नीति, बुद्धि, और धर्म इन सब का नाश हो जाता है यह दिखाने के लिये जिन वस्तुओं से खास कर जो २ हानियाँ होती हैं वे उपमा देकर ग्रहण की गई हैं और इन सब का नाश कुमित्र

के सहवास से होता है यह अधःआहारपूर्वक दिखाकर 'मानुषं जीवनम् विनश्यति' अर्थात् मनुष्य जन्म वृथा जाता है ऐसा समुच्चय कथन किया है। कुमित्र का सहवास त्यागने को अनेक विद्वानों ने उपदेश दिया है।

विष्णु शर्मा ने भी कहा है कि:—

न स्थातव्यं न गंतव्यं क्षणमप्यधमै सह: ।
पयोऽपि शौंडिकीहस्ते मदिरां मन्यते जन: ॥

अर्थात्:—क्षण मात्र भी नीच का सहवास न करना और उसके पास खड़े न रहना क्योंकि दारू बेचने वाला स्त्री के हाथ में दूध हो तो भी लोग उसे मदिरा ही मानते हैं। १८५।

[अब मित्रता निभाने के उपचार दिखाते हैं]

कथं मैत्री निर्वाह: ।१८६।

ये मित्रे इतरेतरं कथयत: स्वीयं रहस्यं स्फुटं ।
श्रुत्वा चित्तपटान्तरे च सुतरां गोपायतस्तत्पुन: ॥
ये योग्यामुपदां मिथो वितरतो गृह्णीत एवार्पितां ।
भक्त्यातं कुरुतश्च वास्तवगुणै मैत्री तयो: सुस्थिरा ॥

किस तरह मित्रता निभ सकती है ?

भावार्थ:—अपनी गुप्त बात मित्र के सामने प्रगट करने में ज़रा न हिचपिचावे, उसी तरह अपने मित्र की गुप्त बात आंतरिक गहन पट में इस तरह गुप्त रक्खे कि यदि वह बात प्रकट न करनी हो तो मृत्यु समय तक प्रकट न हो सके, अपने यहाँ मौक़ा आने पर मित्र का योग्य भेट दें और मित्र के

यहां मौका आवे और जो वह भेंट दे उल्लासपूर्वक स्वीकृत करे। उचित रीति से मित्र की प्रशंसा कर गुण प्रकट करे इस तरह परस्पर आंतरिक भेदके विना गुणों के व्यवहार के साथ एकसा सम्बन्ध रहे, वहीं मित्रता बंध सकती है और निभ सकती है। १८६।

विवेचन:—मित्रता किस तरह निभ सकती है उसका उपचार यहां दिखाया है कई समय यह देखा जाता है कि नये मित्र अपनी मित्रता के प्रारम्भ में एक दूसरे पर सच्चे आंतरिक मित्र हों ऐसा दृश्य दिखाते हैं परन्तु पीछे से कुछ विक्षेप पड़ने से उनकी मित्रता एकाएक टूट जाती है और कई समय तो इस टूटी हुई मित्रता के मित्र एक दूसरे के ऐसे घोर रिपु हो जाते हैं कि देखते ही बनता है। एक दूसरे की गुप्त बात अन्य के सामने प्रकट न करना, उसी तरह हृदय की गुप्त बातें परस्पर कहने में क्षोभित न होना, एक दूसरे के गुणों का विनिमय करना और प्रसंगोपात भेंट लेना या देना ये सब मित्रता के उपचारिक प्रकार हैं। आंतरिक सच्चे मित्रों को उनकी बातें परस्पर कहने की या गुप्त बात अन्य से प्रकट न करने की आशा भेंट लेने देने की शिक्षा करने की आवश्यकता नहीं रहता। वे आंतरिक हृदय से ऐसे मिल जाते हैं कि एक रूप बन जाते हैं, वे अपने मित्र के से धर्म स्वयं समझते हैं और अपना तथा मित्र का हित क्या है? यह समझ कर ही कोई कार्य करते हैं। भेंट देना लेना सिर्फ उपचार है, सच्चे आंतरिक स्नेहियों की दृष्टि उस पर नहीं जाती किसी कवि ने सच कहा है कि:—

अनादर स्नेहि ने शानो ?
निमंत्रण स्नेहि ने शानों ?

परन्तु कितने ही मित्रों के साथ मित्रता निभाने के लिये इन उपचारों की भी आवश्यकता है। उपरोक्त कथनानुसार जिनकी मित्रता प्रथम अति दृढ़ होती है और पीछे से टूट जाती है उसके टूटने का कारण उपचार की कमी ही है। इसलिये अगर ऐसी मित्रता किसी तरह से हितकारी हो तो उसके निभावनार्थ उपरोक्त कथनानुसार उपचार करने की आवश्यकता है। विचारानुसार व्यवहार होता है। दूसरे मनुष्य के मन के विचार और आंतरिक भाव समझ सकने का संसार में कोई स्थूल साधन हो तो वह सिर्फ व्यवहार है। दूसरा मनुष्य अपने को चाहता है या नहीं उसके विश्वास के लिये अपने को उसके साथ हितकारी व्यवहार से अथवा उपरोक्त स्नेह प्रदर्शक उपचार से व्यवहार करना चाहिये। एरिस्टोटल कहता है कि "मित्र होने के लिये उसको एक दूसरे का शुभेच्छुक बनना चाहिये, अर्थात् उसको एक दूसरे का भला चाहना चाहिये। उसे एक दूसरे की इच्छा का ज्ञान होना चाहिये"। हित चाहना, और इच्छाएं जानना ये दोनों बाह्योपचार हैं परन्तु ये बाह्योपचार निष्कपट हों तो सत्य ज्ञात होते हैं वरना कई समय बाह्योपचार से ठगाकर मनुष्य कुमित्रों की फांस में फंसकर दुखित हो जाते हैं।१८६।

[अब सच्ची मित्रता की रीति समझाने के कितने ही जड़ चेतन के दृष्टान्त दिये जाते हैं।]

उत्कटमैत्र्या उदाहरणम् ।१८७।

मैत्रीलक्षणमुत्तमं शुभतरं चेद्वांछसि प्रेक्षितुं ।
पश्य प्रेम तदात्र दुग्धजलयोरैक्यं समापन्नयोः ॥
दृष्ट्वैकस्य विनाशनं किमपरं स्वास्थ्यं समालम्बते ।
यद्वा स्वल्पतरापि किं विषमता मध्येऽनयोर्विद्यते ॥

एक पक्षीकी प्रीतिः ॥१८८॥

पद्मं सूर्यनिरीक्षणे विकसितं सूर्यो न पद्मेक्षणे।
चन्द्रं वीक्ष्य चकोरकः प्रमुदितश्चन्द्रो न संप्रेक्ष्य तम् ॥
हृष्टो दीपनिरीक्षणेन शलभो दीपस्तु तद्दाहकः।
किं वैषम्यमिदं महत्तरमहो न प्रीतिविच्छेदकम् ॥

वैषम्येपि प्रीति निर्वाहः।१८९।

कर्त्तव्या खलु नैव धर्मविमुखैर्मैत्री विचारं विना।
जाता चेत्सहसा कथञ्चिदपि वा प्राणान्त कष्टेपि सा ॥
संरक्ष्या निजमित्रनिष्ठुरहृदि स्नेहेप्यलब्धे सता।
गेतद्रीतिसमाश्रयेण कमलाद्येषु स्थिरा दृश्यते ॥

विषम मैत्री निर्वाह कस्याश्वसनम् ।१९०।

भ्रातश्चातक ! सार्थकं तव जनुर्यन्निष्ठुरेप्यम्बुदे।
प्रीतिं निर्वहसे प्रसन्नमनसा नित्यं प्रवृद्धां पराम् ॥
मैत्रीलक्षणमेतदेव परमं शास्त्रे बुधैर्दर्शितं।
धिक् तान् नैव च निर्वहन्ति सुहृदा मैत्रीं महान्तोपि ये ॥

सच्ची मित्रता का नमूना।

भावार्थः—हे महाभाग ! यदि तुझे श्रेष्ठ से श्रेष्ठ और अच्छे से अच्छे मित्र के लक्षण जानने हों तो इस तरफ ध्यान दें। एक प्याले में दूध पड़ा है और उसमें पानी डाला तो दोनों कैसे एक हो गए ? वह प्याला अग्नि पर रक्खा उसमें के पानी को अग्नि का ताप लगने से उसका विनाश होने लगा, उस समय

उसका मित्र दूध अपने मित्र का दुःख देखकर क्या चुपचाप बैठा रहेगा ? नहीं ! वह भी अपने मित्र के साथ अग्नि में कूदने के लिये उछलता है. इतने में उसका स्वामी होशियार हो जाता है और अंजुली में पानी ले दूध पर छींट कर यह समझाता है कि तेरा मित्र क़ायम है; तब दूध शांत होता है ! दोनों के बीच बाहर भी विषमता नहीं रहती और अंदर भी एक दूसरे पर इतना महत्व रखते हैं ।१८७।

एक पक्ष के प्रेम से भी स्थिर रही हुई मित्रता।

सूर्य को उदित देखकर सवेरे कमल प्रफुल्लित होता है। सूर्य के दर्शन से प्रसन्न होता है। परन्तु पद्म का अपने मित्र को देखने से सूर्य को क्या कुछ लेना देना है ? उसको तो पद्म सरीखे कई चाहने वाले होंगे। इसी तरह चकोर चंद्र के उदय से प्रसन्न होता है, उसका अंतःकरण हर्ष से भर आता है परन्तु चंद्र को तो चकोर के मिलने से कुछ लाभ या हर्ष हुआ ज्ञात नहीं होता । पतंग पक्षी दिये को देखकर कितना हर्ष लीन हो गया है ? हर्ष के कारण वह उस पर बैठने जाता है, परन्तु दिया अपने से मिलने आये हुए मित्र को अपने पर बिठाकर जला देता और भस्म कर डालता है ।१८८।

या तो प्रीति करना नहीं और की तो मृत्यु पर्य्यंत त्यागना नहीं ।

कमलादि जो प्रीति निभाते रहते हैं वे इस आशय से कि प्रथम तो बिना सोचे समझे प्रीति करना नहीं उसमें एक छोटा दूसरा बड़ा एक समृद्धिवान् और दूसरा गरीब ऐसी विषमता हो तो वहां प्रीति ही करना नहीं । प्रीति करना हो तो जहां समानता हो । यदि बिना विचारे कदाचित् विषमता

में भी अन समझ से प्रीति हो गई तो फिर चाहे जितना कष्ट आ पड़े प्राण जाते समय तक उससे की हुई मित्रता निभाते रहना चाहिये। उस मनुष्य का हृदय चाहे जितना निष्ठुर, थोड़े से प्रेम से भी रहित हो तो भी की हुई प्रीति नहीं त्यागनी चाहिये। कमल, चकोर, पतंग आदि इस सिद्धान्त को अचूक मानते हैं इसीलिये सूर्य, चन्द्र और दिये की अनुपस्थिति में भी अपनी मित्रता स्थिर ही रखते हैं ॥ १८६ ॥

विषम मित्रता पालने वाले को आश्वासन।

अरे चातक! तुझे धन्य है कि जिसे तू रात दिन चाहता है वही मेघ तुझे पानी पिलाने में निष्ठुरता दिखाता है तो भी तू तो उसपर सदैव वैसा ही उत्कृष्ट प्रीति रखता है और मित्रता का सच्ची तरह से निर्वाह करता है। एक पक्षी प्रीति निभाकर तूने तो अपना जीवन साफल्य किया मेघ बेशक निष्ठुर बनें परन्तु तू तो अपना कर्त्तव्य अदा कर चुका! सचमुच विद्वान् पुरुष इसे ही मित्रता कहते हैं। जो बड़े होकर सिर्फ़ अपने बड़प्पन के घमण्ड में मग्न रह अपने इच्छुक छोटों के साथ मित्रता का निर्वाह नहीं करते उन्हें एक बार नहीं परन्तु हज़ार बार धिक्कार है! प्रीति निभाने के सम्बन्ध में तू छोटा होने पर भी बड़ा है और वह बड़ा भी छोटा है। गृहस्थों में भी वे ही उत्तम हैं जो बिना विचारे मित्रता करते नहीं और करते हैं तो फिर चाहे जितना कष्ट हो तो भी त्यागते नहीं॥१६०॥

विवेचन:—उपरोक्त चार श्लोकों में जो दृष्टान्त दिये गए हैं वे दृष्टान्त दो प्रकार मित्रता के हैं। (१) सम मित्रता अर्थात् परस्पर मित्र भाव (२) विषम मित्रता अर्थात् एक पक्षी मित्रता भाव। सम मित्रता के लिये दूध और जलकी मित्रता का दृष्टान्त अति उच्च श्रेणी का है परस्पर मित्रता रखनेवाले

मनुष्यों को भी दूध और जल की मित्रता का अनुकरण करना योग्य है। अन्य विद्वानों ने भी दूध और जल की मित्रता की कल्पना को भिन्न शब्दों में परन्तु प्रायः ऐसे ही भावार्थ के साथ नीचे लिखे अनुसार कल्पित की है।

> क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरातेऽखिलाः।
> क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानोहुतः॥
> गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्दृष्ट्वातु मित्रापदं।
> युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी॥

अर्थात्:—चूल्हे पर दूध गरम होने के लिये रक्खा उस समय दूध ने अपने पास रहे हुए जल को प्रथम ही (दूध के) सब गुण दे दिये थे। दूध का यह उपकार समझ दूध को ताप लगा देख जलने अपनी आत्मा अग्नि में होमी (अर्थात् जल अग्नि के साथ प्रथम जलने लगा) इस तरह अपने मित्र जल को विपत्ति में फँसा देख दूध अग्नि में पड़ने पर उद्यत हुआ (अर्थात् दूध का उभरा आया) फिर जब जल से उसे छींटा तो वह उभरा शान्त हुआ, इसी तरह सत्पुरुषों की मैत्री समझना चाहिये।

मित्र अपने को मदद दे तो मित्र के विपत्ति के समय में उसे मदद करना यह सम मित्रता परस्पर मित्रभाव सर्वदा प्रशंसा पात्र हैं। परन्तु कितने ही समय मित्रता का विषम भेद भी अविचल हुआ देखा जाता है। यह विषम मित्रता केवल निःस्वार्थी मित्रता तनिक भी बदले की बिना आशा की मित्रता है। और इसीलिये यह मित्रता सबसे श्रेष्ठ समझी जाय तो कोई नवाई नहीं ऐसी मित्रता के कुल चार उदाहरण ग्रंथकार ने दिये हैं:—पद्म अर्थात् कमल अपने मित्र सूर्य को

देख कर, चकोर अपने मित्र चन्द्र को देख कर, पतङ्ग अपने मित्र दीप को देख और चातक अपने मित्र मेघ को देख आह्लाद पाते हैं उसके विरुद्ध पद्म तरफ सूर्यः चकोर तरफ चन्द्रः पतङ्ग तरफ दीप और चातक तरफ मेघ अपने मित्र भाव की तनिक भी इच्छा नहीं दिखाते, बल्कि वे इनके मित्रों की मित्रता की इच्छा भी नहीं रखते। तो भी पद्म, चकोर, पतङ्ग, चातक, अपने मित्र की ओर से अवगणना पाते हुए भी अपनी एक पक्षी मित्रता से विचलित नहीं होते। अहा! क्या इस मित्रता को धन्यवाद नहीं? १८६वें श्लोक में इस विषम मित्रता को किस कारण से प्रशंसा पात्र समझा है उसका विवेचन ग्रन्थकार ने दिया है: कमल, चकोर, पतंग और चातक अपने २ मित्रों के प्रेम में इतने दृढ़ हैं कि अपने की भी परवाह नहीं करते। मित्रता करने से दूसरे की तरफ से मित्रता का लाभ न मिले तो ऐसों से मित्रता करना ही अयोग्य है परन्तु दैववशात् ऐसी मित्रता हो गई तो फिर मित्रता न त्यागना यही अविचलपना है। पतंग दिये को चाहता है परन्तु दिया अपने से भेंट करने के लिये आने वाले मित्र को जलाकर भस्म कर डालता है तो भी पतंग अपने मित्र भाव का त्याग नहीं करता। ऐसा ही एक पक्षी प्रीति निभानेवाला चातक पक्षी है कि जो अपने मित्र मेघ को देख कर प्रसन्न होता है। ग्रन्थकार ने चातक को सम्बोधित कर आश्वासन दिया है और उस पर से वाचक वृन्दों को यह उपदेश दिया है कि जो अपने मित्र भावों के बदले में मित्रभाव नहीं दिखाते वे घमण्डी मनुष्य घृणा के पात्र हैं। और बिना किसी बदले की आशा के निःस्वार्थ भाव से मित्रता में अडिग रह कर एक पक्षी से मित्रता निभाने वाले चातक को हज़ारों धन्यवाद घटित होते हैं। उत्तम मनुष्य वे ही हैं कि अपने

मित्र से घृणित होने पर भी अपने स्नेहभाव में तनिक भी न्यूनता नहीं आने देते। (१८७-१८८-१८९-१९०)

सप्तम परिच्छेद ।

पुरुषों के धर्मः सात्त्विक प्रेम ।

॥ विशुद्ध प्रेम ॥१९१॥

यत्तत्त्वेन निराश्रितं निजसुतं माता मुदा रक्षति ।
यत्तत्त्वेन भृशं पिता प्रयतते कर्तुं सुतस्योन्नतिम् ॥
यच्चास्वं पशुपक्षिकीटनिकरे व्याप्तं समालक्ष्यते ।
तत्प्रेमाभिधतत्त्वमस्ति गृहिणामावश्यकं सर्वदा ॥

॥ प्रेम्णः कथं निर्दुष्टता ॥१९२॥

स्यात्स्वार्थेन यदा हि मिश्रममलं प्रेमाथवा स्वेन्द्रिया-
र्थेन स्त्रीमदिरास्रगुज्ज्वलमहाभूषागजाश्वादिना ॥
स्यात्तर्हि क्षणिकं परार्थविकलं दोषैस्तु तद् दूषितं ।
न स्यादुच्चपदार्पणेन सुखदं नातो बुधैः सेव्यते ॥

शुद्ध प्रेम ।

भावार्थ—छोटा बालक कि जिस में खुद उठने बैठने या खाने पीने की सामर्थ्य नहीं है उस बालक को उसकी माता जिस तत्व से पालती है, खेलाती है, और बहुत प्रस-

लता पीकर अपने सुखों के बजाय उसे सुखी करती है, उसी तत्व के कारण पिता परिश्रम से संचित किया धन अपने पुत्र को पढ़ाने, व्याह करने, और उसकी उन्नति करने में खर्च करता है। जो तत्व पशु, पक्षी, कीट, प्राणी मात्र में कम या अधिक अंश से व्याप्त है, वह निर्दोष स्वाभाविक 'प्रेम' नामक तत्व प्रत्येक गृहस्थ को अवश्य धारण करने योग्य सद्गुण है। अपने आश्रित कुटुम्ब को निभाने में इस तत्व की परमावश्यकता है। १६१।

प्रेम को निर्दोष किस तरह रखना चाहिये।

जो प्रेम नामक तत्व दुष्ट स्वार्थवृत्ति से मिश्रित न किया जाय, केवल काम भोग या विषय विकार की आसक्ति में ही उसका उपयोग न किया जाय, या क्षण में आविर्भाव या क्षण में तिरोभाव पाकर यह तत्व अव्यवस्थित न बनता हो, परमार्थ वृत्ति से अधिक भिन्न न हो, लोभ लालचादि दोष से मिश्रित न हो वही प्रेम तत्व अपने और अपने कुटुम्ब में सुखकर्ता हो गृहस्थ को उच्चाधिकारारूढ़ करता है, नहीं तो सुख के बदले दुखदाई हो जाता है। इसलिये दूषित प्रेम का सर्वथा त्याग करना चाहिये। १६२।

विवेचनः—जो प्रेम पतिव्रता स्त्री अपने पति पर रखती है वह प्रेम है, एक वेश्यागामी पुरुष अपनी प्रियतमा पर रखता है वह भी प्रेम है, जो एक माता अपने पुत्र पर रखती है वह भी प्रेम है, और भक्त जन प्रभु पर रखते हैं वह भी प्रेम है। एक ही प्रेम तत्व इस तरह भिन्न २ दिशाओं में व्याप्त है और इसीलिये भिन्न २ नाम धारण किये हैं। स्त्री का पति पर प्रेम इसका 'प्रेम' या 'प्रीति' नाम उचित है। वेश्यागामी के वेश्या पर के प्रेम का नाम 'मोह' उचित है। माता के पुत्र परके प्रेम

का वात्सल्य नाम उचित है और भक्त के प्रभु पर के प्रेम का 'भक्ति' नाम उचित है। इस तरह भिन्न २ प्रेम के भिन्न २ नाम दे सकते हैं परन्तु इनमें जो एक तत्व प्रकाशमान है वह 'प्रेम' या 'हृदय लग्न' है। यह प्रेम संसार मध्य उनके विशुद्ध स्वरूप में अत्यन्त उपयोगी है। जिस तरह बिलकुल स्वच्छ सुवर्ण पर चाहे जितनी क्रियाएं की जायँ तोभी वह सर्वदा विशुद्ध ही-एक स्वरूपी ही रहता है, इसी तरह विशुद्ध प्रेम पर चाहे जितने आघात, प्रत्याघात किये जायँ तो भी वह एक स्वरूपी ही रहता है और इसी लिये ऐसा विशुद्ध प्रेम स्थान २ पर दृष्टिगत नहीं होता। विशुद्ध प्रेम को कवि दयाराम ने गुजराती कविता में सिंहनी सुत की उपमा देते हुए कहा है कि:—

सिंहण केरुं दूध होय ते सिंहण सुतने जरे।
कनकपात्र पाखे नौ धातु फोड़ी ने नीसरे॥

प्रेम रस तेवा उरमां ठरे।
जेह कोई प्रेम अंश अवतरे॥

प्रेम रूपी सिंहनी का दूध सुवर्णपात्र रूपी विशुद्ध-दैवी हृदयों में ही स्थिर रह सकता है। और जो सुवर्ण के सिवाय दूसरी धातुओं में यह डाला जाता है तो उस बर्तन को फोड़ कर दूध बाहर निकल आता है। इसी तरह अशुद्ध हृदय जो चल विचल स्थिति में रहते हैं, कुमार्गगामी होते हैं, लालच के वशीभूत होते हैं, उनमें यह प्रेम रूपी दूध नहीं टिक सकता। परन्तु उन्हें फोड़ कर बाहर निकल जाता है। ऐसा प्रेम प्रकृति ने बहुत कम प्रमाण से पशु, पक्षी, मनुष्यादि सब प्राणियों में रक्खा है, परन्तु बहुत कम विकास के प्रमाण में यह प्रेम प्रत्येक प्राणी को बहुत कम प्रमाण में ही उपयोगी होता है। जो उसके रहने के पात्र रूप हृदय को दूषित करते हैं अर्थात् हृदय को कुमार्गारूढ़ करते हैं, वहां वह प्रेम अपने विशुद्ध

स्वरूप में नहीं टिकता। सारांश यह है कि हृदय की दूषितता के साथ प्रेम भी दूषित हो जाता है और हृदय की विशुद्धता रहती है वहां तक प्रेम भी अपने विशुद्ध स्वरूप में रहता है इसपर कहता है कि—

"The noblest minds their virtue prove
By pity sympathy and love.

अर्थात्:—उच्चाशययुक्त हृदयों में रहा हुआ सद्गुण उसकी दयालुता, उदारता और प्रेम द्वारा प्रतीत होता है। संसार में यही प्रेम मनुष्य को उपयोगी हो सकता है। और यही प्रेम उसे अपनी अवस्था के कर्तव्य के मार्ग पर लगाने वाला होता है। माता पिता की ओर का विशुद्ध प्रेम उनके ओर के कर्तव्य अदा करने की एक सुपुत्र को सलाह देता है स्त्री की ओर का विशुद्ध प्रेम उनके अधिकार, आकांक्षाओं को पूर्ण कर उनको सुखी करने का भान कराता है. पुत्र के ओर का विशुद्ध प्रेम उसके हित तरफ धन व्यय करने की बुद्धि देता है. पुत्री की ओर का विशुद्ध प्रेम उसे स्त्रीत्व के योग्य गुण प्राप्त हो ऐसी शिक्षा देने या वय तथा गुण के योग्य जोड़ी मिलाने के लिये परिश्रम करने पर तत्पर रहता है। भाई की ओर का विशुद्ध प्रेम उसे सुख दुख में सहायता तथा आश्वासन देने का ध्यान दिलाता है और कुटुम्ब के बड़ों की ओर का विशुद्ध प्रेम उनकी आज्ञा को सविनय सिरोधार्य करने के स्वधर्म का स्मरण कराता है। इसी तरह एक स्त्री में का विशुद्ध प्रेम, माता पिता भाई, बहिन इत्यादि पितृ कुल के सम्बन्धियों के सिवाय पति, सासु, ससुर, जेठ देवर पुत्र, ननद जेठानी इत्यादि सब आप्त जनों के तरफ के अपने धर्मों को सुझाता है। जिस स्त्री में ऐसा विशुद्ध प्रेम होता है उस स्त्री को व्यक्ति की ओर अदा करने के कर्तव्यों को सुझाने की भाग्य से ही आवश्यकता रहती है। विधवावस्था

में भी पति की ओर का विशुद्ध प्रेम उसे दुराचार करते रोकता है यहाँ तक इस विशुद्ध प्रेम की ज्योति प्रकाशित हो जाती है। उपरोक्त विशुद्ध प्रेम का आश्रय मनुष्य को संसार की धधकती ज्वालाओं में भी शीतल छाया देनेवाले कदम्ब वृक्ष रूप हो जाता है।१८१-१८२।

[प्रेम के अधिकारियों का क्रम नीचे के श्लोक में दिखाते हैं।]

प्रेमाधिकारिणांक्रमः ।१८३।

ये स्वीया गुरवो भवन्ति सुतरां पूज्या मतास्ते जना-
स्ते प्रेमास्पदिनो भवन्ति लघवः स्वसमाश्च ये स्वाश्रिताः ॥
मुख्यात्रापि पतिव्रतैव गृहिणी मित्रं सुता बान्धवा।
भृत्याश्च क्रमशोऽधिकारिण इमे प्रेम्णः फले निर्मले ॥

प्रेमोपयोग का क्रमः।

भावार्थः—अधिकार उम्र और गुणानुसार मनुष्यों की तीन श्रेणियां हो सकती हैं। एक अपने से बड़े दूसरे बराबर वाले, और तीसरे अपने से छोटे, पहिली श्रेणी में अपने से बड़ों का समावेश होता है वे हमेशा पूजनीय और माननीय हैं, जो बराबर वाले हैं वे मित्रता के योग्य हैं और जो अपने से छोटे हैं वे प्रेम के पात्र हैं। प्रेम के पात्रता में गृहस्थ के लिये अपनी स्त्री ही प्रधान है उसके बाद संतति, भाई, बन्धु समाज और उसके बाद नौकर क्रमानुसार प्रेम के निर्मल फल के अधिकारी हैं।१८३।

विवेचनः—पूर्व के दो श्लोकों में प्रेम के दो विभाग किये (१) विशुद्ध प्रेम (२) अशुद्ध प्रेम। इनमें विशुद्ध प्रेम ही सेव्य है और यह गृहस्थावस्था के धर्मों का प्रकरण होने से इसमें विशुद्ध प्रेम का उपयोग किस तरह से करना चाहिये यह

यहां ग्रंथकार ने दिखाया है। 'प्रेम' का इससे भी बहुत विस्तार है परन्तु अब जिसका विस्तार प्रस्तुत प्रकरणों से सम्बन्ध रखता है उतना ही विस्तार ग्रहण करने में आया है। प्रेम रखने की वस्तुओं के तीन भाग कर अपने से बड़े माता पितादि बड़ों के साथ पूज्य भाव विनय और आज्ञांकितता दिखाना यह उपदेश दिया है और इस विषय का पहिले भी विवेचन किया गया है। अपने बराबरी के द्वितीय वर्ग में भाई, बहिन मित्रादि का समावेश होता है तथा तृतीय वर्ग में अपने से छोटे बन्धु, पुत्र, स्त्री, नौकर चाकर इत्यादि का समावेश होता है। इस श्रेणी के आप्तजनों के साथ प्रेम भिन्न २ प्रमाण से और भिन्न २ स्वरूप में ही होना चाहिये जिसके फिर विभेद हो सक्ते हैं। सब एक से प्रमाण के प्रेमाधिकारी नहीं, सबसे विशेष स्त्री, फिर पुत्र, फिर बन्धुवग और फिर नौकर चाकर इस तरह से क्रम घटित है—हांयकरोलीश भी इसी आशय का कथन करता है वह कहता है कि अपना हर एक मध्य बिन्दु समान है और अपने आस पास कई वर्तुलों हैं अपने में से प्रथम वर्तुल विस्तार पाता है और उसमें मां बाप स्त्री और पुत्रों का समावेश होता है। दूसरे वर्तुल में सम्बन्धी तीसरे में स्वदेशी बन्धु और अंतिम में सब मनुष्य मंडल आ जाता है कौटुम्बिक जनों में भी प्रेम के ऐसे वर्तुलों की कल्पना होना स्वाभाविक ही है।१८३।

प्रेमाधिकारिकृते किंकार्यम् ।१८४।

तात्रायोग्यमनिष्टचिन्तनमलं यत्प्रेमपात्रं भवे-
त्तद्द्रोहोपि न चोचितः कथमपि स्वार्थस्य संसिद्धये ॥
तद्दोषापनये तदुन्नतिकृते यत्नो विधेयस्तथा ।
स्याद्येनैहिकपारलौकिक हितं प्रेम्णोह्यदो लक्षणम् ॥

प्रेम के अधिकारियों को क्या करना चाहिये ।

भावार्थ तथा विवेचनः—गृहस्थ के प्रेम के जो २ अधिकारी हैं उनका गृहस्थ को कभी भी बुरा नहीं सोचना चाहिये। किसी भी समय उनसे द्रोह न करना, अपने स्वार्थ साधन के लिये उन्हें भला बुरा समझा कर नुकसानी के गहरे गड्ढे में नहीं डालना। उनकी जो कुछ त्रुटियें हों या उनमें अधोगति ले जाने वाले कुछ दोष हों तो उन त्रुटियों या दोषों का निवारण कर उन्हें उन्नति यथारूढ़ करने की शक्ति भर कोशिश करना इस लोक और परलोक में उनका भला हो ऐसे साधन प्रस्तुत रखना और मदद देना ये शुभ प्रेम के लक्षण हैं। शुभ प्रेम के ये लक्षण बहुत कम हैं अगर इन्हें विस्तारपूर्वक लिखें तो ये लक्षण अति व्यापक हैं। अपने प्रेम पात्र का इह लोक और परलोक में हित करना यह भी मनुष्य का कर्तव्य है। प्रेमपात्र की इस लोक में भलाई होने का कर्तव्य जो अदा न किया जाय, तो प्रेम स्थिर नहीं रह सकता इसलिये इह लौकिक हित तो साधना ही पड़ता है परन्तु इसके साथ ही उनका पारलौकिक हित करने के लिये प्रयत्न करना तथा नीति के मार्ग से हटने या दूसरे किसी प्रकार के दोष प्रेम पात्र के हाथ से हो जायँ तो उनसे उसे दूर रखने का प्रयत्न करना एक सत्प्रेमी मनुष्य का धर्म है—यह धर्म न बजानेवाला प्रेमी नहीं और जो वह प्रेम का दावा करता हो तो दम्भी है। १६४।

[स्त्री के साथ प्रेम का निभाव किस तरह करना चाहिये और पति से द्रोह करनेवाली स्त्रियों की अधम रीतियों को किस तरह तिलांजली देना चाहिये इस विषय में ग्रन्थकार नीचे के श्लोक में बोध देते हैं।]

पत्नीद्रोहोऽथवा दूषितं प्रेम ।१६५॥

स्यादेवंविधभावना यदि तदेकस्यां च सत्यां स्त्रिया-
मन्यां किं परिणेतुमर्हति पतिः योग्यं निमित्तं विना ॥
किं साधु व्यभिचारचिन्तनमपि स्वप्नेऽपि पापावहं ।
तन्मृत्योरपि भावना किमुचिता व्याध्युद्भवेष्वुत्कटे ॥

पत्नी द्रोह या दूषित प्रेम ।

भावार्थः—जिस समय प्रेमियों के हित करने में ही प्रेम की शुभ भावनाएं फलित होती हैं, जिस समय एक गृहस्थ के शुभ लक्षण युक्त एक स्त्री मौजूद हो उस पर बिना कारण दूसरी स्त्री से व्याह करने का विचार करना यह क्या योग्य है? और ऐसा करने से क्या प्रथम पत्नी से द्रोह नहीं होता? इसी तरह अपनी स्त्री को त्याग कर दूसरी से प्रेम में लिपटा कर स्वप्न में भी व्यभिचार वृत्ति का दुष्ट संकल्प करना क्या उचित है? या अपनी स्त्री बीमार हो और खुद पैसे वाला होने के कारण प्रथम स्त्री के मर जाने से दूसरी स्त्री के मिलने में कुछ भी विलम्ब नहीं होता उस समय कितने ही गृहस्थ ऐसा सोचें कि यह स्त्री जल्द मर जाय तो मुक्त हो जाय। ये विचार भी कितने भयंकर पत्नि द्रोह से भरे और प्रेम को दूषित करने वाले हैं? एक सद्गृहस्थ का ऐसे विचार रखना बिलकुल अनुचित हैं क्योंकि इससे स्वाधीनता प्राप्त होती है और प्रेम कलंकित होता है। १६६।

विवेचनः—गृहस्थ धर्म में पुरुष के निर्मल प्रेम की अधिष्ठात्री विद्वानों ने व्याही हुई स्त्री को गिनी है और यही अभिप्राय ग्रंथकार ने भी पहिले व्यक्त किया है। कितने ही नवव्याहे युगलों में जितना प्रेम देखा जाता है वैसा प्रेम उनमें

कितने ही वर्ष बाद नहीं पाया जाता। पहिले कहा है वह प्रेम आविर्भाव या तिरोभाव न पाते एक सा और अचल रहे तो वही प्रेम सच्चे प्रेम के नाम के योग्य है। इसलिये स्त्री के साथ कई वर्ष तक रहने पर पति का वह प्रेम कम हो जाय, वह सच्चा प्रेम नहीं परन्तु दूषित प्रेम है। जो स्त्री पर के प्रेम को थोड़े वर्ष बाद वापिस खींच लेतें हैं अथवा अन्य स्त्री से ब्याह कर प्रेम का झरना बहाते हैं, या पर स्त्री में आसक्त बन उसे अपना प्रेम अर्पण कर देते हैं, यह ब्याही हुई स्त्री से भयंकर द्रोह करने के समान है। कितने ही नई स्त्री के प्रेम के या मोह के इतने रोगी होते हैं कि वे अपनी स्त्री के बीमार होने या मरने की दशा प्राप्त होने पर बड़े आनन्दित होते हैं और जब उसे मृत्यु शय्या से उठा कर श्मशान में ले जाते हैं तो जल्दी ही नये ब्याह की बात चीत में लग जाते हैं स्त्री के साथ प्रेम का यह कितना भयंकर द्रोह ? 'नास्ति भार्या समो बन्धुर्नास्ति भार्या समा गति, ऐसी देवस्वरूप स्त्री से द्रोह करना क्या भयंकर पाप नहीं ? स्त्री को अनिष्टता सोचने से पुरुष को सदैव दूर रहना चाहिये जब ही वह एक सच्चे प्रेमी पति के गुण वाला समझा जा सकता है।

मृत्यु वश हुई स्त्रियों से जल्द ही मुक्त होने की इच्छा रखने वाले पत्नी द्रोही पतियों को आश्चर्य पैदा कराने वाले एक दो दृष्टान्त यहां देना उचित है। सर सेम्युअल रोमिली का प्रेम अपनी स्त्री पर केवल अविचल रहता था। जब उस की स्त्री की मृत्यु हो गई तब रोमिली के हृदय पर दुख का सख्त आघात हुआ, उसके नेत्रों की नींद उड़ गई, उसका मन व्यग्र हो गया, और इस बाई के स्वर्गवास के तीन दिन बाद आपकी जिन्दगी भी पूर्ण हो गई। सर फ्रान्सीस बर्डेट राजकीय सम्बन्ध में रोमिली के विरुद्ध पक्ष में था परन्तु जब

उसकी अर्धाङ्गना मर गई, उस पर महाभारत शोक गिरा और उसने सब खाना पीना बन्द कर दिया और जब घर से उस बाई के शव को लेकर गये तो उसका देह भी गिर पड़ा और पती पत्नि एक कबर में ही सोये! वहु रत्ना वसुन्धरा!

[प्रेम का दुरुपयोग नहीं करने के सम्बन्ध में अब समझाते हैं]

प्रेम्णो दुरुपयोगः ॥ १८६ ॥

मोहावेशवशीकृताः प्रतिदिनं ये स्त्री प्रसक्ता नरा।
मर्यादामपि लङ्घयन्ति महतीं रक्षन्ति नो स्वस्थताम् ॥
कार्याकार्यविचारमात्रमपि नो कुर्वन्ति धर्मेच्छया।
ते प्रेम्णः किल नोपयोगमुचितं कर्तुं विदन्ति स्फुटम् ॥

प्रेम का दुरुपयोग।

भावार्थ—जो मनुष्य प्रेम की सीमा का उलंघन कर रात दिन सांसारिक विषय सुख और ऐश आराम में लीन हो कान्ताक्रीड़ा में उद्यत रहता है और कामान्ध होता है तथा प्रेम के स्थान पर महा मोह मूढ़ हो बुद्धि होने पर भी बुद्धि शून्य जैसा बन जीवन का दुरुपयोग करता है इस लोक और परलोक के हित सचितार्थ धर्म, पुण्य या सत्कृत्य से विमुख हो कर्तव्य अकर्तव्य का विचार तक नहीं करता और अहर्निश पाशव वृत्ति की धुन में, एक ही ख्याल में भटकता फिरता है वह गृहस्थ अपना और दूसरों का आहत कर प्रेम तत्व को तुच्छ से तुच्छ बना उसका अति दुरुपयोग करता है।१८६।

विवेचनः—प्रेम का सच्चा अर्थ समझ कर जो उसकी स्वाभाविक सीमा में ही रहते हैं वे प्रेम का सदुपयोग कर सुखी होने के पश्चात् दूसरों को भी सुखी करते हैं परन्तु जो प्रेम की मर्यादा को नहीं समझते वे अपनी वृत्तियों को प्रेम की

सरिता में डुबाये ही जाते हैं वह सरिता उन वृत्तियों को अंत में मोह सागर में खींच ले जाती है। 'प्रेम' और 'मोह' के मध्य जो अंतर है वह अंतर नहीं समझने वाले कई मूर्ख मनुष्य मोह मुग्ध हो जाते हैं, तिस पर भी अपने को प्रेमी समझ संतोष मानते हैं वे प्रायः यहां भूलते हैं। 'प्रेम' एक सद्गुण है और वह आत्मा को उच्च पद देता है परन्तु मोह एक बड़ा दुर्गुण है और छः रिपुओं में का एक रिपु है जो आत्मा को अधोगति में घेर ले जाता है। इस मोह में वृत्तियों को लीन होने देना यही प्रेम का दुरुपयोग है। प्रेम मन का विषय है और मोह इन्द्रियों का विषय है। आंख, नाक, और कान, कामी इन्द्रियाँ हैं अर्थात् मोह की वस्तु दूर होने पर भी कामीयता के कारण ये इन्द्रियाँ मोह में मुग्ध होती हैं और त्वचा और जीभ भोगी इन्द्रियाँ हैं कि जो मोह की वस्तु के समागम होने पर ही उत्तेजित और मोह मुग्ध होती हैं। जिस तरह प्रेम के जन्म होने का स्थान मन सूक्ष्म है और मोह को जन्म देने वाली इन्द्रियाँ स्थूल हैं उसी तरह प्रेम की उत्पत्ति का कारण भी बहुधा सूक्ष्म है अर्थात् किसी के गुण विद्या, कला इत्यादि प्रेम के कारण हो जाते हैं और मोह किसी के रूप, वस्त्र अभिनय, मधुर कंठ इत्यादि के दर्शन या अनुभोग से उत्पन्न होता है। प्रेम चिरस्थायी होता है और मोह क्षणिक। प्रेम अति परिचय से बढ़ता जाता है। और मोह अधिक परिचय से दूर हो जाता है। मोन्तेन कहता है कि "विवेक और काल के बढ़ने के साथ दृढ़ होने वाले का नाम ही "प्रेम है"। इस तरह प्रेम की सीमा को विनय पूर्वक समझ लेना चाहिये और प्रेम का दुरुपयोग न हो यह ध्यान में रख प्रत्येक गृहस्थ को संसार में व्यवहार चलाना चाहिये।१८६।

[अब प्रेमान्धता का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं]

प्रेमान्धता ॥ १९७-१९८ ॥

ये प्रेम्णा परिभूषयन्ति वसनैः पत्नीं तथा भूषणैः ।
पुत्रादीनपि रञ्जयन्त्यभिनवैः सम्मोहकैर्वस्तुभिः ॥
तेषां जीवनमान्तरैर्गुणगणैः संस्कुर्वते नो पुन-
स्तेप्यन्धा न विदन्ति शोभनतरं प्रेमोपयोगंपरम् ॥
येनौद्धत्यमदोदयो हृदि भवेत्पुत्रस्य वाण्यां तथा ।
मिथ्याभाषणपद्धतेः परिसरः काये दुराचारिता ॥
यद्वा स्याद्व्यसनोदयो नरभवाऽनर्थक्यकारी भृशं ।
किं प्रेम्णा पुनरीदृशेन गृहिणः किं लालनेनापि वा ॥

अंध प्रेम ।

भावार्थः—जो गृहस्थ प्रेम का उपयोग सिर्फ अपनी स्त्री और पुत्र को अच्छे २ वस्त्र और आभूषण पहना कर बाह्य शोभा बढ़ाने में ही करता है, अधिक आगे बढ़ता है तो मोह पैदा करने वाली या ललचानेवाली सुन्दर २ वस्तुएं लाकर उन्हें ऐश आराम के मार्ग पर लगाता है परन्तु उनकी मानसिक वृत्ति या बुद्धि बढ़ाने अथवा आंतरिक जीवन को सद्गुणों से प्रदीप्त करने में बिलकुल फ़िक्र नहीं रखता वह मनुष्य भी मोहांध हो प्रेम के तत्व को सच्चे तौर से न पहचान कर उत्तम प्रेम का दुरुपयोग करता है और ऐसे अंधे प्रेम में वह स्त्री या पुत्रों का जीवन बर्बाद करता है । १९७ ।

जिस अंध प्रेम से या लालन पालन से पुत्रों के हृदय में उच्छृंखलता, उद्धता और कटुप मिज़ाज की उत्पत्ति हो, वाणी विलास में कठोरता या असत्य भाषण करने की पद्धति का प्रवेश हो, शरीर में व्यभिचार, चोरी, लफंगाई इत्यादि दुराचारों का प्रचार हो, और जो प्रेम की छूट के दुरुपयोग से पुत्र के व्यवहार में मनुष्य भव को बिगाड़ डाले ऐसे जुआँ, मदिरा, मांस, इत्यादि दुष्ट व्यसन पैठ कर उसके जीवन को नष्ट करदे यह लालन पालन और अंध प्रेम किस काम का है? ऐसे अंध प्रेम का प्रायः परिणाम अनिष्ट ही आता है इसलिये अंध प्रेम यह भी प्रेम का दुरुपयोग ही है। प्रत्येक गृहस्थ को प्रेम में से अंधता दूर कर देनी चाहिये। १६८।

विवेचन:—'प्रेमांधता' को 'मोहांधता' के नाम से पहिचानना योग्य ही है, कारण कि जब प्रेम में अंधता आती है तब ही प्रायः प्रेम के स्थान पर मोह जमता है और इसी से प्रायः यह मोहांधता ही है। यह मोहांधता उपरोक्त कथनानुसार मोह की अपेक्षा एक एक पद आगे बढ़ा हुआ दुर्गुण है। इस अंधता के कारण मोह की वस्तु में रही हुई त्रुटियां भी खूबियों सी दृष्टि-गत होती है और दुर्गुण गुण के समान दिखते हैं। स्त्री, पुत्रादि पुरुष के निर्मल प्रेम के प्रथमाधिकारी हैं परन्तु यह प्रेम उन्हें वस्त्राभूषन से सजाने में समाप्त नहीं होना चाहिये, उन्हें उच्च संस्कारवाले बनाकर उनके जीवन को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये, यही उनका सच्चा हित है और ऐसे हित-साधन में ही सच्चे प्रेम की सार्थकता है। ऐसा कर्तव्य न बजाने वाले प्रेमी पति या पिता अपनी स्त्री या पुत्रादिकों को वस्त्रालंकारों की ओर प्रियता बढ़ानेवाले बनावें और इस तरह अपने प्रेम को सफल करे तो उसका परिणाम यह होता है कि वे ऐश आराम के रस्ते लग जायँ परन्तु जीवन का सच्चा हित

न समझें, स्त्री पुत्रादिकों को वस्त्रालंकारों से सुसज्जित हुए देखने की इच्छा रखने वाले पुरुष उनके बाह्य रंग रूप में मोह मुग्ध हैं और उनकी चाहे जैसी मूर्ख और विनिष्ट इच्छा को पूर्ण कर कृतार्थ माननेवाला पुरुष उनकी त्रुटियों को सूर्य समान समझ मोहांध है ऐसा कौन नहीं कहेगा ?

अंध प्रेम सच्चा प्रेम नहीं परन्तु मोह है और मोहांध पुरुष को अपनी मूर्खताओं का भी भान नहीं रहता। ऐसा मोह त्याज्य है. पुत्रों पर मोहांध होने से वे दुर्गुणी होते हैं कारण कि इस मोहांधता से पिता को पुत्र को लाड़ प्यार करने की असीम इच्छा रहती है इसलिये उनमें उद्धता, आलस्य, कठोर-वादित्वादि, दुर्गुण प्रविष्ट हो जाते हैं। भर्तृहरि ने सच कहा है कि—दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः संगात् सुतो लालनात् ॥ अर्थात् कुमंत्री से राजा का, दुष्ट संगति से यति का और लाड़ प्यार से पुत्र का नाश होता है। ऐसे प्यारे पुत्र नीति सम्बन्धी कुछ बड़ा अपराध करें तो भी मोहांध पिता से उन्हें शिक्षा नहीं दी जा सकती या उपालंभ भी नहीं दिया जा सकता। जिसका परिणाम यह होता है कि धीरे २ वह पुत्र, मनस्वी, उद्धत और दुर्गुणी हो जाता है। हृदय का प्रेम मोह अथवा मोहांधता के रूप में बदलता जाता है उस समय मनुष्य को बड़ी सावधानी रखना आवश्यक है कारण कि प्रेम रूपी तलवार ऐसी है कि जो उसका सदुपयोग होतो सैकड़ों की रक्षा करती है और दुरुपयोग होता है तो अपने स्वयम् का और इसके साथही सैकड़ों निरपराधियों को नष्ट कर डालती है। १९७-१९८ ।

[प्रेम का दुरुपयोग किस तरह होता है यह दिखा कर गृहस्थों को होशियार बना अब ग्रंथकार इसको सफलता का मार्ग दिखाते हैं ।]

कथं प्रेम्णः साफल्यम् । १६६ ।

स्यात्सम्बन्धिजनस्य शिक्षणरुचिः स्वास्थ्येन युक्ता सदा ।
निर्दोषाचरणञ्च नीतिसहितं प्रीतिः परार्था भवेत् ॥
धर्मे प्रेम मनोबलञ्च विपुलं सद्यो यथा स्यात्तथा ।
नित्यं यो यतते स वेत्ति सुखदं प्रेम्णो रहस्यं परम् ॥

किस राह से प्रेम को सफलता मिल सक्ती है ?

भावार्थः—जो गृहस्थ आंतरिक पूर्ण प्रेम किंवा बाह्यिक तौर से ऐसी टेढ़ी दृष्टि से पुत्रों को अंकुश में रक्खे कि जिससे वे उद्धत न बनें और उनके शरीर का आरोग्य बराबर बना रहे, इसी तरह खान पान में नियमित रहें अभ्यास में पूर्ण रुचि रख आगे बढ़ें, आचार में जुआ, चोरी, व्यभिचार, इत्यादि कोई भी व्यसन घुस न जाय और चाल चलन कलंकित न हो नीतिमय बने, धर्म में चाहिये जैसी इच्छा लगी रहे, मनोबल हमेशा प्रफुल्लित रहे, स्वार्थ के साथ परमार्थ साधने में भी प्रीति लगी रहे और अन्त में एक बढ़िया नर रत्न निकले इस तरह उत्तम देख रेख में जो प्रेम का सदुपयोग होता है तो इसी में प्रेम की सफलता है। प्रत्येक गृहस्थ को अपनी संतति को सुधारने के लिये ऐसा दा निक प्रेम रखना चाहिये परन्तु अंध मे म न रखना चाहिये। (१६६)

विवेचनः—पहिले समझाया है कि प्रेम के अधिकारी पात्रों का सर्वदा और सर्वथा उत्तम रीति से हित करना। अब यह हित किस तरह से होता है यह समझने में ही प्रेम की सफलता है। जो अपने पुत्रों को सुन्दर वस्त्रालंकार पहिना कर अथवा लाड़ प्यार कर अपने प्रेम के सफल होने की इच्छा

रखते हैं वे कैसी भयंकर भूल करते हैं यह भी पहिले दिखाया है यह वास्तव में पुत्रों का योग्य हित करना नहीं परन्तु यह मार्ग बहुधा उनका अहितकर्ता ही है। जो आंतरिक हृदय में उनपर पूर्ण प्रेम रख बाहर से उनपर पूर्ण अंकुश रखने में तनिक भी गफलत नहीं करते हैं वे ही पुत्र प्रेम की सफलता प्राप्त करते हैं। छोटे बालक अज्ञ होते हैं वे अपना वास्तविक हिताहित नहीं समझते इसीलिये इच्छानुसार मार्गों पर चलने लगते हैं, चाहे जो खाते हैं, चाहे जैसे सहवासियों के साथ घूमते हैं; और किसी भी दुर्गुण के भोगी हो जाते हैं। अनसमझ के कारण बालक अपनी नीति, आरोग्य, विद्या, कला, गुण, इत्यादि का विध्वंस करता हो परन्तु प्रेमी माता पिता उपदेश देकर या भय दिखाकर उन्हें रोकें और उन्हें सन्मार्ग पर लगावें यही उनके माता पिताओं के निर्मल प्रेम का फल समझना चाहिये। वास्तविक प्रेम बनावटी दिखावटी नहीं परन्तु आंतरिक में रहता है, पुत्र के साथ प्रेम का यही सच्चा रहस्य है। १९९।

[प्रेम के अधिकारी पात्रों में पुत्र और पुत्री ये दोनों समाधिकार प्राप्त हैं तौभी अज्ञजन पुत्र पर अधिक प्रेम दिखा पुत्री का तिरस्कार करते हैं ऐसे कार्य से 'प्रेम' कलंकित दशा में आजाता है। इसलिये पुत्री के साथ एकसा व्यवहार करने का उपदेश अब देने में आता है]

पुत्रयोः समानाधिकारः । २०० ।

भोक्तुं प्रेमफलं यथा जनकयोः पुत्रोऽधिकारी भवे-
देवं स्यादधिकारिणी नयदृशा कन्यापि पित्राश्रिता ॥
किं न्याय्योक्तिरियं भवेद्यदनयोः पुंसो द्वयोश्चक्षुषो-
रेकं हीनमतः परं तदधिकं रक्ष्यं तदन्यन्न वा ॥

पुत्रीहितोपेक्षायां प्रेम्णो दुष्टता । २०१ ।

यावत्प्रेमवशः पिता प्रयतते कर्तुं सुतस्योन्नतिं ।
कन्याया हितसाधने समुचितस्तावान्प्रयत्नः पितुः ॥
किन्त्वेकस्य हिताय पातयति यः कन्यांच दुःखार्णवे ।
स स्वार्थी कुटिलो नरोऽधमतरः सद्बुद्धिहीनः खरः ॥

माता पिता के प्रेम में पुत्र पुत्री का समानाधिकार।

भावार्थः—माता पिता के प्रेम को प्राप्त करने में जितना अधिकार पुत्र को है उतनाही अधिकार न्याय और समान दृष्टि से देखने पर माता पिता पर सर्वथा आधार रखने वाली, और उसी उदर से जन्मी हुई पुत्री को भी प्राप्त है (उनके प्रेम फल की अधिकारिणी) है। एक मनुष्य की दो आंखें साथ जन्मी हुई, साथ रहने वाली, और एक कार्य करने वाली है, उसमें एक कम और एक अधिक, एक का रक्षण करना और उसके रक्षण में दूसरी को भाग देना, ऐसा करना और ऐसा कहना भी क्या योग्य है? नहीं, इसी तरह माता पिता के हाथ से पलने में और उनका हित साधने में पुत्र पुत्री दोनों के समान हक हैं। २००।

पुत्री के हक का विनाश करने में प्रेम की कलंकितता।

एक पिता को जितने प्रेम से अपने पुत्र का रक्षण करना या उसके हित के मार्ग ढूंढना आवश्यक है उतनीही सदिच्छा और प्रेम से पुत्री का भी रक्षण करना, शिक्षा देना, और भविष्य में उसका पूर्ण भला हो ऐसे मार्ग ढूंढने में यथा संभव प्रयत्न करना एक पिता का कर्तव्य है। जो पिता स्वार्थ वृत्ति में अंधा हो पक्षपाती बन पुत्र के हित साधने और उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करता है परन्तु पुत्री की आवश्यकता नहीं

रखता, इतना ही नहीं पुत्र के हित के लिये धन संचय करने में पुत्री के भविष्य का लेश मात्र भी विचार नहीं रखता और उसे गहरे खड्डे में डालने का मार्ग ढूंढता है, वह स्वार्थ-लम्पट, कुटिल पिता अधम से अधम गिना जाता है। वह मनुष्य कर्तव्य भ्रष्ट है और मानुषिक पंक्ति में बैठने के अयोग्य है। वह द्विशानिक मनुष्य है परन्तु सचमुच में तो खर ही है। २०१।

विवेचनः—पिता के प्रेम का फल प्राप्त करने का जितना अधिकार पुत्र को है उतनाही पुत्री को भी है। जो पुत्र को कुल का श्रृंगार समझ शिक्षा देते हैं, उसको आरोग्य रखने का प्रबन्ध करते हैं और उसके लिये किसी भी तरह से पैसे खर्च करते हैं परन्तु पुत्री को परघर जाने वाली समझ उसे शिक्षा-देने, आरोग्य रखने या उसकी इच्छाएं पूर्ण करने की तरफ लक्ष नहीं देते, वे मनुष्य भी समझने योग्य नहीं हैं। पुत्र और पुत्री एक पिता की दो आखों के समान हैं इसलिये इन दोनों का पिता के प्रेम पर समानाधिकार होते हुए भी इस प्रकार न्यूनाधिकता दिखाना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। 'पुत्री तो दूसरे के घर की शोभा बढ़ावेगी' ऐसा मानकर जो पुत्री को नहीं पढ़ाते वे अपने प्रेम को कलंकित करते हैं इतनाही नहीं परन्तु कई समय वे अपने कुल तक को कलंकित कर बैठते हैं। शिक्षा प्राप्त पुत्री ससुरे जानेपर सुखसे दिन बिताती है और बिना शिक्षावाली दुखी बनती है। कदाचित बिना शिक्षा पाई हुई पुत्री भविष्य में दुराचारिणी होती है तो उभय कुल कलंकिनी अर्थात् पिता के और ससुरे के दोनों कुल को कलंकित कर देती है। पुत्री को धर्म, नीति, या विद्या की शिक्षा देने में गफलत करने वाला पिता जब अपनी गफलत का ऐसा दुष्ट परिणाम हुआ देखता है तो क्या उसे पश्चात्ताप नहीं होता?

स्वार्थ लम्पट पिता जब पुत्री के लिये शिक्षादि में खर्च करने की इच्छा नहीं रखते और कितने ही पिता ऐसा मानते हैं कि पुत्री का अवतार पुत्र से हीन है–इसलिये पुत्र के सी संभाल के वह अयोग्य है। पुत्री का अवतार पुत्र की अपेक्षा हीन समझना ही बड़ी भारी भूल है। बड़े २ विद्वान और तीर्थंकारों को जन्म देने वाली माताएं क्या हीनावतार समझी जायँगी? माता पढ़ी हुई होती है तो पुत्र भी शुभ संस्कार वाले जन्म लेते हैं। इस से पुत्री की शिक्षा और उसके संभाल की भी पुत्र के जितनी ही आवश्यकता है। शिक्षा देने का हेतु कुछ कमाई करना ही नहीं। पुत्रों को शिक्षा देने का हेतु उन्हें विद्वान, नीतिमान, और धनवान बनाना है, इसी तरह पुत्री को शिक्षा देने का हेतु उस खुद को नीतिमान बनाना है ताके पश्चात् वह उसकी संतति को विद्वान, नीतिमान, और शुभ संस्कार वाले बनाने में सहायभूत होती है, इसलिये पुत्र को पढ़ाने की जितनी ही पुत्री को पढ़ाने की आवश्यकता है। दलपतराम कवि ने गुजराती कविता में कहा है कि—

भलुं भणाव्या पुत्रि ने, ते थाशी थानार।
सदैव सुख पामी करे, आशिर्वाद उचार॥
भणी सर्वा शोभा वणी, वणो ठणी रहि होय।
नारी सारी नहिं दिसे, भणी गणी नहिं होय॥२००-२०१॥

अष्टम परिच्छेद।

पुरुषों के धर्म कन्या विक्रय निषेद।

[पुरुषों के धर्मों से सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों से समानता करने पर 'कन्या विक्रय निषेध' का विषय विशेष आवश्यक प्रतीत नहीं होता

है। परन्तु पुत्री के साथ जो पिता के कर्त्तव्य हैं उन पर प्रायः ध्यान नहीं देनेवाले जन समाज को उपदेश देने के लिये ही यह विषय बहुत आवश्यक है। आधुनिक समय में कितने ही पिता केवल अपनी द्रव्य लालसा की तृप्ति के लिये पुत्री को बेंचने में जितनी अधमता दिखाते हैं और पुत्री के हित का विचार न कर मानुषिक हृदय पाकर भी प्रेम को कलंकित करते हैं। जो हृदय पुत्री के समान अपनी ग़रीब और निराधार संतान पर भी वास्तविक प्रेम नहीं रख सकता वह हृदय कितनी गहन अधमता की खाई में गिरा होना चाहिये, उसकी कल्पना मात्र ही दुःखजनक है; ऐसे अधम हृदयों के लिये ही यह निषेध सूचक बोध कथन होने पर भी ग्रंथकार ने उसे पुरुष के धर्म में सम्मिलित करने की आवश्यकता समझी है।]

कन्या विक्रय परिहारः ।२०२।

विक्रीणाति च योऽधमो निजसुतां द्रव्येण रत्नोपमा-
मेतस्या हितमाचरेच्च स कथं दुष्टाशयो निष्ठुरः ॥
दत्त्वा तां प्रचुरं धनं यदि जराजीर्णाल्लभेत स्वयं ।
द्रव्यार्थी किमु बालिकां हतविधिर्दद्यान्न तस्मा अपि ॥

कन्या विक्रय परिहार।

भावार्थः—जो नीच मनुष्य रत्न समान अपनी पुत्री को पैसों के लिये बेचने को उद्यत होता है, उस मनुष्य का हृदय निष्ठुर और द्रव्य लोभ तथा स्वार्थी होने से वह मनुष्य क्या स्वप्न में भी पुत्री के हित का मार्ग ढूंढ सक्ता है? नहीं, उसे तो सिर्फ़ द्रव्य ही की लालसा है उसे पुत्री के हित अहित का तनिक भी ध्यान नहीं, जहां से अधिक पैसे मिलते हैं वहीं वह अपनी पुत्री को बेच देता है फिर चाहे वह वृद्ध हो अंधा, लूला, पागल, कुष्टरोगी हो। जिससे अधिक द्रव्य मिलता है वहीं वह स्वार्थी—हतभाग्य पिता अपनी बाला-कन्या

को उस लूले लंगड़े, अंधे, कुष्टी अथवा वृद्ध के साथ व्याहने बेचने में तनिक भी नहीं घबराता। २०२।

विवेचनः—पुत्री के लिये योग्य वर ढूंढ निकालना और उसे ससुराल में सुख हो, ऐसी सब योग्यता देख लेना यह पुत्री के साथ प्रेमी पिता का कर्तव्य है, परंतु कितने ही निष्ठुर हृदय पिता धन प्राप्त करने के लिये पुत्री को महान दुःख में झोंक देते हैं और पीछे तक नहीं देखते, ऐसे पिता की दृष्टि पुत्री के सुख की ओर नहीं जाती, परंतु सिर्फ धन की ओर ही झुकी रहती है उनकी सदसद् विवेक बुद्धि का नाश हो जाता है और वे किसी भी वृद्ध, अंधे, लूले, लंगड़े, पागल, गूंगे, कुलहीन या दुष्ट मनुष्य को भी अपनी पुत्री सौंप देते हैं। कन्याविक्रय करनेवाला पिता पुत्री को ऐसे अयोग्य वर के साथ व्याह देता है वह तो दुष्ट कहलाता ही है। परंतु यदि कोई पिता अपनी पुत्री का किसी युवा के साथ व्याह करे और उसके बदले में धन ले तो वह भी दुष्ट और पापी कहलाने योग्य है, क्योंकि पुत्री के व्याह के बदले में धन लेने का आशय ही दुष्टता पूर्ण है और इस आशय से पुत्री के सुख का स्वल्प भी भोग लिये बिना नहीं रहा जाता। लग्न में पुत्री को दान ही दिया जाता है, बेचान नहीं होता इसलिये कन्या के पिता का वर से धन लेना यह 'कन्यादान' शब्द का मिथ्या अर्थ करना है, इसीतरह 'वाचादत्ता मया कन्या पुत्रार्थं स्वीकृता त्वया' अर्थात् कन्या का पिता वर के पिता से कहता है कि मैंने आपको वचन से कन्या दी है, और आपने अपने पुत्रके लिये स्वीकृती दी है ऐसा कथन भी असत्यवाद होता है, कारण कि प्रायः वहां 'दान' नहीं होता परंतु 'बेचान' होता है। इसलिये किसी योग्य वर को भी कन्या देकर धन लेना निषिद्ध है। ब्राह्मण धर्म में आठ प्रकार के व्याह वर्णित हैं उसमें पांचवा

आसुर विवाह है जिसमें धन लेकर पुत्री का ब्याह होता है। आठ प्रकार के विवाह में 'आसुर विवाह' और दूसरा 'पिशाच विवाह' (सोई हुई, नशा की हुई अथवा बेमान की हुई स्त्री के साथ व्यभिचार करना ऐसा विवाह) ये दोनों अधम विवाह हैं और ऐसे ब्याह न करने का उपदेश देते हुए कहा है कि— पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यौकदाचन॥ इस तरह पुत्री के हित के लिये पिता को आसुर विवाह न करने का अपना धर्म यथार्थ रीति से समझ लेना योग्य है।२०२।

[कन्या विक्रय करके धन लेने वाले का पाप कितना नीच है और यह धन कितना दुष्ट है, यह स्पष्ट दिखाने के लिये ग्रंथकार ने नीचे के श्लोकों में आलंकारिक रीति से वर्णन किया है]

कन्या विक्रय धनस्य तुच्छता ।२०३।

वाणिज्येऽनृतभाषणार्जितमिह द्रव्यं सुतुच्छं मतं ।
तस्मात्तुच्छतरं प्रभूतकलुषं विश्वासघातार्जितम् ॥
तस्माद्प्यधमं कलङ्कजनकं पुण्याङ्कुरोन्मूलनं ।
कन्याविक्रयसञ्चितं क्षतिकरं वित्तं सदा दुःखदम् ॥

कन्या विक्रय के धन की अधमता ।

भावार्थः—व्यापार में झूंठ बोल कर ग्राहकों को ठग अनीति से प्राप्त किया हुआ धन तुच्छ और निंदनीय समझा जाता है। उससे भी अधिक खराब और निंदनीय वह धन है जो धर्म का या भक्त का भेष बनाकर बगुला भक्त बन लोगों में विश्वास प्राप्त कर विश्वासघात जैसे अधमाधम नीच कृत्य कर प्राप्त किया जाता है, या धर्म निमित्त निकाला हुआ धन वापस पूंजी में ले लिया जाता है, परंतु इनसे अधिक खराब कन्या विक्रय का पैसा है कि जो पूर्व के पुण्य रूप अंकुर

को जलाकर भस्म कर डालता है, पहिले प्राप्त किये हुए पैसे को भी कीट लगाकर मलीन बना कलंकित करता है, और खानेवाले-भोगनेवाले को अनेक हानि पहुंचाता है। इसलिये सद्गृहस्थ को इसका स्पर्श भी उचित नहीं है।२०३।

विवेचनः—व्यापार में असत्य और अनीति पूर्वक धन कमाते हैं उससे भी अधिक अधम विश्वासघात से प्राप्त किया हुआ धन, और इससे भी विशेष अधम कन्या विक्रय का धन यहां दिखाया है, कन्याविक्रय के धन में इतनी अधिक अधमता होने का कारण भी ग्रंथकार ने दिखाया है। पूर्व भव के किसी पुण्य के योग से मनुष्य को संतान की प्राप्ति होती है। उस संतान को बेच दुःखी कर उसके धन से सुखोपभोग करना, यह क्या पूर्व भव के पुण्यांकुरों का नष्ट करना नहीं है? कितने ही दाखलों से तो कन्या विक्रय करनेवाले पिता कसाई से भी अधिक क्रूरता दिखानेवाले दृष्टि गत होते हैं। कसाई भोजन के लिये पशुओं का वध करता है परंतु उससे भी बढ़कर ऐसे पिता भोजन के लिये पुत्री को बेच उसे दुःख में डुबो २ कर मारते हैं, तो क्या कसाई से भी अधिक वज्र जैसा कठिन हृदय का वह पिता को जीवहिंसा करनेवाला न गिनाना चाहिये? इस रीति से प्राप्त किये हुए धन को विश्वास घातसे प्राप्त किये धन की अपेक्षा अधिक अधम कहें तो इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। कवि दलपतराम ने इस विषय में गुजराती में कहा है कि—

कन्या विक्रय ने करे धन लई धिक्कार तेने थशे;
कीर्तिना कदि लोभ भी, कुल जुए ते पापि पूरो लरों।२०३।

कन्याधन भोक्तुर्हानिः ।२०४।

कीर्त्तिस्तस्य कलंकिता चिरतरं कृत्यैः शुभैः संचिता ।
धर्मो ध्वंसमुपागतः शुभमतिर्नष्टा सुकृत्यैः सह ॥
सौजन्यं तु समाहितं मृतिमिता लोके महत्ता द्रुतं ।
वित्तं योऽर्जितुमिच्छति स्वतनयां विक्रीय दुष्टाशयः ॥

कन्या विक्रय का धन भोगने वाले की दुर्दशा ।

भावार्थः—जो मनुष्य अपनी कन्या को वेच द्रव्य प्राप्त करने की अधिक चाहना रखता है, उसके कुल में पूर्वजोंने जो २ शुभ कार्य करके प्रतिष्टा कीर्ति पाई है, उसपर कलंक लगाता है। उस धनकी इच्छा से उसकी धार्मिक वृत्ति भी विगड़ने लगती है, धर्मानुष्टान करने की सद्बुद्धि और धर्म श्रद्धा नष्ट होने के साथ २ सत्कृत्यों का भी नाश होता जाता है। सुजनता तो समाधिनिष्ट हो जाती है, या दुर्जनता के रूप में बदल जाती है। उसकी लोगों में कुछ महत्ता समझी जाती हो तो भी कन्यादान के लालसा मात्र से वह विलय हो जाती है ।२०४।

विवेचन:—पूर्व दिखाये अनुसार अधम से अधम धन भोगनेवाले की बड़ी ही भयङ्कर दुर्दशा होती है, इसमें कुछ भी आश्चय नहीं, जो नीच है उसका चेप अच्छे को भी लगता है इसलिये इस अधम धन के संयोग से कन्या विक्रय करनेवाले के पास पहिले जो धन होता है, उसका भी नाश हो जाता है, सुकीर्ति का भी नाश होता है और अधमता पूर्वक धन मिलने से न्यायोपार्जित धन प्राप्त करने की वृत्ति न रहने के कारण धर्म वृत्ति तथा सुकृत्यों का भी ऐसे कुटुम्ब से नाश हो जाता है। सत्य ही कहा है कि—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

अर्थात्:—अन्यायोपार्जित धन दस वर्ष तक रहता है और ग्यारहवें वर्ष वह समूल नष्ट हो जाता है।

वर्त्तमान में एक कुटुम्ब में इस श्लोक में दिखाये अनुसार हुबहु बना हुआ दृश्य इस ग्रन्थ के विवेचनकर्त्ता ने अपनी आँखों देखा है। एक वणिक् गृहस्थ के चार पुत्रियाँ थीं और एक पुत्र था। कन्या विक्रय कर अपनी आजीविका चलाने का लेख ही मानों उसने अपने भाग्य पर लिखाया था। उसने अपनी पहिली पुत्री को मारवाड़ के एक वृद्ध गृहस्थ से रुपये १० हज़ार लेकर व्याहने का सट्टा किया उसमें से रुपये ५ हज़ार पहिले मिले। कन्या के सद्भाग्य से व्याह होने के पहिले ही वह वृद्ध वर मर गया, अर्थात् रुपये पांच हज़ार तो कन्या के पिता को हजम हो गए, फिर उसने अव्याही पुत्री को अन्य स्थान पर व्याह कर रुपये पांच हज़ार लिये। दूसरी पुत्री का एक वृद्ध के साथ व्याह किया और १० हज़ार रुपयें लिये परन्तु सौभाग्य से वह विचारी कुंकु की बिन्दी से ही श्मशान में गई। तीसरी पुत्री को उस दुष्ट पिता ने एक गूंगे वर के साथ व्याही और रुपये १२ हज़ार लिये। लग्न होने के १ वर्ष बाद ही वह गूंगा पति मर गया और वह बाला विचारी विधवा हो गई और सुकर्म के उदय से दिक्षा ले आर्यका हुई। चौथी पुत्री को रुपये ७ हज़ार में एक प्रौढ़ वय के वर के साथ व्याही, जो व्याह होने बाद १० वर्ष तक ज़िन्दा रहा और वह बाला आज विधवा है इस गृहस्थ ने चार पुत्रियों को दुख के सागर में डाल रुपये चालीस हज़ार लिये, परन्तु अभी उसकी क्या दशा है? उम्र वृद्ध है। स्त्री मर गई। पुत्र परदेश

में नौकरी करता है, घर में एक पाई भी नहीं बल्कि धातु के बर्तन तक नहीं और उसे मिट्टी के बर्तन में भोजन करना पड़ता है। शरीर पर पूरे वस्त्र नहीं, दो विधवा कन्याएं जीवित हैं वे अपने पिता का मुँह देखने तक भी घर नहीं आती। प्रश्न यह होता है कि चालीस हज़ार रुपये कहाँ गए? क्या आग लग गई? चोरी हो गई? अथवा पैसे के पग आगए? नहीं, इनमें से एक भी न हुआ और उसको कुछ ऋण भी न था परन्तु अधम धन की जो दुर्दशा इस श्लोक में कही है वही बुरी दशा इस धन की हुई। समस्त जीवन कन्या विक्रय के धन से ही बिताने के कारण इस गृहस्थ ने कुछ भी धंधा न किया धन के विस्तार से बड़े २ खर्च किये, दृश्य दिखाये, लेन देन के बाबत् कोर्ट चढ़े, हराम का धन होने से पत्थर की तरह उड़ाया, सुकृत्य तो एक भी न किया और दुष्टता में लीन रहा! इस धन से दुर्बुद्धि का योग इतना दृढ़ जम गया कि वह वृद्ध नर आज खाने पीने से भी तरसता है, पूरा पेट भर नहीं मिलता परन्तु निन्दा कपट और कलह-कंकास में दिन व्यतीत करता है। (२०४)

[कन्या विक्रय से प्राप्त धन की अधमता दिखाने के लिये नीचे के श्लोक में उस धन से प्राप्त वस्तुओं की और अधम वस्तुओं की समानता दिखाई है]

कन्याधन क्रीतानि वस्तूनि । २०५ ।

किं तैर्दूषणभूतभूषणभरैः कन्याधननार्जितैः ।
किं मांसोपममोदकैश्च विविधैर्वस्त्रैश्च शस्त्रोपमैः ॥
क्षेत्रैः पुष्पफलोत्कटैः किमु महाहर्म्यैः श्मशानोपमैः ।
किं पल्यंकसुखासनादिनिवहैः शूलोपमैर्निन्दितैः ॥

कन्याधन से ली हुई वस्तुएं।

भावार्थ और विवेचनः—कन्या को बेच कर प्राप्त किए हुए पैसे से सोना, रूपा, हीरा, मानक, मोती के आभूषण मोल लिये जायँ और वे हाथ, पग, नाकके, कान या कोट में पहिरे जायँ तो वे भूषण हाथ पग नाक भूषण नहीं परन्तु दूषण हैं ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार उस पैसे से खरीदे हुए वस्त्र वस्त्र नहीं परन्तु देह की दीप्ति और कुल की कीर्ति को काटनेवाले अस्त्र हैं निर्दोष और सुकुमार पुत्री को दुख की होली में होम कर उससे निकलती हुई लोही की धाराओं से यह धन प्राप्त किया है। जिस तरह करोड़ों पक्षियों के पंख खींच कर उन पक्षियों को मृतावस्था में फेंक देने पर उन सुकोमल पंखों की शय्या बनाकर उनपर आराम करना यह घातकी आराम व्यर्थ है इसी प्रकार पुत्री के रक्त से प्राप्त धन से वैभव भोगना, यह भी घातकता से कम नहीं है, इसी तरह उस पैसे से ज्ञाति भोजन के लिये बने हुए पक्वान्नों के भरे हुए ग्रास सचमुच मांस के ग्रास समान हैं। उस पैसे से बनी हुई बड़ी २ हवेलियों का निवास श्मशान के निवास समान है, और उस पैसे से लिये हुए पलंग तथा फूल की शय्याएं फूल की नहीं परन्तु शूल की ही शय्याएं हैं, इसलिये ऐसे आभूषण, वस्त्र, पकान, हवेली और फूल की शय्याएं किस काम की हैं? (२०५)

कन्या विक्रयिणः कौटुम्बिकाः।२०६।

सा माता न हि राक्षसी निजसुतामांसाभिलाषायुता ।
तातोऽप्येष न किन्तु निष्ठुरमना दैत्योऽङ्गजाघातकः ॥
नैते वास्तवबन्धवश्च भगिनीरक्तार्थिनो वायसाः ।
पुत्रीं वा भगिनीं धनार्जनकृते विक्रेतुमिच्छन्ति ये ॥

कन्या विक्रय करनेवाला कुटुम्ब ।

भावार्थ और विवेचनः—जो कुटुम्बी अपनी बहिन अथवा पुत्री को धन के कारण बेचना चाहता है और अंत में अधिक से अधिक धन देनेवाले के साथ उस कन्या को बेचे, कन्या के हित के बजाय अपने सुख के साधन प्राप्त कर, उस पैसे से विविध वस्तुएं खरीद भोजन बनवाते हैं। और बहुत से इकट्ठे हो भोजन करने बैठते हैं, उस समय वे भोजन करनेवाले मनुष्य नहीं, परन्तु सच्चे राक्षस हैं कारण कि वह भोजन अधम से अधम धन का बना हुआ है। पुत्री की देह को बेचकर वह भोजन बना है, अर्थात् उस पुत्री के मांस के बराबर है। वह भोजन कन्या की माता करती है, तो वह पुत्री के हृदय के मांस का भाग खाती है अर्थात् पुत्री के हृदय का मांस खाने में लीन हुई वह माता नहीं परन्तु साक्षात राक्षसी ही है। पुत्री के मस्तक का मांस खानेवाला पिता-पिता नहीं परन्तु कन्या का शाप रूप एक बड़ा दैत्य है। इसी तरह बहिन के रक्त की इच्छा रखनेवाले भाई और मित्र एक मनुष्य को न शोभे ऐसा कृत्य करने से भाई नहीं, परन्तु कौए हैं। इस प्रकार तीन तरह के आप्तजनों को भिन्न २ रीति से कन्या विक्रय के पाप के भागीदार गिने हैं। शरीर का उत्तमांग मस्तक है और उसे काटकर उसका भक्षण करनेवाला पिता पुत्री के धन का लेने वाला सब से पहिला और बड़े पाप का भागीदार है। पुत्री पर माता की वत्सलता सबसे अधिक रहनी चाहिये तो भी वह कन्या विक्रय में उद्यत रहती है इससे वह भी पुत्री के हृदय का मांस खाने के लिये या पुत्री के कलेजे का भक्षण करने के लिये राक्षसी के नाम के योग्य है। इसी तरह हाथ पांव के टुकड़े खानेवाले भाई उस पाप के अंतिम हिस्सेदार कौए हैं। यह उक्ति यथार्थ है।२०६।

[कन्या विक्रय के सम्बन्ध का इतना विवेचन किया परन्तु जिसे बेचना है वह कन्या अपने हृदय में इस विक्रय से किस स्थिति को पहुंचती है यह दिखाने के लिये यहाँ ग्रन्थकार पिता के साथ विज्ञप्ति रूप से वृद्ध वर के साथ ब्याही जानेवाली कन्या के हृदय का चित्र खींचते हैं और उसके साथ ही पुत्री की ओर पिता के जो कर्त्तव्य हैं उनका बोध कन्या के मुंह से दिलाते हैं]

पितरं प्रति कन्याया विज्ञप्तिः ।२०७।२०८।२०९।

हे तातापीय भक्षयामि गरलं यद्वा शिरश्छिन्धि मे ।
कूपे पातय मां सहे तदखिलं वृद्धाय नो देहि माम् ॥
सोढुं वृद्धविवाहदुःखकणिकां शक्ष्यामि नातः पित-
र्नो चेत् प्रेम तदाल्पयापि दयया मां पश्यतेऽहं सुता ॥
मां विक्रीय धनी भविष्यसि किमु त्वं तात यत्नं विना ।
जातः क्वापि विलोकितोऽत्र धनवान्किं कन्यकाविक्रयात् ॥
अन्याय्यं भुवि मन्यते महदिदं तादृग्धनस्य स्थिति-
रुत्कृष्टा दशवार्षिकी निगदिता नीत्यर्थशास्त्रे बुधैः ॥
कर्त्तव्यं यदि वेत्सि किञ्चिदपि वा प्रेम्णः शुभं लक्षणं ।
मानुष्योचितसद्गुणं स्वहृदये धर्तुं निजश्रेयसे ॥
स्प्रष्टुं चेत्पितृधर्मलेशमपि वा यद्यस्ति वाञ्छा तव ।
नो चिन्त्यः क्षणिकार्थसाधनकृते स्वप्नेपि मद्विक्रयः ॥

वृद्ध के साथ ब्याह करनेवाले पिता को कन्या की विनय।

भावार्थः—हे पिता ! मैंने सुना है कि आप मेरा ब्याह धन के लिये एक वृद्ध मनुष्य के साथ करनेवाले हैं, क्या यह बात सत्य है ? जो सत्य है तो कुछ सीमा लांघकर मुझे

बोलने की आवश्यकता है, कारण कि एक बाला का वृद्ध के साथ ब्याह यह एक बड़ी से बड़ी कुजोड़ी है, उनके दुःखों का वर्णन मैंने कहीं सुना है और वह याद आते ही मेरा हृदय थर २ काँपने लगता है। अरेरे! मुझे भी क्या वैसे ही दुख सहने पड़ेंगे? क्या दुख का सहस्रवां भाग भी मुझ से सहन हो सकेगा? हे पिता! इसलिये हाथ जोड़ कर आप से प्रार्थना करती हूं कि मुझे एक विष का प्याला भर कर दे दो तो वह अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक पीलूंगी। दुधारी खड्ग ले उससे मेरा सिर काट डालो तो मैं तनिक भी नहीं हिचकिचाऊँगी। ऐसा नहीं करते हो मेरे गले में एक रस्सी बाँध एक गहरे कुंए में मुझे उतार कर मेरा अंत कर दो, उसमें मुझे कुछ भी खेद नहीं है परन्तु हे पिता! हज़ार वक्त पद ग्रहण कर कहती हूं कि आप मेरा ब्याह इस वृद्ध मनुष्य के साथ मत करो। मौत का दुःख मैं सहलूंगी परन्तु यह दुख मुझ से नहीं सहा जायगा। अरे पिता! जिस के मन में अपनी निराधार पुत्री पर एक अंश मात्र प्रेम हो वह मनुष्य तो कभी ऐसा काम न करेगा। आपके हृदय में शायद मुझ पर प्रेम न हो तो मैं प्रेम की याचना नहीं करती परन्तु मैं इतनी ही याचना करती हूं कि आपके कोठे में दया है या नहीं! जो दया का अंश हो तो मैं आपकी पुत्री हूं। क्या मुझ पर दया की दृष्टि से भी नहीं देखोगे? क्या दया से देखने का अधिकार भी मैंने गुमा दिया है? हे पिता! बड़ों की मर्यादा त्याग आगे क्या बोलूं? मेरा हृदय टुक २ हो रहा है, और कलेजा कट रहा है; किंबहुना (२०७) हे पिता! नीति से उद्योग किये बिना सिर्फ मुझे बेचने से ही आप धनवान बन जायँगे? अरे! मैं आप से यही पूंछती हूँ कि इस संसार में कन्या को बेचनेवाले कई मनुष्य विद्यमान हैं किसी २ ने दो, तीन, चार २ कन्याएं बेचकर पैसे लिये हैं परन्तु उनमें से कितने

और सर्वथा त्याज्य है निंद्य है, इस कारण से मांसाहारिओं को निघृ'णा, यवन, दुष्ट, जंगली इत्यादि अभिधान दिये जाते हैं परन्तु निन्दक तो मनुष्य का मांस खाता है, मनुष्य की निन्दा करता है, इसलिये वह यवन जंगली या दुष्ट जनों से भी अधिक अधम है। संसार में कितने ही ऐसे राक्षस मनुष्य हैं, कि जो मनुष्याहार करते हैं, मनुष्य का रक्त पान करते हैं, और दूसरे भयङ्कर कार्यों में ही मग्न रहते हैं; ये नर पिशाच मनुष्य के मांस का भक्षण करते हैं, परन्तु वे मनुष्य शरीर के सुकोमल भागों के मांस का भक्षण करते है और दूसरे भागों का मांस फेंक देते हैं परन्तु निन्दक तो किसी मनुष्यकी जो कुछ त्रुटि होती है, न्यूनाधिक दुर्गुण होते हैं, उन्हें जहां तहां से—'येन केन प्रकारेण, ढूँढ़ निकाल कर उनका भक्षण करना प्रारम्भ करता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर का अशुचिमय भाग पीठ या गुदा है, उसी प्रकार मनुष्य स्वभाव का और मन का अशुचितम विभाग उसकी त्रुटि है। अन्य मनुष्य एक मनुष्य के विद्या, कला, ज्ञान, चतुराई, इत्यादि का कथन कर आनन्द मानता है, परन्तु निन्दक उन गुणों को भूल कर उस मनुष्य के दोष त्रुटि इत्यादि आगे रख कर उसका भक्षण करना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार निन्दा उस मनुष्य के शरीर के अशुचितम विभाग-पीठ के मांस के बराबर है, और उस निन्दा में आनन्द मानने वाले मनुष्याहारी चाण्डाल है—मनुष्याहारी जङ्गली मनुष्यों से भी अधिक अधम है। (४८-४९)

धर्मस्थानेष्वपि निन्दाप्रवृत्तिः ॥५०॥

रे निन्दे कुरुतात्परत वसतिं किं स्याद्ध सत्यात्रमे ? —
ऽदूष्यान्दूषयसे मुनीनपि परं धर्मे स्थितान्सज्जनान्,

सत्यं कारणमस्ति तच्छृणु सखे धर्मोहि शत्रुःकले-
र्मान्याऽहं कलि भूपतेः स च यथा, रज्येत्तथा मे कृतिः ॥

धर्म स्थानों में भी निन्दा।

भावार्थः--

पुरुष—अरे निन्दा! धर्म स्थानों को त्याग कर दूसरी जगह तू तेरा निवास कर।

(स्त्री रूप में निन्दा) धर्म स्थान में मेरा निवास हो इसमें क्या हानि है?

पुरुष—अरे! इससे पवित्र मुनि और धार्मिक सज्जन पुरुष दूषित हो जाते हैं।

स्त्री—यह बात सच है, परन्तु ऐसा करने का एक विशेष कारण है, वह सुनने की इच्छा हो तो मैं सुनाती हूँ। धर्म कलिकाल का दुश्मन है, और मैं कलिराज की प्रतिष्ठित दासी हूँ। हमारे राजा का ऐसा विचार है कि किसी भी प्रकार शत्रु का नाश करना, क्योंकि उसके बिना उनकी सत्ता नहीं जमेगी। मेरे स्वामी का ऐसा आशय होने से उसके अनुसार वर्ताव करना मेरा कर्त्तव्य है. इसलिये कलिराज की विशेष कृपा दृष्टि प्राप्त करने के लिये वे जैसे प्रसन्न हों वैसे कृत्यों में मैं बंधी होने से धर्म स्थान में धर्म गुरु तथा धर्म सेवकों को भ्रष्ट करने का काम जो मैं करती हूँ उसमें क्या अन्यथा है?

विवेचन—इस श्लोक में आधुनिक धर्मोपदेशकों की और धर्मानुयायियों का नीच मानसिक वृत्ति का चित्र खींचने में आया है। यह एक बहुत सामान्य दोष अपने भारतवर्ष में फैल गया है। किसी एक ही धर्म के अनुयायियों में ही नहीं परन्तु प्रायः सब धर्मानुयायियों में; धर्म स्थान में निन्दा प्रवृत्ति का

प्रचार हुआ दृष्टिगोचर होता है। बात चीत का विषय स्थल और समय के अनुसार होता है; ऐसा कई स्थान पर देखने में आता है। श्मशान में शव जलाने को एकत्रित हुए मनुष्य भिन्न भिन्न मनुष्यों के मृत्यु की, रोग की, वैराग्य की और ऐसी ही करुणाजनक वार्ताएँ करते हैं, लग्न मंडप में एकत्रित हुए मनुष्य सगे सम्बन्धियों के लग्न की या वर वधू के गुणादि से सम्बन्ध रखने वाली बातें करते हैं, ये सब दृश्य काल और समय अनुसार ही हैं। परन्तु धर्म स्थान में धर्म की या वैराग्य की वार्ताएँ होनी चाहिये, उसके बदले अन्य किसी की निन्दा की बातें अधिकता से होती हुई दृष्टिगोचर होती हैं यह एक अगम्य विलक्षणता है। "धर्म स्थाने कृतं पापं वज्र लेपो भविष्यति" ऐसा समझने पर भी मनुष्य धर्म स्थानक में भी निन्दा रूपी पापाचरण करते नहीं रुकते, तो किसी गुप्त अदृश्य शक्ति का राज्य धर्म स्थान पर रहने या आने जाने वाले मनुष्यों पर चलता होना चाहिये, ऐसी कल्पना ग्रन्थकार ने की है, यह उचित ही है। ऐसी कुछ अनिष्ट, अदृश्य सत्ता चल सकती है? इस प्रश्न का उत्तर निन्दा के मुंह से ही दिलाया है, कि कलिराज सब को धर्म भ्रष्ट करने का प्रयत्न कर रहा है और वैसा करने के लिये उन्होंने उनकी निन्दारूपी दासी को धर्म स्थान के द्वार पर लाकर बिठा रक्खी है। अहो! कलिराज इस निन्दा के सहाय से मनुष्यों को धर्म भ्रष्ट करने का उद्योग कर रहा है, फिर भी मनुष्य मोहरूपी निन्दा में लीन हैं परन्तु अब तो—

"जागरे जीवड़ा! प्राज आव्यो घणुं"
"केट लो एक प्रति बोधि दीजे-?* ॥

[निन्दा के आगमन से सद्गुणों को भागने की आवश्यकता होती है। इन सद्गुणों के उक्त रूप नीचे का श्लोक रचा है]

*नरसिंह मेहता.

धर्माधिकारिणां निन्दाप्रवृत्तौ सद्गुणानां का दशा ? ॥५१॥

शान्ते याहि दिगन्तरालविवरं लज्जे व्रजं त्वं वनम् ।
त्वं शून्ये निलयं विधाय करुणेऽरण्ये भृशं क्रोशतात् ॥
सत्यप्रेतवनं समाश्रय सखे नीतेऽभिधा मास्तु ते ।
स्युश्चेद्धर्मपदाश्रिता आपजर्ना निन्दादि दोषेरताः ॥

सद्गुणों के साथ निन्दा का विरोध ।

भावार्थः--(अधर्म और कलि का पक्ष लेनेवाली निन्दा ने जो अपनी अधमता बताई वह सुनकर क्या कोई भी धार्मिक पुरुष एक क्षण भर भी उसको आदर देने की इच्छा करेगा ? कदापि नहीं, परन्तु कदाचित् कलिकाल के प्रभाव से धर्माधिकारी मुनिवर और भक्तजन निन्दा को लेकर बैठें तो फिर दूसरे गुणों का आदर कहां से हो ? और सचमुच में यही बात हुई तो) हे शान्ते ! किसी भी दिशा के अन्तरङ्ग मार्ग से तू रवाना होजा । हे लज्जे ; तू भी किसी वन की गुफा में चली जा । हे करुणे ! तू भी किसी अरण्य में जा और कहीं अपना घर बांधकर जितना रुदन करना हो कर । हे सत्य ! तू भी श्मशान भूमि का मार्ग ले । हे नीति ! तेरे नाम निशान की भी आशा क्यों रखनी चाहिये ? कारण कि तुम सबको आश्रय देनेवाले धर्माधिकारी निन्दादि दुर्गुणों को सेवन करने लग गए हैं ॥५१॥

विवेचनः—धर्माधिकारी अर्थात् धर्मोपदेशक, स्वधर्मानुयायियों को सदुपदेश देने के कर्तव्य में लीन रहना चाहिये, कलिकाल के प्रभाव से वे भी स्वकर्तव्य से च्युत होकर

निन्दा भक्षण करने लगें, तो फिर उनके सेवक-अनुयायियों की कैसी दशा हो? धर्मोपदेश का अधिकार जितना भारी है उतना ही बड़ा भार उनके सिर पर है और इतने ही उनके विचाराचार शुद्ध होने चाहिये परन्तु अभी जो दशा देखने में आती है वह दूसरी ही है। धर्मोपदेशक भी कितने अंश में स्वमार्ग भ्रष्ट होकर निन्दक बनने लगे हैं। अपने विरोधी धर्मोपदेशकों की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा अपने मुँह गाना, दूसरे को नीच या दुराचारी ठहराना, खटपट करना, इत्यादि अनेक दोष आजकल के कितने ही धर्मोपदेशकों में दृष्टिगोचर होते हैं। संसारियों से शुद्ध चारित्र्य पालने का उपदेश करनेवाले त्यागी-उपदेशक स्वयं ही अशुद्ध चारित्र्य पालें, तो फिर उनके अनुयायियों से शुद्ध चरित्र की आशा कैसे रह सकती है? 'राजा हरति सर्वस्वं शरणं कस्यजायते?' प्रजा का संरक्षण करना यह राजा का धर्म है, वह स्वयं ही प्रजा को लूटने लगे, तो फिर प्रजा किसकी शरण जाय? अशुद्ध चरित्र वाले धर्माधिकारी भी उसी लुटेरे राजा के समान है। निन्दा दोष के प्रवेश के साथ ही वे परपरिवाद करने में अशान्त बनते हैं। अपने अधिकार का विचार न कर लज्जा त्याग यद्वातद्वा बकने लग जाते हैं। दया को तिलांजलि दे देते हैं, वे अपनी निन्दा खोर प्रकृति को शान्त करने के लिये अन्य के हिताहित का विचार नहीं करते, असत्य तो सदैव निन्दा के साथ ही विचारता रहता है, और नीति सम्बन्धी विचार तो मन में उत्पन्न भी नहीं होते। इस कारण से शान्ति लज्जा, दया, सत्य, नीति आदि सद्‌गुण निन्दा के साथ न रहें और अचानक भाग जायँ तो इसमें क्या आश्चर्य है?

शङ्का:—निन्दा शब्द अतिव्यापक है- प्रत्येक पदार्थ में किञ्चित् गुण होते हैं उसके अवगुण बोलना--इच्छा पूर्वक

बोलना उस पदार्थ की निन्दा कहलाती है. यह निन्दा असत्य मिश्रित है। परन्तु सत्य मिश्रित निन्दा भी होती है। पदार्थ में कुछ दोष हो और उस दोष का विशेषता से स्पष्टीकरण करना यह क्या निन्दा नहीं कहलाती? अर्थात् वह क्या सत्य मिश्रित निन्दा है?

समाधानः—दोष का निरूपण करना—यथार्थ रीति से कहना निन्दा नहीं कहलाती, यदि किसी के हितार्थ किसी दुष्ट मनुष्य के दोष का कथन करना पड़े तो वह दोषयुक्त कथन कुछ निन्दा नहीं कहलाता। सत्य मिश्रित निन्दा में अतिशयोक्ति का तत्व विशेष रहता है। यदि किसी मनुष्य में सच्चे दोष हों उन दोषों का यथार्थ कथन न करके अतिशयोक्ति पूर्वक कथन किया जाय और उसमें अपना कुछ भी स्वार्थ हो तो वह सत्य मिश्रित निन्दा ही कहलाती है अतिशयोक्ति के कारण उस निन्दा में कुछ असत्य का तत्व अवश्य आ ही जाता है इसलिये ग्रन्थकार ने निन्दा को "असत्य सहोदरा" का विशेषण लगाया है।

पुनः शङ्का—स्वधर्म भक्ति के आधिनस्थ धर्मोपदेशक अपने धर्म के तत्वों की विशेषता दर्शाते हुए परधर्म की त्रुटियां दिखाने लगते हैं यदि वह त्रुटियाँ घृणा का कारण हो तो उसे कह सकते हैं?

समाधानः—किसी धर्म की विशेषता दिखाना और अन्य धर्म की त्रुटियाँ, यह निन्दा नहीं उसमें कोई बड़ी भारी त्रुटि हो और प्रसंगोपात घृणा का दर्शन भी हो जाय, तो भी यदि वह घृणा अतिशयोक्ति पूर्वक द्वेष बुद्धि से या असत्य मिश्रित न हो तो उसे निन्दा नही कह सकते आचारांगसूत्र में कहा है कि परमत का खंडन करना हो तो विचार पूर्वक करना चाहिये, और जीव हिंसा के विषय में लिखा है कि—

पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं २ पुच्छिस्सामो। हं भो पावादुया किं भेसायं दुक्खं उदाहु असायं? समिया पड़िवन्नेयावि एवं बूया-सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खत्ति-बेमि।

अर्थात्—प्रत्येक धर्म के शास्त्रों में क्या कथन है? उसे जानने के पश्चात् हर एक मत वालों से प्रश्न करना चाहिये, कि हे परवादियों! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय है? जो दुःख अप्रिय है तो तुम्हारे समान सब जीवोंको ही दुःख महा भयंकर और अनिष्ट है। इस दृष्टान्त के कहने का तात्पर्य यह है कि परमत का खंडन करते समय उस मत (धर्म) के सिद्धांते सम्पूर्णता से समझ कर युक्ति पूर्वक खण्डन करना यह निन्दा नहीं। परन्तु स्वधर्म की विशेषता दिखाते हुए पर धर्म के सिद्धांतों का सम्पूर्ण रहस्य समझे बिना एकान्तवाद पू र्वक उस सम्बन्धी मतानुसार टीका करना, यह तो स्पष्टतः निन्दा है। इस निन्दा का धर्मोपदेशकों को सर्वथा त्याग करना चाहिये, और इसमें तनिक भी स्वधर्म भक्ति का तत्व समाया हुआ नहीं है, ऐसा समझाना चाहिये ॥५१॥

[परन्तु किसी मनुष्य की प्रकृति निन्दाखोर ही हो गई हो और उसे किसी की निन्दा किये बिना चैन न मिलता हो तो उसको किस प्रकार किसकी निन्दा करनी चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर ग्रंथकार नीचे के श्लोक में देते हैं]:—

निन्दाया व्यसनञ्चेदात्मनिन्दैव कार्या।५२।

यद्यस्ति प्रकृतिस्तथा न च विना निन्दां सुखं लभ्य

जय्याऽनेति वदेस्तदा स्वहृदये सूक्ष्मेक्षिका दीयताम्।

दोषाः सन्ति यदाऽमिताः किल निजाः सद्बुद्धिसपद्भिद
स्तैषामेवहि वाध नाय कुरुतां स्वस्यैव निन्दां तदा ॥

निन्दा अपने ही दोषों की करो ।

भावार्थः—जो कदाचित् निन्दा करने का स्वभाव ही हो गया हो, और उस स्वभाव पर विजय-प्राप्त करने में कठिनाई प्रतीत होती हो, निन्दा किये विना चैन न मिलता हो, तो उसके लिये दूसरा मार्ग यह है कि उसको सूक्ष्म दृष्टि से अपनी ही ओर देखना चाहिये ; कि मेरे स्वतः में हानिकारक गुण, धन को हरनेवाले कितने दुर्गुण-दोष भरे हैं ? हे भव्य ! अपने दोषों का निरीक्षण कर, इच्छानुसार खूब पेट भर हमेशा जितनी निन्दा हो सके ; उतनी अपने दोषों की ही निन्दा कर, कि जिससे तेरे दोष छूट जायँ, दूसरों की निन्दा करने से तो तुझे कुछ भी फल नहीं मिलेगा उससे केवल चीकने कर्म ही बधँगे ।

विवेचनः—निन्दा करने की आदत पड़ गई हो और निन्दा किये विना चैन न पड़ता हो, ऐसे निन्दा प्रिय जनों को निन्दा बदले कौन सा भक्षण ढूँढ़ना चाहिये ? अच्छे मनुष्यों की निन्दा करना, यह तो दुःख का मूल है. कहा है कि 'निन्दा यः कुरुते साधोस्तथा स्वं दूषयत्यसौ' अर्थात् मनुष्य जैसे २ अच्छे पुरुषों की निन्दा करता है, वैसे २ वह ज्यादा दुःखी होता है। इसलिये निन्दक वृत्ति की भी तृप्ति हो जाय, और खुद को दुःख भी न हो, ऐसा एक मार्ग है वह यह है कि अपने दोषों को देख कर,—पापों को संभाल कर, हमेशा उनकी निन्दा करता रहे। ऐसी निन्दा करने से कभी दुःख नहीं होता। परन्तु पाप को पुद्गल पतले पड़ते हैं और भविष्य में सुकार्य प्रवृत्ति में चित्त लीन होता है। पाप किंवा दोष की निन्दा

करना यह पश्चात्ताप कहलाता है और 'प्रायश्चित्तं हि पापानां पश्चात्ताप इति स्मृतः' अर्थात् पाप का पश्चात्ताप करना यही प्रायश्चित्त रूप है व पाप के पुद्गल को पतले करने के बराबर है ; यह देखते स्वदोष निन्दा हितकारक ही नजर आती है। (५२)

[पुनः एक नवीन शंका उठाकर उसका उत्तर देने में आता है]

परकीयदोषाप्रकाशनम् ॥५३॥

दोषः कर्णपथागतोऽपि न भवेद्यावद्दृशोर्गोचर ।
स्तावत्तं नयेत्परश्रुतिपथं निन्दाधिया सज्जनः ॥
चक्षुर्गोचरतां गतोऽपि समितौ नायं प्रकाश्यो जने-
ऽप्येषः किन्तु तदन्तिके हितधिया यस्या पराधोऽस्ति सः ॥

अन्यदोषनिराकरणे किं निन्दाया आवश्यकता ? ॥५४॥

वस्त्राशुद्धिनिवृत्तये नहि भवेत्पङ्कस्य लेपो यथा ।
दुष्टाचारनिवृत्तये न च भवेन्निन्दाप्रवृत्तिस्तथा ॥
तस्माद्रीतिरियं सदाऽहितकरी दोषास्पदा त्यज्यतां ।
यस्यां नास्ति फलं च किंचिदपरं द्वेषं च वैरं विना ॥

दूसरे मनुष्य की भूल किस तरह सुधारनी चाहिए ?

भावार्थः—किसी मनुष्य का दूषण अपने कान से सुना, इस पर से उसे मन में सच न मान लेना चाहिये। कारण कि दुनियाँ के लोगों में कई बक्त बिलकुल झूठी बातें भी फैल जाती हैं, इसमें जो दोष अपने दृष्टिगोचर न हुआ हो या विश्वास पूर्वक न मालूम हुआ हो, तब तक जन समुदाय में या किसी भी व्यक्ति के सन्मुख वह दोष प्रगट नहीं करना और उसके मनुष्य की फजीती करने का मन में संकल्प

भी न करना। कदाचित् वह दोष सच्चा ही हुआ या दृष्टिगत भी हुआ हो तो भी एक बार मनुष्यों के समुदाय में उस दोष को प्रगट न करके उस मनुष्य को एकान्त में लेजाकर हित-बुद्धि पूर्वक शुभाशय से चतुर मनुष्यों को शिक्षा की तरह निवेदन कर समझाना चाहिये। (५३)

दूसरों के दोष छुड़ाने के लिये क्या निन्दा की आवश्यकता है ?

भावार्थ:—कीचड़ का लेप लगाने से जो मैला वस्त्र शुद्ध हो सकता हो तो दूसरों की निन्दा करने से सामाजिक दुराचार रुक सकता है. परन्तु ऐसा होता हुआ कहीं देखा है ? नहीं। तब जिस प्रकृति में द्वेष और वैर की वृद्धि के सिवाय दूसरा कौन सा भी शुभ फल नहीं, ऐसी निन्दा प्रवृत्ति को क्यों रखना चाहिये ? उसका तो प्रतिदिन त्याग ही करना चाहिये। [५४)

विवेचन:—किसी मनुष्य की निन्दा करने वाला मनुष्य, उस मनुष्य के कोई कार्य या विचार की अनिष्टता ऊपर स्वेच्छाचारी टीका करता है, और उसमें इतनी अतिशयोक्ति मिश्रण करता है कि जिससे वह निन्दा सुननेवाला मनुष्य जिसकी निन्दा हो रही है उस पर घृणा करने लगता है. ऐसे निन्दक मनुष्य से कोई प्रश्न करता है कि "भाई तू किस लिये उस मनुष्य की निन्दा करता है? तब वह मनुष्य उत्तर देता है कि" मैं निन्दा नहीं करता उसके दोष दिखाता हूँ। इस हेतु से कि वह मनुष्य लोगों की दृष्टिसे तुच्छ समझा जावे और फिरसे उसपर कोई विश्वास न करे "इस निंदा करनेवाले मनुष्य के इस कथन पर जो गहरा विचार किया जाय, तो इन दो बातों में से कोई भी एक सच्ची बात समझ में आजावे. या तो निंदा करने वाला मनुष्य मुँह से उड़ती हुई बातें सुनकर उस मनुष्य की निंदा

करता हुआ मालूम पड़े या प्रायः निंदा की जाती है उस मनुष्य ने कुछ अनिष्ट कार्य किया ही है इससे यह उसकी निंदा कर रहा है ऐसा ज्ञात हो। उड़ती हुई बातें सुनकर निंदा करना, यह बड़ा असत्यवाद और दुर्जनता है. ऐसी दुर्जनता से किसी को हानि न पहुँचे, इसलिये अंग्रेज सरकार ने बदनामी का कायदा अतिदीर्घ विचार कर रचा है। इस कायदे के अनुसार किसी को किसी की अप्रमाणिक निंदा करने का अधिकार नहीं होता और जो कोई ऐसा करता है तो वह दंड का पात्र गिना जाता है. परन्तु न्याय की कचहरी से सत्य की कचहरी अधिक दीर्घ दृष्टि वाली है किसी कार्य को न्याय की कचहरी में तो सांच झूंठ करके भी सिद्ध कर सक्ते हैं परन्तु सत्य की कचहरी में ऐसा नहीं होसकता। प्रत्यक्ष रीति से—स्वचक्षुओं से देखे हुए कार्य का ही प्रमाण मानकर किसी मनुष्य को दूषित गिनना सत्य है उसमें भी फिर एक उपभेद है। एरिस्टोटल कहते हैं कि एक मनुष्य अन्याय का कार्य करता है परन्तु प्रायः वह अन्यायी नहीं होता. ऐसा होते हुए जो देखने में आवे तो सिर्फ देखनेवाले का दृष्टि विभ्रम या बुद्धि विभ्रम ही समझना चाहिये। एक जैन मुनि एक स्त्री के घर पर गए उस स्त्री ने मुनि का सत्कार किया. मुनिराज उस को नख से शिरतक बार २ देखने लगे यह कार्य किसी एक मनुष्य ने देख लिया वह मनुष्य इसपर से अपनी बुद्धि के अनुसार ऐसा समझा कि ये मुनि दुष्टाचार और पापी हैं, कारण कि संसारिणी स्त्री को निहार २ कर देख रहे हैं. ऐसा देख कर और समझ कर वह एक दम चला जावे और मुनि की निंदा करने लग जाये, परन्तु जो कुछ उसने देखा है जो कुछ वह समझा है, वह अपूर्ण है अथवा उसकी बुद्धि का विभ्रम है और इसलिये उसे मुनि की निंदा करने का कुछ भी अधिकार नहीं है।

प्रायः मुनि उस स्त्री को देखते थे उसका कारण और था. अतः आहार लेने का निषेध होने से उस स्त्री के अंगोपांग सूझते हैं या असूझते और उसके हाथ से आहार लेना योग्य है या नहीं यह देखने के लिये वे मुनि उस स्त्री का निरीक्षण करते थे। वह निंदक मनुष्य अपनी दृष्टि के या बुद्धि विभ्रमता से उस निरीक्षण कार्य का वास्तविक हेतु न समझ सका; परंतु उसपर से मुनि दूषित सिद्ध नहीं होसकते। आधुनिक न्याय की कचहरी में कदाचित् वे मुनि दूषित भी सिद्ध होजायँ परन्तु सत्य की कचहरी में तो वे निर्दोष ही हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी मनुष्य को किसी कार्य में दूषित ठहरना होतो पहिले दीर्घ दृष्टि से अनेक प्रकार के विचार करना चाहिये अनेक संयोगों की तलाश करनी चाहिये और कार्य का वास्तविक हेतु इष्ट था या अनिष्ट यह परिश्रम पूर्वक समझ लेना चाहिये। यह सब कर लेने के पश्चात् एक मनुष्य दूषित भी सिद्ध हुआ तो उसको सुधारने के लिये क्या प्रयत्न करना चाहिये? इस प्रश्न के उत्तर जन समुदाय में से दो तरह के मिलेंगे। एक प्रकार के मनुष्य ऐसा कहेंगे कि उस दुष्ट मनुष्य की अपकीर्ति करना, उसकी पोल खोलना, फिर इस अपकीर्ति से या निंदा से डर कर वह ऐसे कार्य में कदापि नहीं पड़ेगा और सुधर जायगा। दूसरे प्रकार के मनुष्य ऐसा कहेंगे कि नहीं, उसकी निंदा तो नहीं करना परंतु उसे हित बुद्धि से सलाह देना इससे वह सुधर जायगा। इन दोनों तरह के मनुष्यों में से दूसरे प्रकार के मनुष्यों की सलाह विशेष उचित है। दुर्गुणों को दूर करने के लिये दुर्गुण का ही सेवन करना यह दीर्घदर्शी मनुष्यों का लक्षण नहीं है। "शठे शाठ्यं समाचरेत" यह नीति सर्वथा उपयोगी नहीं हो सकती।

निन्दारूपी शस्त्र से शठ पुरुष तो डरते ही नहीं और दुष्ट प्रकृत्ति छुड़ाने के लिये निन्दारूपी शस्त्र की आवश्यकता भी नहीं; उनको एकान्त में हित सलाह देना यही हितकर है। वह समझदार मनुष्य तो (एक अन्य मनुष्य) अपने कार्य की दुष्टता समझ गया, और इससे वह अपने को उपदेश देने आया है, इस पर से ही निन्दा हुए बिना, निन्दा के भय से भयभीत हो जायगा और अनिष्ट प्रवृत्ति त्याग देगा. और जो ऐसे समझदार मनुष्य को सुधारने की योग्य एकदम निन्दारूपी शस्त्र से उसके सामने युद्ध प्रारम्भ किया जावे तो उससे वह उलटा निर्लज्ज बन जायगा और दोनों के बीच में परस्पर कलह और अशांति का साम्राज्य फैलेगा। इस कारण से दुष्ट मनुष्य को सुधारने के लिये भी निन्दा उपयोगी नहीं हो सकती। इसीलिये कहा है कि "निन्दिज्जइ दुज्जणोवि न कयावि" अर्थात् दुर्जन की भी निन्दा न करनी चाहिये। (५३-५४)

[निन्दा का प्रकरण यहां समाप्त हुआ है. बोलने में किस प्रकार की भाषा का उपयोग होना चाहिये उस सम्बन्धी विवेचन अब प्रारम्भ होता है]

एकादश परिच्छेद ।

—:०:—

कर्तव्यसाधकभाषा ।

कर्तव्यसाधकानां वर्जनीयभाषादोषाः ।५५।

स्यात्कस्यापि यदि प्रसंगवशतः किंचिद्विवक्षात्ववाचि-
च्चिन्त्यं तत्सुधिया पुरा स्वहृदये शोध्यं विचाराग्निना
तोल्यं कण्ठसमागतं मतिमता जिन्हातुलायामतो
तुच्छमनर्थकं क्षतिकरं वाच्यं तदेवोचितम् ।

कर्तव्य साधक जनों को भाषा कैसी बोलनी चाहिये ।

भावार्थः—जब तक किसी भी विषय में बोलने की आवश्यकता न हो तबतक तो कुछ भी न बोलते चुप्पी साधना ही श्रेयस्कर है । कदाचित् कहीं बोलने का आवश्यक प्रसंग आ गया और वहां कुछ बोलने की इच्छा भी हुई तो पहिले अपने हृदय में सद्बुद्धिद्वारा अच्छे से अच्छे शब्द बोलने का दृढ़ निश्चय करना, फिर जब वे शब्द बाहर निकलने लगें तब पहिले उन्हें हार्दिक विचाराग्नि से गलाना, वे गले हुए कोमल और हितकर शब्द जब कण्ठ भाग में आवें तब जिन्हारूपी कांटेपर बुद्धिपूर्वक तोलना जो बोलने के लिये शब्द धार रखे हैं वे शब्द किसी को भाररूप, विना अर्थ के, हानिकारक अपनी या दूसरों की लघुता दिखाने वाले न हों, तब मुँह से बाहर निकालने चाहिये ; नहीं तो फिर गल जाने चाहिये । परन्तु बुरे शब्द बाहर निकाल कर किसी का हृदय बींध डालना अच्छा नहीं ।

विवेचनः—जिसे मित भाषण कहते हैं उसका स्वरूप इस श्लोक में समझाया है। मितभाषण अर्थात् माप २ कर बोलना, बोलने की क्रिया को किस तरह नापना और फिर बोलना यही इसमें सुझाया है। जबतक आवश्यकता न हो तबतक मुँह में से एक भी शब्द का उच्चारण नहीं करना यही मितभाषण का प्रथम अंग है। जो बोलने की आवश्यकता का प्रसंग ही आ गया और चित्तवृत्ति ने बोलने का आग्रह किया तब ही बोलने की इच्छा करना योग्य है परन्तु मुंह के ज्ञानतन्तुओं को बोलने के व्यापार का प्रारम्भ करने के पहिले कैसे शब्द बोलना उनका और जहां तक हो सके वहां तक अच्छे से अच्छे उपयोगी शब्द बोलने का दृढ़ निश्चय करना इस निश्चय को कार्य में लाने के पहिले दीर्घ विचारों की अग्नि से बोलने के शब्दों को शुद्ध करना, जिस तरह कञ्चन का घाट घडने से पहिले उसे अग्नि में तपाकर शुद्ध कर लेते हैं, उसी तरह शब्दों को भी शुद्ध कर लेना। पुनः जिस प्रकार सुवर्ण को तराजू में तोलकर उसका मूल्य बताया जाता है। उसी प्रकार शब्दों को भी जिह्वारूपी तुला में तोलने के पश्चात् उन शब्दों को मुँह से बाहर निकालना चाहिये। तराजू में जो सुवर्ण अधिक भारी मालूम हो तो भारी भाग को काट कर फिर उसका उपयोग किया जाता है इसी तरह शब्द जो जिह्वारूपी तुला में किसी को भाररूप होंगे ऐसे मालूम पड़ें तो उनमें का अनिष्ट भाग न निकलने देना और उपयोगी शब्द ही बोलना चाहिये। कदाचित अपना सम्पूर्ण भाषण ही किसी को हानिकर या अनर्थ कारक होगा, ऐसा समझ पड़े तो फिर उन शब्दों का उच्चार ही न करना, यही उचित है। परन्तु ऐसे शब्द बोलकर किसी के हृदय को पीड़ा पहुंचाना योग्य नहीं, सुभाषितकार सत्य कहते हैं कि:—

अल्पाक्षररमणीयं यः कथयति स खलु वाग्मी।

अर्थात् जो थोड़े अक्षरों में रमणीय और सारयुक्त बोलता है वही सच्चा वाग्मी अर्थात् भाषा को नाप २ कर बोलनेवाला वक्ता कहलाता है। 'मित भाषण का यह यथार्थ स्वरूप है'॥५५॥

[किस भाषा का सब प्रसंगों पर और सब स्थानों पर त्याग करना उचित है इस विषय में उपदेश देते हैं]

मर्मभेदिभाषाविवर्जनम् ॥५६॥

पारुष्येण पराङ्मुखा हि पुरुषाः श्रोतुं न वांच्छन्ति तद्।
किंचातः परमर्मभेदकतया कालुष्यमुत्पद्यते॥
शान्तेस्तेन विनाशन जनगणे वैरस्य वृद्धिस्ततः।
पारुष्यं परिवर्जनीयमनिशं शिक्षोपदेशादिके॥

क्लेशोत्पादकभाषापरिहारः ।५७।

या स्यात् क्लेशविधायिनी जनमनोविक्षेप सन्धायिनी।
राज्यज्ञातिसमाजधर्मविषय-द्रोहस्य सम्पादिनी॥
धर्मोत्थापनकारिणी विषलताबीजस्यसंरोपिणी।
वाचा सा जनघातिनी सुखहरा वाच्या न सन्तापिनी॥

मर्मभेदक कठोर भाषा का त्याग।

भावार्थः—उपदेशक या शिक्षक श्रोताजनों के चित्त में जो बात ठसाते हैं, वह बात कठोर भाषा से या मर्मवेधक भाषा से नहीं ठसा सकते। कारण कि उससे श्रोतजन अन्तः-कुपित हो पराङ्मुख हो जाते हैं। अर्थात् वे उस बात को सुनना भी नहीं चाहते। इतना ही नहीं, कितनी ही वक्त तो

मनुष्यों के पास धन रहा है ? क्या आप उनके दो चार दृष्टांत भी मुझे दिखा सकेंगे ? मैं खातिरी से कहती हूं कि हे पिता ! यह पैसा अत्यन्त अनीति का है और नीति शास्त्र के जाननेवाले विद्वान् पुरुष कहते हैं कि अन्यायोपार्जित द्रव्य की स्थिति अधिक से अधिक दस वर्ष की है ग्यारहवें वर्ष तो अनीति का पैसा नीति के पैसे को भी साथ ले रवाना हो जाता है अर्थात् कन्या विक्रय का पैसा जहां जाता है वहां भूख, और भूख के सिवाय कुछ देखने में नहीं आता ऐसा खातिरी से समझें ।२०८। हे पिता ! कर्त्तव्य की कुछ समझ रखते हो या अपनी संतति पर रहनेवाले निर्दोष प्रेम का उत्तम लक्षण ध्यान में रखना चाहते हो अथवा मनुष्य पद को शोभे ऐसे सद्गुण हृदय में धारण करने की इच्छा रखते हो या पुत्र और पुत्री दोनों पर समान भाव रखने की जो पिता का कर्त्तव्य है वह कर्त्तव्य अधिक नहीं लेश मात्र भी बजाने के लिये आप का अंतःकरण हुल्लास पाता हो तो मैं अपने व आप के दोनों के हितार्थ जोर देकर कहती हूँ कि मुझे बेच पैसे लेने का संकल्प स्वप्न में भी न करें कारण पैसा तो एक क्षण भर रहेगा थोड़े ही समय में विलीन हो जायगा परन्तु उससे मेरे भाग्य में लगा हुआ दुःख और आप के सिर मढ़ा हुआ कलङ्क भवोभव में भी दूर नहीं होगा इसलिये ऐसे कलङ्कित कृत्य से अलग रह कन्या के हित का मार्ग ढूंढ़ो यही सद्गुणी पिता का कर्त्तव्य है ।२०९।

सारांशः—कन्या विक्रय करना पाप है, कन्या के हृदय को चीर डालनेवाली छुरी है, उससे प्राप्त हुआ पैसा अधम है, उससे नीति पूर्वक प्राप्त किया हुआ धन भी अधम हो जाता है जिससे वह जल्द नष्ट हो जाता है इसी तरह जगत् में विक्रय करनेवाले को कलङ्कित करता है इन कारणों को सन्मुख रख

कर कन्या की पिता से की हुई करुणा-जनक विन्ती से जो ऐसा धंधा करनेवाले हैं उनके चित्त में पुत्री पर प्रेम नहीं परन्तु दया भी उत्पन्न होगी तो इस ग्रंथकार का प्रयत्न सफल है। मर्यादा शील और समझदार कन्याएं प्रायः अर्ज तौर पर ऐसे शब्द भी नहीं कह सकी तो भी उनके हृदय तो हमेशा बड़ों से यही विनय करते रहते हैं कि "हे! पूर्वजों! हमको इस गड्ढे में डालकर मारने के बदले समुद्र में डाल दीजिये, कि जिससे हम जल्द ही ऐसी भावनाएं भाती हुई परलोक सिधारें कि फिर आपके पेट से जन्म न लें" कन्या विक्रय करनेवालों को उनके कर्त्तव्य समझाने के लिये अनेक उपाय लिये हैं, यह पाप है ऐसा कहने से या यह धन अधम है ऐसा समझाने से या ज्ञाति के कायदों में जकड़ लेने से भी मार्ग पर नहीं आनेवाले कन्या विक्रय कर्ताओं को समझाने का एक मार्ग और रहा है वह मार्ग यह है कि मनुष्य में मानुपीयता के अंश रूप दया का जो स्वभाविक गुण प्रकृति ने दिया है उसे जाग्रत करना और उसके लिये कन्या के मुँह से ऐसे ही दयाजनक शब्दों में विनय करवाना उचित है। यही हेतु सिद्ध करने के लिये वर्तमान में ऐसे करुणाजनक संवादवाले नाटक करने तथा ऐसे संवाद द्वारा जन समाज को उपदेश देने की प्रथा किसी की तरफ से प्रचलित भी हुई है। (२०७-२०८-२०९)

नवम परिच्छेद।

पुरुषों के धर्मः सदुद्योग।

उद्योगश्च द्रव्यावश्यकता।२१०।

सन्तोषे परमं सुखं यदुदितं तत्त्यागिलक्ष्मीवतो-
र्नो वृत्त्यर्थमितस्ततो विचरतां नृणां वुभुक्षावताम्॥
निर्वाहाय कुटुम्बिनां सुगृहिणां द्रव्यं किलावश्यकं।
योग्यं नोद्यममन्तरा सहजतस्तल्लभ्यते प्रायशः॥

द्रव्य की आवश्यकता और उद्योग।

भावार्थः—'संतोषः परमं सुखं' इस वाक्य में और सामान्य जनोक्ति में जो कहा जाता है कि संतोष में परम सुख है यह त्यागी पुरुषों और धनाढ्य लोगों की अपेक्षा से ठीक हैं कारण इन दोनों को तो सन्तोष में ही परम सुख है, परन्तु जो सामान्य मनुष्य आजीविका के लिये चारों ओर फांफां मारते फिरते हैं तो भी उनका पूर्ण रीति से उदर निर्वाह नहीं हो सकता या कुटुम्ब का पालन नहीं हो सकता वे जो अपनी दुःस्थिति में भी सन्तोष मान कर शांतता से बैठे रहें तो अधिक भूखे मर सुख के बदले दुःख के भागी बनें अर्थात् कुटुम्ब निर्वाह के भार से दबे हुए सामान्य गृहस्थों को तो अपना और कुटुम्ब का निर्वाह सुख से चल सके और वृद्धावस्था सुख में व्यतीत हो सके इतने द्रव्य की आवश्यकता रहती है। यह आवश्यकता सिर्फ़ भाग्य पर आधार रखने से या जड़ी बूटी और मंत्र जंत्र के वहम में जहां तहां भटकने से पूरी नहीं हो सकती किन्तु योग्य उद्योग करने से ही पूर्ण होती है। २१०।

विवेचनः—इस श्लोकों में दो जाति के मनुष्यों को भिन्न २ रीति से उपदेश दिया है एक जाति को ऐसा उपदेश दिया है कि 'सन्तोष में सुख मानना' और दूसरे को ऐसा कहा है कि 'सन्तोष मान कर बैठ रहना'। यह पारस्परिक विरुद्ध उपदेश प्रथम दृष्टि से तो बड़ा आश्चर्यकारी है। 'सन्तोषः परमं सुखम्' यह तो एक नीति वचन है तो सब मनुष्यों को एकसा उपदेशक होना चाहिये। परन्तु इसके बदले दो भिन्न २ जाति के मनुष्यों को दो भिन्न २ प्रकार का परस्पर वृद्ध उपदेश दिया जाता है इसका कारण क्या? कारण भी इसी श्लोक में स्पष्ट रीति से दिखाया है। संतोष में सुख मान कर कोई त्यागी या धनाढ्य पुरुष बैठ रहे तो उसके लिये यह उचित भी है कारण कि प्राप्त वस्तुओं में संतोष मान विशेष वस्तुओं के लिये फांके मार लोभ द्वारा आत्मा को कलुषित न करना यही उनके लिये श्रेयस्कर है। परन्तु जो दरिद्री हैं वे संतोष मान कर निरुद्यमी हो बैठे रहें तो वे अधिक दरिद्री हो जायँ यह स्वाभाविक है। यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि जो अपनी दुःखी स्थिति में भी निरुद्यमी बैठे रहते हैं वे प्रायः संतोष के गुण के लिये नहीं परन्तु उनमें आलस्य की प्रधानता होने से वे दैव को दोष देते पड़े रहते हैं और फिर लौकिक में मान पाने के लिये सिर्फ संतोष की बातें करते हैं। एक व्याख्याता ने एक स्थान पर कहा है कि Contentment does not meana killing out of desires, but a training of desires towards their legitimate ends, अर्थात्—इच्छाओं को एक दम नष्ट करना सन्तोष नहीं परन्तु इच्छाओं को उनके वास्तविक परिणामों की ओर फैला कर नष्ट करना यही सच्चा सन्तोष है। एक दरिद्री मनुष्य रात दिन सो रहता हो और पूरा खाना भी न पाता हो जिससे भूखा रहता हो तब संतोष करता हो

तो क्या उसे सन्तोषी कह सकेंगे ? नहीं तो इस पर से यह समझना चाहिये कि सन्तोष को उसके बुरे अर्थ में न समझो। अन्य स्थूल वस्तुओं की प्राप्ति के सम्बन्ध में सन्तोष उचित है परन्तु सद्गुण और विद्या प्राप्त करने में असंतोष से ही अधिक आगे बढ़ा जाता है। त्यागी मनुष्य सिर्फ अपने शरीर के वस्त्रों में ही संतोष मान चाहे अन्य सर्व उपकरणों का त्याग कर दें अथवा कभी स्वल्प आहार की ही उपस्थिति हुई तो बेशक उससे काम चला लें परन्तु ज्ञान प्राप्ति में, योग साधन में, आत्मा के उन्नति क्रम में या लोगों को उपदेश देने की प्रवृत्ति में वे स्वल्प से ही सन्तोष मान बैठे रहें तो वहां यह सन्तोष अयोग्य है, परन्तु असंतोष ही योग्य है। इसलिये शुभ सन्तोष और अशुभ सन्तोष को भिन्न २ दृष्टि से देखना चाहिये। संसार में रहकर प्रत्येक गृहस्थ को स्वल्प धन से सन्तोष मान लेने का सद्गुण धारण करना योग्य है परन्तु यह सन्तोष ऐसा न होना चाहिये कि जिससे निरुद्यमी बैठे रहना पड़े और अपने तथा कुटुम्ब के भूखों मरने के दिन आपड़े कहा है कि— 'नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः' अर्थात् सिंह अति बलवान है तो भी जो वह नींद में दिन बिता दे और उद्यम न करे तो मृग उसके मुंह में घुसने नहीं आते। इसलिये संसार चलाने वाले को जिस तरह द्रव्य की आवश्यकता है उसी तरह द्रव्य प्राप्त करनेके लिये भी उद्योग की आवश्यकता है।२१०।

[उद्यम की आवश्यकता दिखा कर अब वह उद्यम किस तरह का होना चाहिये यह दिखाते हैं]

कीदृशउद्योगः । २११ ।

नावद्यं प्रचुरं न चापि भवति प्रायः परेषां क्षति-
र्यत्र स्वल्पपरिश्रमेऽपि बहुलो लाभः समासाद्यते ॥

उद्योगश्च तथा विधस्सुखकरो नैश्चिन्त्यसम्पादकः ।
संशोध्यो गृहिणा शुभाशयवता बुद्ध्या दृशा दीर्घया ॥

उद्योग कैसा होना चाहिये ?

भावार्थः—जिस उद्योग में नीति और धर्म को धक्का लगे ऐसे दोष न हों अपने कुटुम्बी, सम्बन्धी, देश बन्धु या अन्य किसी के हक को धक्का न पहुँचता हो, जिसमें थोड़े परिश्रम से अधिक लाभ प्राप्त करने की सम्भावना हो और अपनी शक्ति उपरांत हानि पहुँचना भी असम्भव हो ऐसा उद्योग जो कि भविष्य में चिन्ता दूर करने वाला होकर वर्तमान की गहन चिन्ताओं में भी गिराने वाला न हो और शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के सुख देने वाला हो वह उद्योग सशुभाशय वाले विचक्षण गृहस्थों को दीर्घ दृष्टि और विशाल बुद्धि द्वारा ढूंढ निकालना चाहिये कि जिसका अपने को और कुटुम्ब को निश्चिन्तता के साथ स्वस्थता प्राप्त हो जाय । २११ ।

विवेचनः—इस एक श्लोक में उद्योग सम्बन्धी कई सूचनाएं दी गई हैं उद्योग कैसा होना चाहिये, किस प्रकार का लाभ देने वाला होना चाहिये, कैसे सुख प्राप्त कराने वाला होना चाहिये और कैसे दोष वाला न होना चाहिये तथा धर्म नीति, स्वदेश, स्वकुटुम्ब, स्वशक्ति, इत्यादि अनेक दृष्टि बिंदु से देखने पर भी वह लाभकारी उद्योग हो वही करना चाहिये । इसी सम्बन्ध का कथन इस श्लोक में किया है । अनीति और पाप को प्रोत्साहन मिले ऐसा व्यापार, अपने देश या कुटुम्ब के हित को अहितकर्ता कोई भी उद्योग, अपनी शक्ति से बढ़कर अकस्मात अधिक नुकसान आ गिरे ऐसा धंधा सब दिन और रात भर चिंतातुर रहना पड़े ऐसा रोज़-

गार और अधिक परिश्रम से थोड़ा लाभ मिले और भविष्य में निराश होना पड़े ऐसा हुन्नर इत्यादि दोषयुक्त उद्योगों को त्यागकर दूसरे शुभोद्योग में चित्त लीन करना चाहिये। बुद्धि ने 'धम्मपद' में कहा है कि 'जो मनुष्य सद्गुण या चपलता रखता है जो न्यायी है और हमेशा सत्य बोलता है और अपने योग्य धंधा करता है जगत् उसकी प्रशंसा करता है' आजकल उद्योग की चाह में कितने ही मनुष्य भूल करते हैं, वे दूसरे को किसी धंधे में बढ़ा हुआ देखकर आप भी वही धंधा करने लगते हैं और विशेष में अपने देश बंधु के साथ ईर्ष्या करके लाभ की जगह हानि कर अपने लाभ को भी गुमाते हैं या अधिक परिश्रम करने पर थोड़ा लाभ पाते हैं। योग्य ईर्ष्या दोषयुक्त नहीं समझी जाती परंतु खुदको या दूसरे धंधे वाले का नुकसान पहुंचाने वाली अयोग्य ईर्ष्या पूर्वक कोई धंधा न करना चाहिये। उद्यम करने की इच्छा कर किसी उद्यम को पसंद करने में जिन २ गुणों की यहां आवश्यकता दिखाई है तथा उसमें जिन २ दोषों के न होने की सूचना दी गई है उस ओर गृहस्थों को हमेशा सावधान रहना चाहिये।

कैसे २ उद्योग अनुचित और दोष युक्त हैं उनके कुछ नाम यहां देना उचित है। कुम्हार का धंधा कि जिससे करोड़ों जीवों की हिंसा होती है वह या लाख गलाने का, वृक्ष काटकर बेचने का, ये धंधे धर्म दृष्टि से दोष युक्त हैं। जिस धंधे में अवश्य मिथ्या बोलना पड़े और बिना मिथ्या बोले वह धंधा न चल सके तो वह धंधा नीति की दृष्टि से बाधक है उसे न करना चाहिये। ऊपर कहे अनुसार देश-बंधु या कुटुम्बी के साथ ईर्ष्या में पड़कर कोई भी धंधा न करना चाहिये कारण कि वह दूसरों को उद्वेग जनक होने से त्याज्य है सट्टा का धंधा कि जिसमें धारे से भी अकस्मात अधिक नुकसान लग

जाता है और रात दिन चिन्ता में ही बीतने से जीव को ननिक भी शांति नहीं मिलती, न करना चाहिये ये थोड़े दृष्टांत हैं इन पर से इनकी श्रेणी में आते हुए दूसरे धंधे भी त्याग कर किसी शुभ उद्योग को ढूंढ कर उसे करना यह प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है ।२११।

[किसी भी उद्योग में नीति का अवलम्बन अत्यन्त महत्त्व का है । गृहस्थाश्रम का मुख्य हेतु नीति—रक्षा है और इस नीति की व्याप्ति एक में नहीं परन्तु संसार की प्रत्येक प्रवृत्ति में होनी चाहिये 'सदुद्योग' नाम सत्य, प्रामाणिकता आदि नीति के गुणों से युक्त उद्योग का ही उचित है अब इन गुणों के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन करने के लिये ग्रंथकार उद्यत है]

नीतिः ।२१२।

नीतिर्यत्र सुरक्षिता परमया संशुद्धया निष्ठया ।
वृद्धिर्वा विजयः फलञ्च विपुलं तत्रोद्यमे जायते ॥
नीतिर्नास्ति यदुद्यमे सफलता स्थायी च वित्तागमो ।
न स्याद्विश्वसनीयता सुवणिजां रक्ष्या च नीतिस्ततः ॥

नीति ।

भावार्थः—जिन उद्योगो मनुष्यों की निष्ठा परम शुद्ध रहती है । दानत अच्छी रहती है और अन्याय की ओर घृणा-दृष्टि होने से नीति का बराबर रक्षण होता है उनके उद्योग की प्रतिदिन वृद्धि होती है । दूसरों के साथ ईर्ष्या करने पर भी वे उद्योगी ही सफलता पाते हैं और आर्थिक लाभ भी नीति वाले उद्योग में ही अधिक मिलता है इसलिये जहां नीति की रक्षा नहीं होती उस उद्योग में सफलता भी नहीं मिलती । तत्काल थोड़ा लाभ भी हो परंतु वह लाभ चिरस्थाई नहीं

रहता क्योंकि वहां लोगों का विश्वास कम रहता है भरोसा
टूट जाता है अर्थात् अंत में वह उद्योग भी नष्ट हो जाता है
इसलिये स्वहितेच्छु गृहस्थों को उद्योग में नीति की बराबर
रक्षा करनी चाहिये।२१२।

विवेचन:—सब विद्वानों ने प्रत्येक उद्योग में नीति को प्रथम-
स्थान दिया है, उद्योग में मनुष्य की नीयत साफ रहने से
उसका लाभ उसी मनुष्य को मिलता है परंतु जो नियत
खराब रहती है तो उसकी हानि दो मनुष्यों को सहनी पड़ती
है ? तो उसे ही हानि होती है क्योंकि वह दगा कर अपनी
चीज़ पर दुना नफ़ा लेने को उद्यत होता है तो कुछ समय तक ही
ऐसा नफा मिलता है परंतु पीछे से उसका दगा लोगों में
प्रसिद्ध हो जाने से वह धंधा बिलकुल भंग हो जाता है दूसरी
हानि उस वस्तु खरीदने वाले को होती है। जो दूसरों की
ईर्ष्या के कारण दगा करते हैं वे भी अपना धंधा अधिक समय
तक नहीं चला सके विश्वास पर ही प्रत्येक धंधा चलता है
और जो उस धंधे में दगा किया जाय तो उस अविश्वासु
धंधे को कुछ समय बाद ही बंद करना पड़ता है एक अंग्रेज़
लेखक ने कहा है कि Society is built upon trust and
trust upon confidence of one another's integrity.
अर्थात् जनसमाज का बंध विश्वास पर है और विश्वास का
बंध परस्पर की प्रामाणिकता पर निर्भर है। ऐसे विश्वास
से व्यापार उद्योग को कितना लाभ होता है यह दिखाने के
लिये एक तेल बेचने वाले व्यापारी का दृष्टांत देना योग्य
है। धनपाल नामक तेल बेचने वाला एक व्यापारी इतना
दगाबाज़ था कि उसकी दूकान पर तेल लेने जाने वाले को
वह कभी अच्छा और तोल में पूरा तेल नहीं देता था। किसी
भी तरह वह ग्राहक को आधी क़ीमत का ही माल देता था

इससे धनपाल पर से लोगों का विश्वास उठ गया और उसका धंधा कम हो गया परंतु जो तेल बेचने वाले सिर्फ रुपये में चार आना ही नफा लेते थे उनका धंधा बराबर चलता रहा किसी दिन धनपाल के घर मुनिराज आगए और उन्होंने उसे उपदेश दिया जिसके फल से धनपाल ने रुपये पर एक आना नफा लेकर व्यापार करने की प्रतिज्ञा ली। धनपाल ने अपनी प्रतिज्ञा लोगों में प्रसिद्ध कर फिर व्यापार प्रारंभ किया परंतु उसकी दूकान पर कोई तेल लेने नहीं जाता लोगों का विश्वास उस पर से उठ गया था एक समय एक सात आठ वर्ष की कन्या धनपाल के यहां चार पैसे का तेल लेने आ निकली, धनपाल ने अपनी प्रतिज्ञानुसार रुपये पर एक आना नफा ले बिलकुल साफ तेल दिया वह लेकर कन्या चली गई। उस कन्या की माता हमेशा से अधिक और अच्छा तेल देख कर आश्चर्य पाई और उस कन्या से पूछा कि तेल कहां से लाई कन्या ने धनपाल का नाम बताया दूसरे दिन उस कन्या की माता खुद धनपाल के वहां तेल लेने गई। उस दिन भी उसने उसी हिसाब से दिया। इससे धनपाल की प्रतिज्ञा पर उसे विश्वास हो गया और आकर अपने पड़ोसी से सब हाल कह सुनाया। वे भी धनपाल के यहां से तेल लाने लगे। रुपया पीछे चार आने नफा लेकर व्यापार करने वालों की अपेक्षा धनपाल के यहां से तेल लेने में लोग फायदा उठाने लगे और धनपाल का धंधा बढ़ गया, लोगों का उसपर विश्वास जम गया। इसी तरह नीति पूर्वक व्यापार से धनपाल कोट्याधि पति हो गया।२१२।

[उद्योग में नीति की आवश्यकता और उसका परिणाम दिखाकर अब अन्य स्थान पर नीति से कैसे शुभ परिणाम प्राप्त होते हैं वह दिखाते हैं।]

नीति परिणामः ।२१३।

नीतिर्यत्र कुलेऽस्ति तत्र कलहोऽशान्तिश्च नो विद्यते ।
यद्देशेऽस्ति नयः समृद्धिरतुला तत्र स्थिरं तिष्ठति ॥
यद्राज्येऽस्ति नयादरो दृढतरा तस्योन्नतिर्जायते ।
नीतिर्यन्मनुजेऽस्ति सुन्दरतरं तज्जीवनं राजते ॥

नीति का परिणाम ।

भावार्थः—जिस कुल में नीति की रक्षा होती है अर्थात् कुल के मनुष्य नीतिवान होते हैं । उस कुल में कुटुम्ब में हमेशा शांति विराजती है क्लेश या लड़ाई को वहां बिलकुल समय नहीं मिलता । जिस देश में अधिक अंश से नीति प्रचलित है उस देश की वृद्धि होती है। पर देश की सम्पत्ति भी सब वहीं संचित होती है । और वहीं स्थिर रहती है जिस राज्य में नीति का सत्कार होता है उस राज्य की आबादी स्थिर रहती है और दिन बदिन उस राज्य की उत्क्रांति होती जाती है जिस मनुष्य के व्यवहार, चालचलन और उद्योग में नीति प्रतिष्ठित है उस मनुष्य का जीवन विजय होने के साथ अति उच्च और रमनीय होता है इसलिये हमेशा प्रत्येक स्थान पर नीति का सत्कार होना चाहिये । २१३ ।

विवेचनः—सिर्फ उद्योग में ही नहीं परंतु प्रत्येक कार्य, प्रत्येक स्थान और प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में नीति शुभ परिणाम लाये बिना नहीं रहती । एक मनुष्य नीतिमान होता है तो उससे समस्त कुटुम्ब नीतिमान होता है । समस्त कुटुम्ब और एक देश नीतिमान होता है, तो समस्त देश को उसे की उत्तम नीति का शुभ बदला प्राप्त हुए बिना नहीं रहता । जो एक मनुष्य नीतिमान है तो उसकी कीर्ति फैलती है, समस्त

कुटुम्ब नीति-मान है तो वह शांति और आनंद में रह सुख से समय व्यतीत करता है और जो एक देश या राज्य नीति-मान है तो वह आर्थिक सम्पत्ति से आबाद रह दूसरे देशों की अपेक्षा प्रगतिमान होता है। नीति के परिणाम इतने अधिक व्याप्त हैं इसलिये जो मनुष्य अपने व्यवहार, व्यौपार, और सब जगह नीति का अवलम्बन करता है उनके फल से विजय प्राप्त हुए बिना नहीं रहती। जमाना हीन आया है यह सच है:—

धर्मः प्रव्रजितस्तपः प्रचलितं सत्यं च दूरं गतं।
पृथ्वी मन्द फला नरा कपटिनीश्चित्तं च शाठ्योर्जितम्॥
राजानोऽर्थपरा न रक्षण पराः पुत्राः पितुर्द्वेषिणः।
साधुः सीदति दुर्जनः प्रभवति प्राप्ते कलौ दुर्युगे॥

अर्थात्—इस कलियुग में धर्म का नाश हुआ, तप चलित हुआ, सत्य दूर भगा, पृथ्वी मंद फल वाली हुई, पुरुष कपटी हुए, चित्त लुच्चाई युक्त हो गया, राजा द्रव्य सम्पादन करने में तत्पर रह लोक रक्षा करने वाले न रहे, पुत्र अपने पिता के साथ द्वेष करने वाले हुए, साधु पुरुष नष्ट हुए और दुर्जन समर्थ बने, जमाना इतना कुटिल हो गया है। व्यवहार में भी कई समय नीतिमान पुरुष दुःख पाते और अनीति मान विजय पाते देखे हैं परंतु अंत में सत्यमेव जयते नानृतम् सत्य की ही विजय होती है असत्य की नहीं और नीति हमेशा तिरती है। पित्तल पर बहुत ओप चढ़ा कर ऐसा सुन्दर बनाया जाय कि क्षण भर वह सुवर्ण के गहने से भी अधिक मोहक लगे परन्तु अन्त में सुवर्ण वह सुवर्ण है और पीतल वह पीतल है इस तरह अन्त में नीति की ही विजय होती है और इसे बर्न्सन के शब्दों में कहे तो "प्रामाणिक मनुष्य चाहे जितना दीन हो तो भी वह गरीब होते हुए मनुष्यों के राजा समान है।" (२१३)

[उद्योग के सम्बन्ध में नीति एक आभूषण समान है यह आशय व्यक्त करने के लिये ही नीचे का श्लोक रचा है।]

नीतिरेवोद्योगभूषणम्। २१४।

राज्यं भूपतिमन्तरा क्षितिपतिः प्रीतां प्रजामंतरा।
गेहं वा गृहिणीं विना च गृहिणी कान्तं प्रसन्नं विना ॥
जीवो ज्ञानमृते विभाति न यथा देहो विना चेतना-
मेवं भाति विनोद्यमं न मनुजो नीतिं विना चोद्यमः ॥

नीति ही उद्योगाभूषण है।

भावार्थ तथा विवेचनः—जिस तरह अच्छे राजा विना राज्य, राज्यभक्त विना प्रजा, सुन्दर सुशील चालाक गृहिणी विना घर, प्रसन्न रहने वाले सुशील पति विना गृहिणी, ज्ञान और बुद्धि शक्ति विना जीव, चैतन्य शक्ति विना शरीर, शोभा नहीं देता, उसी तरह विना उद्योग के ठाला बैठा आलसी मनुष्य शोभा नहीं देता। और वह उद्योग भी नीति और न्यायनिष्ठा विना नहीं शोभता। अर्थात् मनुष्य का भूषण उद्योग और उद्योग का भूषण नीति है। पहिले मनुष्य को उद्योगी होने की आवश्यकता दिखाई है और उद्योग में नीति को प्रथम स्थान देने की आवश्यकता भी समझाई है। यहाँ दोनों आशय का एकत्रित कथन किया है। जिस तरह अच्छा राजा, शुभ राज्यभक्त, प्रजा और राज्य, इन तीनों के योग से राज्य शोभा पाता है, स्त्री पति और गृह के योग से घर शोभा देता है। ज्ञान, जीव और शरीर के योग से शरीर शोभता है, उसी तरह उद्योग नीति और मनुष्य के योग विना मनुष्य नहीं शोभता। प्रत्येक दृष्टान्त में जो २ त्रिपुटी की आवश्यकता दिखाई है उन २ त्रिपुटी के प्रत्येक अङ्गभूत गुण की एक दूसरे में परस्पर आवश्यकता भरी हुई है और इसी से

एक आध गुण के कम होने पर भी समस्त त्रिपुटी का नाश हो जाता है। इन त्रिपुटी युक्त दृष्टान्तों के देने का मतलब यह है कि उद्योग नीति और मनुष्य इन तीनों का हमेशा योग हो अगर इनमें से एक का भी वियोग न हुआ वही मनुष्य संसार में विजयी होता है और जो इनमें से एक का भी वियोग हो गया तो मनुष्य का जीवन नष्ट होने के समान हो जाता है।२१४।

सत्यनीत्योर्व्याप्तिर्वर्त्तमान स्थितिश्च।२१५।

सत्यं यत्र विराजते समुचितं तत्रैव नीतिस्थिति-
र्नीतिर्यत्र समुन्नतिः समधिका तत्रैव सञ्जायते ॥
हा हा भारतमण्डले सपदि चेत्सूक्ष्मेक्षया ऽवेक्ष्यते ।
प्रायोऽसत्यभयेन दृष्टिपदवीं नायाति सत्यं क्वचित् ॥

सत्य–नीति की व्याप्ति और वर्तमान स्थिति।

भावार्थः—दीर्घ दृष्टि से देखने पर ये दो व्याप्ति अनुभव सिद्ध प्रतीत होती हैं कि जहाँ २ सत्य की प्रतिष्ठा है वहाँ २ नीति के स्थायी भाव हैं और जहाँ सत्य नहीं वहाँ नीति नहीं एक व्याप्ति तो यह और दूसरी व्याप्ति जहाँ नीति का साम्राज्य है वहाँ उन्नति और आबादी है जहाँ नीति नहीं वहाँ आबादी नहीं। वर्तमान समय में हिन्दुस्थान पर दृष्टि कर दीर्घता से निरीक्षण करें तो आज उन्नति और नीति के मूल सत्य के दर्शन दुर्लभ हो गए हैं। जहाँ देखें वहाँ असत्य के सिवाय दर्शन ही नहीं। सच कहें तो वर्तमान में यहाँ असत्य ही की विजय हुई दृष्टि गत होती है।२१५।

विवेचनः—नीति सम्बन्धी सद्गुणों में 'सत्य' का भी समावेश होता है परन्तु यहाँ सत्य को इन सब सद्गुणों का प्रमुख समझ ऐसा दिखाया है कि यह प्रमुख गुण जिनमें होता

है उनमें नीति सम्बन्धी दूसरे गुण भी रहते हैं। एरिस्टोटल का ऐसा अभिप्राय है कि—एक दक्षता के सद्गुण का अस्तित्व समस्त नीति सम्बन्धी सद्गुणों के अस्तित्व को उपलक्षित करता है" जिसे प्रायः सच्ची दक्षता कहते हैं उसमें ही सत्य रूपी महान गुण का अस्तित्व रहने से एरीस्टोटल का यह नीति सूत्र उचित है। सत्य! यह नीति सम्बन्धी दूसरे गुणों की कसोटी के समान है। जिस तरह जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि भी होती है इसी तरह जहाँ सत्य होता है वहाँ नीति सम्बन्धी दूसरे गुण भी रहते हैं। इसलिये ग्रंथकार ने सत्य की व्याप्ति में नीति की व्याप्ति और उसकी अव्याप्ति में नीति की अव्याप्ति दिखाई है जो सर्वथा और सर्वदा समुचित है। भारतवर्ष को यहाँ दृष्टान्त रूप लिया है। पहिले भारत में सत्य और नीति दोनों व्याप्त थे जिससे यह देश आबाद भी था परन्तु अभी सत्य का लोप होने से नीति नष्ट हो गई है जिसके फल से इसकी दुरवस्था है भारत वर्ष की आधुनिक दुरवस्था के अनेक कारण भिन्न २ विद्वानों ने दिखाये हैं और भिन्न २ स्थिति में भिन्न २ दृष्टि बिन्दुओं से देखते भिन्न २ कारण दृष्टिगोचर होते हैं तो भी मुख्य कारण यह है कि सत्य और नीति को भूलने से ही यह दुर्दशा हुई है। भारत में सब से पहले मुसलमान और फिर योरप निवासी आये और उन्होंने अपना अधिकार जमाया। हिन्द की सांपत्तिक दुरवस्था परदेशियों के आगमन से और उनके धन ले जाने से हुई परन्तु उसके भी गहन ऐतिहासिक कारण ये हैं कि भारत के भिन्न २ राजा नीति न समझ सके और देश की रक्षा के लिये परस्पर सम्बन्ध न रख सके। सांसारिक दुरवस्था के कारणों में बाललग्न, कन्या विक्रय, कुजोड़े, वृद्ध विवाह इत्यादि हैं परन्तु उसका भी गहन कारण यह है कि

लोग सत्य और नीति के मार्ग को भूल कुमार्ग पर चले और पुत्र पुत्री का हित विना सोचे अपनी इच्छानुसार वर्त्ते। धार्मिक दुर्दशा के कारणों में भी सत्य और नीति का अभाव ही है कारण कि भारत में ये गुण स्थिर रहते तो जैन बुद्ध, वेदान्ती, शिख, समाजी और दूसरे आपस में लड़ भिड़कर खुवार न होते और वर्तमान में धर्म चलनी में से निकली हुई दशा भोगते हैं वैसी न भुगतते। इस तरह भारत की आर्थिक सांसारिक, और धार्मिक अव दशा के गहन कारण असत्य और अनीति ही दृष्टि गत होते हैं।२१५।

[प्राचीन समय में भारतवर्ष में सत्य और नीति के दर्शन होते थे उसके विरुद्ध वर्तमान में जहां तहां अनीति के ही दर्शन होते हैं और इसीसे भारतवर्ष की अधोगति हुई है। असत्य और अनीति का प्रचार कहां २ होचुका है उसे दिखाने के लिये थोड़े दृष्टांत देने में आते हैं।]

न्यायालयेप्यसत्यम् ।२१६।

सत्यासत्यविनिर्णयाय रचिते न्यायालये साम्प्रतं।
किं सत्यस्य समादरो? न हि न हि प्रायोस्ति तत्रानृतम्॥
विक्रीणन्ति मतं स्वकीयमनघं न्यायञ्च सत्याङ्कितं।
स्वार्थं साधयितुं प्रधानपुरुषा न्यायासने संस्थिताः॥

न्यायालय और असत्य।

भावार्थः—जो कचहरियां सत्य और असत्य का निर्णय कर सत्य बात को जग जाहिर करने और मनुष्यों को न्याय देने के लिये स्थापित हैं उन कचहरियों में भी क्या सत्य का ही सत्कार होता है? नहीं २ अधिक अंश में वहां भी असत्य का प्रवेश है। न्याय के आसन पर बैठनेवाले प्रधान पुरुष भी कदाचित् पैसे की लालच में लिपट स्वार्थ साधन के लिये

ऐसी कठोर भाषा से किसी का मर्मस्थल बींध जाता है जिससे परस्पर द्वेष बढ़ता है और क्लेश की उत्पत्ति होती है। उसमें से अशांति के फव्वारे फूटते हैं। और विष की बेल जन समुदाय में फैल जाती है कि जिसके कटु फल अपने को या दूसरों को चखने पड़ते हैं इसलिये योग्य तो यही है कि पहिले ही शिक्षा देने में या उपदेश देने में कठोर दारुण भाषा का उपयोग ही नहीं किया जाय।

क्लेशोत्पादक भाषा का त्याग।

जो भाषा सुलह शांति के साज से सुसज्जित मनुष्यों के मन में विक्षेप डाल कर क्लेश पैदा करती है जो भाषा राज्य को धक्का पहुंचा कर ज्ञाति के टुकड़े कर, समाज में विद्रोह डाल, धर्म का ध्वंस कर, देश का सम्प मिटा, राज्य द्रोह, ज्ञाति द्रोह, समाज द्रोह, धर्म द्रोह और देश द्रोह को पैदा करती है; कुतर्क, और कुयुक्ति से धर्म का स्थापन करती है। कदाग्रह और द्वेष रूप विष की बेल का चारों तरफ संचार करती है; सुलह शांति का भङ्ग कर मनुष्यों का संहार करती है; ऐसी और निष्फल वाद विवाद युक्त भाषा सुज्ञ पुरुषों को हमेशा त्यागनी चाहिये अर्थात् खुद ऐसे वचन न बोलना और दूसरों को भी बने तो ऐसी भाषा बोलने से रोकना चाहिये।

विवेचन :—पूर्व श्लोक में किस प्रकार की भाषा बोलना, इसका प्रतिपादन करने के पश्चात् इन दोनों श्लोकों में किस प्रकार की भाषा सुज्ञ जनों को त्यागनी चाहिये इसका कथन करने में आया है। दारुण अर्थात् कठोर और देश-समाज और राज्य में क्लेश उत्पन्न हो, ऐसी भाषा का हमेशा त्याग करना, यही उपदेश इसमें मुख्य है कितने ही बार विद्वान्

मनुष्य भी अपनी भाषा की कठोरता के लिये दुःख पाते हैं, कठोर भाषा सत्य होने पर भी सुनने वालों को नहीं रुचती और चाहे उसमें कितना ही यथार्थ्य हो तो भी वह दूषित और दोष युक्त भाषा ही गिनी जाती है इसलिये कहा है कि:—'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यम् प्रियम्' अर्थात् सत्य बोलना प्रिय बोलना परन्तु सत्य भी अप्रिय हो तो नहीं बोलना। इस पर से यह नहीं समझ लेना कि असत्य बोल कर प्रियवादी होना। कहने का तात्पर्य यह है कि जो सत्य अप्रिय भाषा हो तो नहीं बोलना ही अच्छा है, अर्थात् उस समय मौन धारण करना ही योग्य है। परन्तु दूसरे मनुष्य को बींध डाले ऐसा अप्रिय नहीं बोलना, उसी तरह सत्य पर प्रियवादित्व की परिभाषा देकर प्रिय लगे ऐसा असत्य भी न बोलना। अप्रिय अथवा कठोर भाषा का परित्याग करने के लिये उपदेशक इतना आग्रह करते हैं, उसका कारण यह है कि कठोर भाषा में गूंथे हुए हित वचनों को मनुष्य श्रवण नहीं करते और इससे जो उन्हें उपदेश उनके हितार्थ दिया जाता है निष्फल जाता है। इससे किसी को उपदेश देना हो, किसी को उनका हित बतलाना हो, किसी को उपालम्भ देना हो, तो भी बने वहां तक मधुर शब्दों में ही कहना चाहिये। कठोर भाषा से श्रोता उद्विग्न होते हैं, उपदेश ग्रहण नहीं कर सके। जिससे उनका अश्रेय होता है। और उपदेशकों का आयास भी व्यर्थ जाता है किसी अर्द्ध दग्ध मनुष्य के साथ सम्बन्ध हो तो परस्पर द्वेष उत्पन्न होने से जहरीला वैर बंधता है। कठोर भाषण के एक दृष्टांत रूप पांडव कौरव का चरित्र है। पांडवों में भीमसेन तमोगुणी और महाक्रोधी था। दुर्योधनादि कौरवों ने उसे वाक् प्रहार से वेधा और द्रौपदी का चीर हरण करवाया उसके परिणाम से भीमसेन

इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने कौरव कुल के नाश करने की प्रतिज्ञा ली और अंत में पांडवों ने अपनी यह प्रतिज्ञा पूर्ण भी की। कौरवों के कठोर भाषण का फल उन्हें ही भुगतना पड़ा इस पर से कहा है कि:—

क्षिपेद्वाक्यशरान् घोरान् न पारुष्यविषप्लुतान्।
वाक्पारुष्यरुषा चक्रे भीमः कुरु कुलक्षयम् ॥

अर्थात्:—कठोर भाषण रूप विष से भिगे हुए भयंकर वाक्बाणों को नहीं फेंकना चाहिये क्योंकि कठोर भाषण के क्रोध से भीमसेन ने कुरु कुल का नाश किया। कठोर भाषा से एक व्यक्ति को ही नहीं परंतु सब कुल को और देश को कितनी हानि होती है, उसका यह बड़ा भारी दृष्टांत है। उसी तरह जिस भाषा से समाज के, धर्म में, देश में, प्रजा में, या राज्य में अनिष्ट ज्वालाएँ जल उठे, ऐसी भाषा का परित्याग करना चाहिये। यह एक प्रकार का भयंकर विद्रोह गिना जाता है, जिस कठोर वचन से एक व्यक्ति का अनिष्ट होता है; वह अनेक का अनिष्ट करने के लिये वैर बुद्धि से प्रेरित होता है, तो जिस खटपट वाली भाषा से राज्य में या समाज में अनिष्ट का प्रचार होता हो वह भाषा कितने व्यक्तियों के हित का ध्वंस करती है यह समझना सरल है। पंडितजनों ने इसीलिये उपदेश दिया है कि किसी के हितार्थ भी क्लेशकारक भाषा का उपयोग न करना चाहिये; कारण कि ऐसी भाषा के उपयोग से मन में निश्चित की हुई हितकारक बुद्धि का पराजय होजाता है और क्लेश को प्रधान पद प्राप्त होते अहित काही प्रचार होता है (५६-५७)

[मित भाषण के लाभ समझाने पर मुख्यतः कैसी भाषा का सर्वदा त्याग करना चाहिये उसकी सूचना करने के पश्चात् अधिक बोलने वाले

मनुष्य अपने लिये कितनी हानि कर लेते हैं वह दिखा कर मित भाषण का उपदेश करने में आता है]

मितभाषणम् ।५८।

भाषन्ते निजशक्तितोऽधिकतरं वाचाललालम्बिन ।
स्तेऽश्रद्धेयतदुक्तयो जनगणे गच्छन्त्यहो लाघवम् ॥
सत्यं तद्वचनं भवेत्तदपि नो केनापि विश्वस्यते ।
तस्मान्नाऽधिक भाषणं समुचितं श्रेयोर्थिनां सर्वदा ॥

अधिक बोलने में क्या गौरव है ?

भावार्थः—जो मनुष्य वाचालता का डोल दिखा कर अपनी शक्ती की, बिना तुलना किये बड़ी २ बातें कर सब दिन वक्ता करते हैं वे जन समाज में गौरव प्रतिष्ठा प्राप्त करने के बदले हीनता और लघुता प्राप्त कर हास्यास्पद बनते हैं इतना ही नहीं परंतु लोग उसके वचन पर भी विश्वास नहीं करते जिससे मौके पर उनकी सच्ची बात हो तो भी झूंठी समझी जाती है, क्योंकि उसने सच्चा झूंठा बोलकर अपना इतबार खोदिया। इसलिये जो गौरव की चाहना हो और लोगों में विश्वास प्राप्त कर कर्तव्य के मार्ग में आगे बढ़ना हो तो अधिक न बोलना चाहिये और शक्ति के उपरांत अधिक भाषण भी न करना चाहिये। ५८।

विवेचनः—अपनी शक्ति से अधिक बड़ी और महत्व की बातें करने वाला मनुष्य बहुत बोलने वाला कहलाता है. जिस रीति से थोड़े शब्दों में अर्थमय गांभीर्य भाषण करने वाला सचमुच वक्ता कहलाता है, उसी तरह बहुत शब्द बोल कर सारांश समझाने वाला मनुष्य बहु बोला या प्रलापी कहलाता है। सुभाषितकार भी इसी तरह कहते हैं कि "बहु वचन

मल्पसारं यः कथंयिति विप्रलापी सः" ऐसे मिथ्या प्रलाप करने वाले का मुंह तो एक होता है परंतु जिह्वा अनेक हो ऐसा वह एक ही मुंह काम करता है, जिह्वा यह एक तुला है और मित-भाषी जन इस तुला में तोल २ कर वचन बोलते हैं परंतु प्रलापी मनुष्य तो अनेक जिह्वाओं के संयोग से अनेक गुणा बोलता है और बिना तोले इच्छानुसार बक २ करने से असत्यवादी भी कहलाता है। ऐसे अति भाषी के शब्द बिनाढंग के होकर लोगों को निस्सार बिना वजनके, निरर्थक और मिथ्या मालूम हो इसमें कुछ नवीनता नहीं है। लोग समझते हैं कि उसके जिह्वा रूपी तुला में तुल कर शब्द बाहर नहीं निकलते, इससे ये शब्द निस्सार हैं और ये शब्द बोलने वाला मिथ्या प्रलापी और अप्रतिष्ठित मालूम होता है। उसके शब्द उसके गौरव की हीनता दिखाते हैं। विद्वान और सुज्ञ जन भी अपने अति-भाषी शब्दों से अपनी विद्वता को निंद्य बनाते हैं, तथा लोगों को अविश्वासनीय मालूम होते हैं। जैन धर्म में "भाषा सुमति" को अति आवश्यक गिना है। भाषण करते मिथ्या कथन न कर उपयोगी और हितकर शब्दों का ही उच्चारण करना वह भाषा सुमति कहलाती है। भाषा सुमति के सेवन करने वाले संयमी पुरुष कहलाते हैं। और जो भाषा का संयम कर सके हैं वे क्रम से मनः संयम और इंद्रिय संयम भी कर सके हैं। मित भाषी जन सज्जन कहलाते हैं और अति भाषी जन विद्वान हो तो भी मूर्ख या अनसमझ कहे जाते हैं (५८)

मितभाषणमेव भूषणम् ॥५९॥

पृथ्व्या आभरणं जगत्सु पुरुषः तस्यापि शिष्टो जनः ।
शिष्टस्याभरणं हि सत्य वचनं प्रामाणिकत्वं तथा ।

तस्याप्याभरणं हितं मितवचः सभ्यत्वरक्षाकरं ।
सेव्यं तन्मितभाषणं सुखकरं सर्वोत्तमं भूषणम् ॥

मित भाषण यही भूषन है ॥

भावार्थ.—सर्व प्राणियों में पुरुष यह पृथ्वी का भूषण है पुरुष जाति को शोभित करने वाले शिष्टजन पुरुष के भूषण हैं। प्रमाणिकता रखने के साथ सत्य भाषण करना यह शिष्ट पुरुषों का भूषण है और सत्य भाषण का भी भूषण मित-भाषण है कि जो सभ्यता की रक्षा करता है। और सब का भला चाहता है। इस लिये सर्व भूषणों में उत्तम भूषण यही है तो फिर कौन चतुर मनुष्य कर्तव्य सहायक और सुखकर ऐसे श्रेष्ठ भूषण का सत्कार नहीं करेंगे ? (५६).

विवेचनः—मित भाषण की सब परिपूर्णता विदित ही है विद्वान पुरुष अपनी विद्या के योग से पूज्य गिने जाते हैं। परन्तु साथ ही जो वे "वाग्मी" हुए अर्थात् मित वचन बोलने वाले हुए तभी वे अपनी विद्वता की शोभादि पा सकते हैं इस कारण से कहा है कि "जिह्वा ध्वनिमतां हि पूज्यता" अर्थात् जिव्हा से बोलने वाला ही पूज्य गिना जाता है सारांश यह है कि जिव्हा अति भाषी, कठोर इत्यादि दुर्गुण वाली हो तो वह पूज्य नहीं गिनी जाती। परन्तु मित-भाषिनि, मधुर वादिनि होती है तभी ऐसी जिव्हा वाला पूज्य गिना जाता है। इस श्लोक में हितकारी मित भाषण को सत्य भाषण के भूषण रूप कहा है और वह सर्वथा योग्य है सत्य भाषण दोषमय नहीं है परन्तु जिस तरह बिना अलंकारों की अप्सरा नहीं शोभती उसी तरह सत्य भाषण मधुरता, कोमलता सुमितता इत्यादि आभूषणों रहित हो तो ऐसा 'नग्न सत्य' नहीं शोभता नग्न सत्य बोलने

वाले असभ्य गिने जाते हैं और वे चाहे जैसे विद्वान् हों तौ भी अज्ञ जनों में ही उनकी गणना होती है। यहां एक दृष्टांत द्वारा यह बात स्पष्ट समझी जायगी। कोई एक राजा एक समय ग्रीष्म ऋतु की सख़्त गर्मी में शिकार करते करते किसी अज्ञान प्रदेश में चले गए उनके नौकर चाकर इनसे छूट गए और राजा अत्यंत तृषातुर हुए। तृषा से आकुल व्याकुल होते हुए वे बकरों के एक टोली के पास पहुंचे तो उनने देखा कि उस टोली के रक्षपाल दो भील झाड़ के नीचे सो रहे हैं। राजा ने उन दोनों को जगाया और अपनी स्थिति बताई और उन के पास से पानी मांगा वे दोनों भील सगे भाई थे वे दोना सत्य बोलने वाले और नीतिवान थे परन्तु उनमें बड़ा भाई बहुबोला, कटुभाषी और उतावला था, दूसरा छोटा भाई शांत, दीर्घदर्शी, और मितभाषी था। बड़े भाई के पास पानी का घड़ा था उसमें थोड़ा सा ही पानी था वह बोला "आप बड़े राजा हो यह मैं समझा परन्तु मटके में पानी थोड़ा है अगर यही पिला दूं तो हम प्यास के मारे मर जायंगे।" उसक क्या उपाय बताते हो?" "राजा ने कहा तुम तो कहीं से इतनी देर में पानी ढूंढ़ भी ला सकोगे परन्तु मैं इस जंगल से अज्ञान हूं और भूल में आगया हूं इस कारण पाना नहीं ढूंढ़ सकता। तुम मुझे पानी पिला कर जीवित दान दोगे तो मैं राजा हूं किसी कठिनाई के समय में तुम्हारी मदद करूंगा।" छोटे भाई ने उत्तर दिया महाराज! हमारे पास थोड़ा सा पानी है और यहां आस पास और पानी भी नहीं है, इसलिये आपको इसमें से थोड़ा सा पानी पीने के लिये देता हूं ज्यादा तो मैं नहीं दे सक्ता कारण कि अभी संध्या होने में देर है।" ऐसा कह कर उसने राजा को एक मिट्टी के प्याले में लेकर थोड़ा

सा पानी पिला दिया। उस पानी से राजा की तृषा बिलकुल तो शांत नहीं हुई परन्तु तत्कालिन व्याकुलता दूर होगई और उसने उन दोनों भीलों को धन्यवाद दिया। अपने राज्य व ग्राम का नाम वतला कर वह चल दिया। उसके कितने ही वर्ष बाद अकाल पड़ा और ढोर इत्यादि मरने लगे उन दोनों भीलों के ढोर भी मर गए और वें भिखारी वन गए। तब उन्होंने उस राजा के पास जाना निश्चय किया। विजयादशमी की कचहरी भर कर राजा अपने सामन्तों को सिरोपाव दे रहा था, वहां वड़ा भाई जा पहुंचा और एक स्थान पर खड़ा हो गया कचहरी का कार्य सम्पूर्ण हुआ और वरखास्त होने का समय भी आगया परन्तु राजा का ध्यान भील की तरफ नहीं गया इससे वह क्रोधी होकर बोला "हे राजा! उस दिन की बात भूल गया है क्या? पानी का प्याला न पिलाया होता तो कबसे ही तू श्मशान में चला जाता, वही आज मैं दुकाल से दुखी हुआ तेरे सामने खड़ा हूं उसकी तरफ ध्यान भी नहीं देता! विजयादशमी की मङ्गल सभा में ऐसे अमांगलिक बोलने वाले को चोबदार एकदम कूदकर घसीट ले गए। राजा भी क्रोधांध होगया वह भील कुछ झूंठ नहीं बोला था, सत्य ही बोला था। उसने राजा को पानी पिलाया था, और न पिलाता तो राजा अवश्य मर जाता। परन्तु उसके सत्य वचनों में मधुरता और मितभाषिता रूपी आभूषण न थे। वह नग्न सत्य था और ऐसे नग्न सत्य बोलने के कारण ही उस भील की यह दशा हुई। कितने ही दिन बीत जाने पर उस भील का छोटा भाई भी कचहरी में आकर खड़ा हुआ। जब राजा ने कचहरी का कुल काम पूर्ण कर लिया तब वह सब के बीच में आकर राजा को प्रणाम कर बोला! महाराज! मुझे पहिचाना? राजा ने उत्तर दिया नहीं "मैं तुझे नहीं पहचानता, तू कौन है?"

भील ने कहा "महाराज थोड़े वर्ष पहिले आप एक वक्त राह भूल गए थे तब मैंने आप को मटके में से थोड़ासा पानी पिलाया था अब दुकाल में मेरे जानवर मर गए हैं मैं दुखी हूं और आप से दया मांगने आया हूं।" राजा को वह अवसर याद आगया और बोला हां! मैंने सुना। सिर्फ एक पानी के प्याले से तुमने मुझे जीवित दान दिया था वह मैं कैसे भूल सकता हूं? "ऐसा कह कर उसे अमूल्य पारितोषिक दिया और उसकी प्रार्थना से उसके बड़े भाई को भी क़ैद से मुक्त कर दिया यह सुफल उसकी मितभाषिता का परिणाम था दोनों भाई सत्यवादी थे परन्तु एक का सत्य आभूषित था और उसका बदला उसे अच्छा ही मिला। दूसरे का सत्य विना भूषण का और नग्न था जिस से उस का बदला उसे खराब मिला इस तरह सत्य वचन का भूषण हित और मित वचन है ॥ ५६ ॥

द्वादशपरिच्छेद

प्रतिज्ञा निर्वाह

प्रतिज्ञापालनम् ।६०।

एकान्ते जनतान्तिके च विहिता याया प्रतिज्ञोचिता।
निर्वाह्यात्मबलेन सा कथमपि प्रेम्णाऽथ धैर्येणवा॥
लक्ष्मीर्गच्छतु सर्वथा निजजना वैमुख्य मायान्तुवा।
प्राणा यान्तु तथापि दोष जनकं तद्भञ्जनं नोचितम॥६०॥

प्रतिज्ञा पालन किस तरह करना चाहिये ?

भावार्थः— एकान्त में आत्मा की साक्षी से या जन-समुदाय में अपनी शक्त्यानुसार कुछ भी शुभ कार्य करने की जो योग्य प्रतिज्ञा लीगई हो तो उस प्रतिज्ञा का निर्वाह करने में चाहे जितना कष्ट पड़े तो भी वह सब प्रेम धीरज और आत्मबल से सहन कर स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा को अंत समय तक पालना चहिये. उस प्रतिज्ञाका पालन करने में कदाचित सर्व लक्ष्मी देनी पड़े तो (धन) देकर उस प्रतिज्ञा का पालन करना श्रेष्ठ है कदाचित सर्व सम्बन्धी जन विरुद्ध ही हो जायं और अधिक तो क्या ? परंतु अंतमें अपने प्राण तक देने पड़ें तो भी मंजूर की हुई प्रतिज्ञा का कभी भंग न करे जिस भाव से प्रतिज्ञा ली हैं उससे भी अधिक भाव चढ़ते रख प्रतिज्ञा बराबर पालना चाहिये ।

विवेचनः—'प्रतिज्ञा' अर्थात् मन से निश्चय किया हुआ कार्य कुछ न कुछ काम करने का, जन सेवा का कार्य कारने का, किसी से वैर लेने का, किसी का अहित करने का मन से निश्चित कर लेना, वही प्रतिज्ञा कहलाती है । इन प्रतिज्ञाओं में कितनी ही अच्छी होती है,और कितनी ही बुरी-चित्त के विचारों को संकल्पशक्ति का सहारा मिलता है और उसमें उत्साह सहायक होता है तब प्रतिज्ञा का प्रण लिया जाता है । चिद्वृत्ति अथवा अंतरात्मा उसमें शामिल मिलता है, तो सत्प्रतिज्ञा ली जाती है और जो वह निर्बल होता है और चित्त के बाह्य संसार प्रबल होते हैं तो असत प्रतिज्ञा की जाती है इन दोनों प्रकार की प्रतिज्ञाओं में से हितकारक और उचित प्रतिज्ञा हो उनका पालन हर प्रकार से करना ही चाहिये ऐसा उपदेश इस श्लोक में दिया गया है । जो शुभ का

करने की प्रतिज्ञा ली जाती है उस प्रतिज्ञा को आत्मबल से प्रेम से, धैर्य से या दूसरे किसी भी साधन से निभाना ही चाहिये और जो इतनी सम्पत्ति स्वात्मा के पास न हो, तो ऐसी प्रतिज्ञा न लेना ही विशेष उचित है। प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेने पर कुछ विघ्न उपस्थित होने से धन का भोग देना पड़े, सगे सम्बन्धी विरुद्ध होजायं या, शरीर तक होम देना पड़े, तो भी प्रतिज्ञा का निर्वाह अवश्य ही करना चाहिये। जो मानसिक बल संयुक्त हैं वे अपनी प्रतिज्ञा पालन करने के लिये हमेशा उद्यत रहते हैं और उनके मन में "कार्य साधयामि या देहं पातयामि" ऐसा ही निश्चय रहता है मनुष्य के प्रयत्न के आगे क्या संभव नहीं है ?

अङ्गन वेदी वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम् ।
वल्मीकश्च सुमेरुः, कृत प्रतिज्ञस्य धीरस्य ॥

अर्थात्:—प्रतिज्ञा करने वाले धीर पुरुष को पृथ्वी आंगन की वेदिका जैसी है समुद्र नहर सा है, पाताल स्थल जैसा है और मेरुपर्वत टीले के समान है। मानसिक बलधारी पुरुष को विघ्न इस प्रकार ही तृणवत लगते हैं। असत् कार्य सम्बन्धी प्रतिज्ञा लेने वाला भी अपने मनोबल द्वारा उस प्रतिज्ञा को पूर्ण कर सक्ता है परन्तु ऐसी प्रतिज्ञा सुसेव्य नहीं दिखती। किसी का अनिष्ट करने की प्रतिज्ञा सच्ची प्रतिज्ञा नहीं, परंतु विरोधता है। किसी का द्रव्य चुरा लेने का दृढ़ निश्चय, सज्जनों के समझाने पर भी कुछ अनिष्ट कार्य में प्रवृत्ति करना इत्यादि कुवृत्तियों को कहना उचित नहीं परंतु उसे तो एक प्रकार का 'हठवादित्व' ही कहना चाहिये और 'हठवादित्व' एक प्रकार का दुर्गुण है जो असेव्य है ॥ ६० ॥

[प्रतिज्ञा कर लेने पर विघ्न ही उपस्थित न हों इसलिये क्या 'करना

चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उसका योग्य मार्ग निम्न श्लोक में दिखाते हैं]

विचारपूर्विकैव प्रतिज्ञोचिता ।६१।

निर्वोढुं बलमस्ति मे कियदहो सद्यः शरीरे तथा ।
चित्ते चास्ति कियद्धचस्सु भवति ग्राह्यं कियच्चाग्रतः ॥
विघ्नानां च निवारणे पुनरलं शक्तिर्मदीया भवे
न्निश्चिरयेदमशेषमेव पुरतः कार्या प्रतिज्ञा बुधैः ॥

प्रतिज्ञा भंगात्तदस्वीकार एव श्रेयान ।६२।

योग्यायोग्यविचारबुद्धि विकलः कृत्वा प्रतिज्ञां पुरः ।
किञ्चिद्विघ्नपराहता हतधियो मुंचन्तितां सत्वरम् ॥
ते नीचाः पशवो न मानवपदं चार्हन्ति नूनं मृता ।
स्तेमूकास्तु वरा विचारपथगा यैर्न प्रतिज्ञा कृता ॥

प्रतिज्ञा लेने के पहिले ही विचार कर लेना चाहिये ।

भावार्थः—जो प्रतिज्ञा मैं लेता हूं उसे पूर्ण करनेके लिये शारीरिक, मानसिक, आर्थिक आत्मिक इत्यादि कितना बल चाहिये और मुझमें अभी कितना बल है और कितनी सहायता दूसरों से मिल सकी है। कार्य साधन में कितने ही विघ्न आना संभवित है, तो उन विघ्नों तक पहुंच कर उन्हें दूर करने को मैं समर्थ हूं या नहीं। इन सब का पहिले से ही दीर्घ दृष्टि डाल कर विचार कर लेना चाहिये या किसी चतुर मनुष्य की सलाह लेना चाहिये। अपनी सद्बुद्धि या दूसरों की उचित सलाह से पूर्ण निश्चय कर लेने के पश्चात् ही सुज्ञ पुरुषों को प्रतिज्ञा लेनी चाहिये परन्तु कच्ची नींव पर काम न करना चाहिये।

प्रतिज्ञा भंग करने की अपेक्षा न लेना ही योग्य है।

भावार्थः—जो मनुष्य पहिले ही अपनी शक्ति और कर्तव्य के कठिनाइयों की तुलना न कर केवल देखादेखी के प्रवाह में तन और योग्यायोग्य का विचार न कर बड़ी २ प्रतिज्ञा लेने पर उद्यम रहते हैं, अरे! सभा के समक्ष प्रतिज्ञा कर भी लेते हैं परंतु कुछ समय व्यतीत होता है और कुछ विघ्नों से पराभव होने लगता है कि तुरंत बुद्धि विकल बन दुर्बल हो जाती है और प्रतिज्ञा का निर्वाह न कर बीच में ही प्रतिज्ञा त्याग देते हैं वे नादान पशु (कहलाते मनुष्य) मनुष्यता के योग्य नहीं, उनको जीते भी मृत समान ही समझना चाहिये। अरे! उनसे तो वे हजार दर्जे अच्छे हैं कि जो पहिले से ही अपनी अल्पशक्ति समझ कर न तो प्रतिज्ञा करते हैं और न तोड़ते हैं। ६२।

विवेचनः—प्रत्येक कार्य प्रारंभ करने के पूर्व अथवा उस सम्बन्ध में मनमें या प्रगट में प्रतिज्ञा लेने के पूर्व स्वतः की या दूसरों के सहाय की आवश्यकता होती है। शारीरिक वल की, मनोबल की और धन वल की ज़रूरत होती है। कार्य करने के लिये शरीर को होमना पड़े, इस लिये शारीरिक वल की, लोकापवाद रूपी विघ्न उपस्थित हों तब मन को निराश न होने देकर उसकी दृढ़ता बनाए रखने के लिये मनोवल की और प्रसंगोपात धन का भोग देने के लिये धन वल की आवश्यकता होती है—उपरोक्त प्रकार का वल एक कार्य में जितना चाहिये उतना अपने पास है या नहीं; इसका सबसे प्रथम विचार कर लेना चाहिये। फिर बाहर से जन समाज की सहानुभूति रूप जो कुछ सहायता की आवश्यक्ता होती है वह सहायता मिल सकेगी या नहीं इसका विचार करना चाहिये,

और सर्व प्रकार से सफलता ही प्राप्त होना संभव हो तथा बुद्धि और चिद्वृत्ति की आवाज भी इसके अनुकूल हो तो फिर उस कार्य का निश्चय करना अर्थात् प्रतिज्ञा लेना योग्य है। किसी भी कार्य में अपनी शक्ति का विचार किये बिना किसी के देखा देख या आवेश से उत्साहित हो कर या अविचार पूर्वक किसी कार्य के करने की प्रतिज्ञा कर लेना और पश्चात् उसमें विघ्न उपस्थित होने पर निराश होजाना, यह चतुराई नहीं। अपनी शक्ति करने योग्य न हो प्रतिज्ञा लेना, और पश्चात् निराश होकर उस प्रतिज्ञा का भङ्ग करना, इसकी अपेक्षा प्रतिज्ञा न लेना विशेष उचित है—किसी कार्य पर विचार करते २ अपनी बुद्धि जो बराबर उत्तर न दे सकी हो तो किसी सज्जन की सलाह लेना और फिर उस कार्य का निर्णय करना चाहिये। इस लिये कहा है कि :—

> अनारम्भो मनुष्याणां प्रथमं बुद्धि लक्षणम्।
> आरब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धि लक्षणम्॥

अर्थात्--कार्य प्रारंभ न करना यह बुद्धि का पहिला लक्षण है और प्रारम्भ किये हुए कार्य का पूर्ण करना बुद्धि का दूसरा लक्षण है। तात्पर्य यह है कि कोई काम अपनी शक्ति के बाहर का समझा जाय तो प्रारम्भ ही न करना अथवा उसको पूर्ण करने की प्रतिज्ञा ही न लेना यह कुछ भीरुत्व या निर्बलता नहीं परन्तु बुद्धि का लक्षण है।

शंका:—भर्तृहरि कहते हैं कि "प्रारभ्यते न खलु विघ्न भयेन नीचैः। प्रारभ्य विघ्न विहता विरमन्ति मध्याः" अर्थात् विघ्न के भय से कार्य का प्रारम्भ ही न करना यह नीच पुरुषों का लक्षण है और का के प्रारम्भ कर लेने पर उसमें विघ्न आने से छोड़ देना यह मध्यम पुरुषों का लक्षण है। तो फिर

विघ्न के भय का विचार किये बिना कार्य का प्रारम्भ करना यह भर्तृहरि की नीति अनुसार अयोग्य नहीं, बल्कि विघ्नों से डरना यह तो एक प्रकार की नीचता है।

समाधान:—विघ्नों का भय रखना नहीं यह वास्तविक नीति है। और उसका कारण यह है कि ऐसा भय नहीं रखनेवालों में विघ्नों के नाश करने योग्य तन, बल, मन बल और धन बल रहता है। और इसीलिये भर्तृहरि ने उसी श्लोक में आगे कहा है कि "विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रति हन्यमानाः प्रारब्ध मुत्तमजना न परित्यजन्ति" अर्थात् उत्तम पुरुष कार्य का प्रारम्भ कर उसमें बार बार विघ्न आने पर भी उस कार्य को नहीं छोड़ते अर्थात् जितने समय विघ्न आते हैं उतने ही समय उसकी निवृत्ति करने का उपाय करते हैं। परन्तु विघ्नों की निवृत्ति करनेके लिये आवश्यक बल अपने में है या नहीं उसका विचार किये बिना कार्यारम्भ करने वाले तो 'सहसा न विदधीत क्रियाम्' इस महा वाक्य को नहीं समझनेवाले मूर्ख और अविचारी मनुष्य ही कहलाते हैं। किसी भी कार्य की प्रतिज्ञा लेकर उसका भङ्ग नहीं करना, अथवा ऐसी प्रतिज्ञा ही न लेना, इस उपदेश में एक दूसरा हेतु भी समाया हुआ है। प्रतिज्ञा लेकर फिर विघ्न उपस्थित होने से हारकर निराश हो बैठना इस आदत के पड़ जाने से आत्मबल एवं मनोबल दिन २ क्षीण होता जाता है—ऐसा जब जब कई समय होता है तब मन "प्रतिज्ञा" की कुछ भी महत्वता नहीं समझता, और जिससे वह कार्य सम्बन्धी सहसा विचार और निश्चय कर लेने की आदत वाला हो जाता है। प्रथम बुद्धि लक्षण और द्वितीय बुद्धि लक्षण के बीच का मध्यम बुद्धि लक्षण का नवीन प्रकार भर्तृहरि की तरह उपयोग करना इस ग्रंथकार ने योग्य नहीं समझा परन्तु प्र

लेने के पश्चात उस के भङ्ग करने वाले को नीच, पशु, मृतक समान गिना है। सच कहा जाय तो इस रीति से सहसा कार्य करने की रीति पर बुद्धि के स्थापित करने का ही प्रयोग करने में आया है और बुद्धि वाद को मान्य करनेवाले इस नीति को ही उत्तमोत्तम नीति गिनेंगे।

(६१-६२)

इति प्रथम खण्ड समाप्त

सत्यासत्य का भेद जानते हुए भी सत्य को छिपा अपना सत्य और न्यायाङ्कित मत पैसे के लिये देते हैं और असत्य की ओर झुक जाते हैं। अर्थात् घूस के नाम से पहचानी जाती चोरी का आश्रय ले न्याय की कचहरियों में भी कितने ही स्थान पर असत्य घुस गया है और वहाँ सत्य का पराजय हुआ है।२१८।

विवेचन:—जगत का सब व्यवहार सत्य के सहारे ही चलता है जो सत्य में तनिक भी न्यूनता हुई कि महा अनर्थ पैदा हो जाता है। कहा है कि:—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सत्यं सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात्:—सत्य से ही पृथ्वी धारण करती है सूर्य तपता है और पवन बहता है इस तरह यह सब सत्य के आधार पर हो रहा है परन्तु जगत में असत्य उद्भूत होता है उससे होते हुए अनर्थों से लोगों की रक्षा करने के लिये देश के रक्षक राजा न्याय की कचहरियां स्थापित करते हैं। इन न्यायालयों का कर्तव्य निर्बल की रक्षा करना, हकदार को अपने हक भोगने देना, लोगों को त्रास से बचाना और किसी भी प्रकार के जुल्म बन्द करना है। सत्य विचलित होने लगे तब उसे नहीं डिगाते फिर अविचल करना यह उन न्यायालयों के अधिकारियों का पवित्र कर्तव्य है। परन्तु कितने ही न्यायाधिकारी अपने इस कर्तव्य को भूल क्षणिक लाभ के लिये अन्याय के पोषक हो जाते हैं यह क्या कम दुःखदाई है? जो न्यायासन पर विराजते हैं वे खुद ही पक्षकारों से घूंस ले अपने न्याय को दूषित करते हैं बल्कि अपनी चिद्वृत्ति के आवाज़ को—स्वाभाविक अंतः-प्रेरणा को बेच देते हैं यह क्या कम और केवल असत्य है? न्याय की कचहरियों में भी असत्य और अन्याय हो तो फिर

सत्य और नीति का प्रचार कहां हो सकता है और देश का उदय भी कैसे हो सकता है ?

न्यायाधिकारी कैसे हों इसके लिये लार्ड लोरेन्स का चरित्र आदर्श रूप है। लार्ड लोरेन्स जब हिन्द के गवर्नर जनरल थे तब हिन्द के राजकुमार का एक आवश्यकीय केस चलता था। इसके मध्य में ही राजा ने टेबल के नीचे से उसके हाथ में एक रुपये की थैली रखने का प्रयत्न किया। लोरेन्स ने कहा— "कुमार ! तुम एक अंग्रेज़ गृहस्थ का अधिक से अधिक अपमान करते हो। इस समय तो तुम्हारी बाल्यावस्था का विचार कर तुम्हें क्षमा करता हूं परन्तु इस अनुभव से तुम्हें हमेशा होशियार रहना चाहिये कि अंग्रेज़ गृहस्थ को घूस दे उसके पास से न्याय खरीद लेना उसका भारी अपमान करने के समान है।" (२१६)

प्राड्विवाकादि पुरुषेष्वप्य सत्यम् ।२१७।

ये बेरिस्टर इत्युपाधिविदिताः ख्याता वकीलेति वा ।
गण्यन्ते निपुणाः प्रधानपुरुषा राजप्रजासत्कृताः ॥
निघ्नन्ति प्रतिपक्षिसत्यमनृतं स्वीयञ्च रक्षन्ति ते ।
प्रायो वञ्चयितुं परं रचितया युक्त्या यतन्ते भृशम् ॥

वकील बेरिस्टर और असत्य ।

भावार्थ—जो वकील और बेरिस्टर ऐसे नाम से प्रसिद्ध हैं, लोगों में जो प्रधान पुरुष या अग्रसर और माननीय हैं और राजा और प्रजा दोनों से सत्कार पात्र हैं उनके धंधे में क्या सत्य को अवकाश मिलता है ? नहीं, जिस पक्ष के आप वकील हैं उस पक्ष की असत्य हकीकत को भी जान बूझ कर सत्य ठहराने और दूसरे पक्ष की सत्य हकीकत को असत्य

ठहराने में वे क्या कम प्रयत्न करते हैं ? और दूसरे पक्ष के मनुष्य को चाहे जैसी कुयुक्तियों के जाल में फंसा उसके सच्चे सत्य को छुपा कर बनावटी लेख और उसके साथ ही झूठे साक्षीदार तैयार कर शक्ति भर कोशिश से अपने पक्ष के असत्य को सत्य बनाने में अंत तक प्रयत्न करते हैं अर्थात् वहां भी असत्य का ही साम्राज्य चलता है। २१७।

विवेचनः—आजकल के वकील और बेरिस्टर भी प्रायः असत्य के ही पोषक हो गए हैं वे अपनी फीस के लिये चाहे जैसे अपराधी को बचाने अथवा निर्दोष को फंसा कर मारने का भार अपने सिर लेते हैं और फिर युक्तियों,—करामातों की दौड़ दौड़ाते हैं। सच्चे को झूंठा ठहराने में ही वे अपनी होशियारी मानते हैं और लोग भी ऐसे ही "उड़ते हुए पक्षी को गिराने वाले" वकील को होशियार मानते हैं। जो थोड़े वकील सिर्फ सत्य के सहारे ही अपना धंधा चलाते हैं वे बिचारे अंधकार में ही रहते हैं और लोगों में वे हुशियार न समझे जाने से उन्हें वकालत से लाभ नहीं होता। वकीलों का पवित्र कर्त्तव्य न्याय की दलाली करने का है। लोगों को न्याय मिले उसमें मदद देने का है। न्याय जैसी पवित्र वस्तु प्राप्त कराने में सहायभूत होना ऐसा पुण्य कार्य प्रकृति ने जिसे सौंपा है वे तो "खुदाई फिरश्ते" अथवा Angels of Gods. नाम के योग्य हैं। परन्तु देश के दुर्भाग्य से वे खुदा के फिरश्ते असत्य के प्रतिपादक और न्याय के निघातक हो गए हैं। जिन्होंने बड़ी २ उपाधियें धारण कर अपनी कीर्ति उज्वलित की है इतना ही नहीं परन्तु अपनी बुद्धि दीप्तिमान की है वे स्वतः ही उस कीर्ति और बुद्धि को कलङ्कित करने जैसे दुष्कृत्य सिर्फ पैसे के लिये करें यह कुछ कम पश्चात्ताप की बात नहीं है। इस तरह जहां सत्य के नाम के साथ सम्बन्ध

रखनेवाले पुरुषों की बुद्धि में ही असत्य का निवास हुआ दृष्टि गत होता है वहां देशोदय की आशा कैसे रह सकता है ? (२१७)

[व्यापारियों में भी असत्य कितने अधिक प्रमाण में घुस गया है। उसका दिग्दर्शन अत्र किया जाता है ।]

वैश्यवृत्तिः ।२१८।२१९।२२०

ये शाहेत्युपनामधारिवणिजः पश्याम तेषां कृतिं ।
भाषन्ते मधुरां गिरं स्वहृदये धृत्वापि हालाहलम् ॥
दत्वा पूगफलादिकं रुचिकरं विश्वासयन्त्यग्रतो ।
हीनं दीनजनाय वस्तु ददते गृह्णन्ति युक्त्याधिकम् ॥
न्यूनान्न्यूनतरं वदन्ति दशधा शप्त्वापि मूल्यञ्च य-
न्न्यूनं स्यान्न हि वास्तवं तदपि हा किञ्चिद्विशेषो भवेत् ॥
एकं वस्तु च दर्शयन्ति ददते चान्यत्ततो मिश्रितं ।
प्रान्ते सङ्कलनादिलेखनविधौ विज्ञापयन्त्यन्यथा ॥
अस्त्येषां किल कापि हस्तलघुता पात्र्ये तुलायां तथा ।
हीनं विक्रयणे क्रये ऽधिकतरं मस्यं भवेत्पादतः ॥
काप्यालापनपद्धतिर्वशकरी सम्मोहनी रञ्जनी ।
पश्यन्तोपि यतः प्रतारितजना जानन्ति नो वञ्चनाम् ॥

व्यापारियों की वृत्तिः ।

भावार्थः—जो अपने नाम के पीछे साहुकार की निशानी का 'शाह' ऐसा नाम धारण करते हैं और बड़ा व्यापार करते हैं उन का चालचलन अपन तपासें वे क्या करते हैं ? जो कुछ

दूसरे मनुष्य से लाभ पाने की आशा हो तो उसके साथ अधिक मीठे २ बोलते हैं हृदय में चाहे हलाहल विष भरा हो तो भी वे बचनों में हृदय का अंश मात्र भी प्रगट नहीं होने देते, मधुर और शीतल बोलते हैं कितनेही तो इस वाणी के मिठास से ही खुश होजाते हैं और विश्वास से बंध जाते हैं. कदाचित इस से न बंधे तो रुचिकर पदार्थों से उनका सत्कार कर ऊंचे नीचे सम्बन्ध निकाल चाहे जिस तरह विश्वास में डालते हैं, दूसरा मनुष्य इनपर विश्वास रखता है इसलिये ये वह चाहे बिलकुल गरीब हो तो भी उसे कम वस्तु देने और उस से अधिक वस्तु लेने की प्रवृत्ति प्रारंभ रखते हैं। ऐसी वंचक वृत्ति में सत्य किस स्थान पर रह सक्ता है? (२१८)

जब उस व्यापारी के पास ग्राहक माल लेने आते हैं और वस्तु का भाव पूछते हैं तब एकही वस्तु के कम से कम दस बारह वक्त भाव कहे जाते हैं. थोडा २ मूल्य घटाकर बीच में लड़के, बाप, धर्म, या परमेश्वर की सौगंध खाकर दसवीं वक्त जो भाव कहा है वह भी सत्य नहीं रहता। दसवीं या बारहवीं वक्त के भाव में भी थोड़ा बहुत अधिक अवश्य रहता है. इतने सोगंध डालकर कहता है जिस से यह सच्चा भाव होगा ऐसा ग्राहक समझ जब माल लेना मंजूर करता है तो नमूनानुसार माल भाग्य से ही मिलता है। या तो बिलकुल दूसरा ही दिया जाता है या उस में दृष्टि चुका ख़राब वस्तु को मिश्रित कर देने में आता है और अंत में हिसाब करने में भी अधिक गिनाता है तथा उस में से थोड़ी छूट देकर ग्राहक को राज़ी कर लेता है इस कला में भी सत्य कहीं रह सक्ता है? (२१६) अहो! इन लोगों की हाथ चालाकी उसी तरह तौल और नाप भी भिन्न २ प्रकार के होते हैं कोई भी लोग कोई चीज़ उनके पास बेचने लाते हैं तो वह चीज़ जो एक सेर

हो तो उसे तोलने की ये लोग ऐसी ख़ूबी रखते हैं कि तोल और नाप के फेरफार बिना केवल हाथ चालाकी से सेर का पौन सेर तो सहज २ में बना देते हैं। यही चीज जो पीछे ग्राहक को देना हो तो उसी ख़ूबी से सेर को सवा सेर बना देते हैं फिर उनके आलाप संलापकी पद्धति भी ऐसी मोह उपजाने वाली और मनुष्य को वश करने वाली होती है जिसे देखते २ ठगा-गए या लुटा गए लोग ऐसा नहीं समझते कि हम ठगा गए हैं या हमारा माल अधिक लुटा गया है किंतु वे मीठी २ और शीतल वानी से ख़ुश हो बारम्बार विश्वास रख अज्ञानता से ठगे जाते हैं और व्यापारी लोग उन्हें ठग अंत में ख़ुश कर देते हैं (२२०)

विवेचनः—हलाहल असत्य के स्थान रूप व्यापारियों की दूकान तथा इन दूकानों में कसाई से भी अधिक तेज छुरी लिये बैठे हुए व्यापारियों का इन तीनों श्लोकों में यथार्थ दिग्दर्शन किया है। विचारे शामल भट्ट ने बनिये और व्यापारी की व्याख्या करते कहा है कि—

वणिक तेहनो नाम जेह झुठु नव बोले।
वणिक तेहनो नाम तोल ओछुं नव तोले॥

* * * * * *

वचन पाले ते राय बाकी तो रांडी रांडो।
वचन पाले ते 'शाह' बाकी गुण हारो गांडो॥

परन्तु आज तो 'शाह' नामधारी झूठ बोलते हैं कम तोलते हैं और वचन भी तोड़ते हैं! व्यापार में कम नफ़ा लेने के लिये व्यापारी कैसी २ युक्तियां भिड़ाते हैं और कैसा अधम से अधम पाप करते हैं उसका ख्याल तो अनुभवी को ही हो सक्ता है। मुंह से मीठे बोलते हैं, परन्तु हृदय में तो ठगने की ही

इच्छा रमी रहती है, ग्राहकों का सत्कार करने के लिए पान सुपारी देना, परन्तु उस पान सुपारी से सत्कार कर ग्राहक को अधिक फंसाने का ही विचार रहता है और इस तरह ग्राहक में विश्वास पैदा कर फिर उन पर छुरी चलाने की इच्छा होती है किसी वस्तु लेने आये ग्राहक को उस वस्तु का सच्चा मोल बतलाने में मानों वे पाप समझते हैं एक ही वस्तु के कम ज्यादा दस भाव कहते हैं और प्रत्येक भाव कहते समय में लड़के, बाप, और धर्म तथा ईश्वर के सौगंध खाना एक खेल समझते हैं। इतने असत्य से भी जो भाव नक्की ठहरता है उस वस्तु में कुछ सेल भेल दगाबाजी या प्रपंच ये व्यापारी किये बिना नहीं रहते। वस्तु तोल कर देने में कपट रखना। ग्राहक को कम देना या उससे अधिक लेना यह तो कपटी व्यापारियों का धर्म है ऐसे विश्वास घात से वस्तु देने पर भी उसका मूल्य लेते समय खोटा हिसाब गिनकर पैसे लेते हैं। प्रत्येक ग्राहक के साथ ऐसी करामातों की बाजी खेलने-वाले व्यापारी एक दिन में कितना असत्यवाद, कितने झूंठे सौगंध, कितना विश्वासघात और कितने दगे का पातक, अपने कर्म भंडार में भरते होंगे? ऐसे व्यापारी जो दिन दुप-हर को लोगों की आंखों में धूल डाल लूट चलाते हैं उन्हें दिन दुपहर के डाकू गिनना क्या अनुचित है। व्यापार में होते हुए इस पाप कर्म को कई व्यापारी साधारण पाप समझते हैं और वे झूंठ न बोलने की प्रतिज्ञा लेते हुए व्यापार में झूंठ बोलने का आगार रखते हैं इससे अधिक दुष्टता क्या होगी? क्या व्यापार में झूंठ बोलना आवश्यक ही है? व्यापारियों में असत्य की चाल बहुत बढ़ गई है इससे एकाध सच्चा प्रामाणिक व्यपारी कदाचित एकाएक न फबे और ग्राहक उसकी ओर न ललचावें यह ठीक है परन्तु

पहिले कहे हुए तेल बेचनेवाले व्यापारी की तरह जब लोग समझते हैं वह व्यापारी मीठी वानी से ग्राहक को ललचाये बिना ईश्वर के सौगंध खाये बिना, तथा कई समय भाव में न्यूनाधिक किये बिना एक ही भाव से सब को अच्छा माल देता है तब उस व्यापारी की कीर्ति मिथ्याभाषी व्यापारियों की अपेक्षा अधिक फैलती है और उसका धंधा चल निकलता है जो ग्राहक व्यापारियों की मनोरंजक भाषा को सच मानते हैं वे कदाचित ऐसे व्यापारी के यहां न आवें परन्तु इससे क्या ? अंत में वे भी अपने लाभ की ओर नज़र करते हैं जब मनोरंजक भाषा के तात्पर्य को समझते हैं। इस पर से यह समझ लेना है कि व्यापार के लिये असत्य बोलने से ही काम चलता है ऐसी मूर्ख मान्यता में न फंसे रहना चाहिये और ऐसे असत्य बोलने की छूट रखना यह भी हृदय की भारी अधमता है। झूंठ बोलने वाले साहुकार निन्दित होते हैं और सच बोलने वाले चोर बड़ाई पाते हैं। एक चोर को उसके पिता ने मरते समय उपदेश दिया कि "तू किसी भी दिन झूंठ मत बोलना" पिता की अंतिम आज्ञा को चोर ने मंजूर की--बाप मर गया, वह दूसरे ही दिन मध्य रात्रि में चोरी करने निकला—जब पहरेदार ने उसे टोंक कर पूंछा "तू कहां जाता है"? चोर ने कहा "मैं चोरी करने जाता हूं" पहरेदार हंस दिया और पूंछा "कहां जावेगा और चोरी करेगा" चोर ने उत्तर दिया "आज तो राजा का महल फाड़ना सोचा है" पहरेदार ने उसे पागल समझ जाने दिया। उसी रात को उस चोर ने राजा का महल फाड़कर एक गहने की पेटी उठाई और घर आया, दूसरे दिन चोर की बात प्रकट होगई तब पहिला पहरेदार भान में आया। उसने राजा से कहा कि कोई मनुष्य गत रात को मुझसे कहता गया कि मैं राजा का

महल फाड़कर चोरी करने जाता हूं परन्तु मैंने उसे पागल समझ जाने दिया था। राजा ने ऐसे चोर की बहादुरी की प्रशंसा की, और गांव में ढिंढोरा पिटाया कि उस चोर की बहादुरी से प्रसन्न हो राजा उसे इनाम देना चाहता है। चोर आया और राजा को चोरी की हुई समस्त वस्तुएं दे दीं। उसके सत्य वादित्व पर खुश हो राजा ने वे गहने उसे इनाम दे दिये। इस पर से ऐसा न समझना चाहिये कि ऐसी चोरी करने के कार्य प्रशंसा पात्र हैं परन्तु तात्पर्य यह है कि सच बोलने वाले चोर झूंठ बोलनेवाले साहूकार से अधिक चतुर गिनाने योग्य हैं। (२१८—२१६—२२०)

[व्यापारियों के सिवाय कारीगर भी कैसा कपट पटुता का उपयोग करते हैं और उसका कैसा अनिष्ट परिणाम होता है यह अब दिखाते हैं।]

शिल्पिनांकौटिल्यम् ।२२१-२२२।

अंतस्तुच्छतरं बहिश्च रुचिरं शोभास्पदं सर्वथा ।
प्रत्येकं किल शिल्पवस्तु शिथिलं निर्मीयते शिल्पिभिः ॥
नातिस्थायि न चाल्पमूल्यमपि तद्भेदे समासाद्यते ।
तस्मात्कारुजनोप्यसत्यबहुलः सर्वत्र संदृश्यते ॥
शिल्पिश्रेणिषु यद्यसत्यचरणं तस्मान्न सञ्जायते ।
हानिः केवलमत्र धर्मनययोर्मायाविनां शिल्पिनाम् ॥
किन्तु स्यान्महती क्षतिर्भुवि नृणां नूनं परेषामपि ।
यस्माज्जीवनसाधनानि बहुशस्तत्कृत्यधीनानि वै ॥

कारीगरों की कुटिलता ।

भावार्थः—वर्तमान समय में जो कारीगर कारीगरी की चीजें बनाते हैं उनमें भी कपट का ही आश्रय रहता है। प्रत्येक

वस्तु पर ऊपर से रंग लगा भपकेदार बना अच्छे २ चित्र निकाल, बहुत सुन्दर दिखे ऐसी बनाई जाती है कि जिसकी सुन्दरता में ही मनुष्य मुग्ध हो जाय परन्तु वह चीज़ अन्दर से बिलकुल तुच्छ रहती है और उसकी बनावट भी ऐसी हलकी रहती है कि थोड़े ही समय में उसका विनाश हो जाता है और पैसा व्यर्थ नष्ट होता है। वस्तु की क़ीमत हो उससे अधिक क़ीमत दिखाकर लोगों को आकर्षण करनेवाली ऊपरी भपका बतानेवाली वर्तमान के कारीगरों की प्रवृत्ति भी सचमुच असत्य और कुटिलता से भरी हुई है।२२१।

कारीगरों की कुटिल प्रवृत्ति से केवल कारीगरों की प्रामाणिकता, नीति और धर्माचरण को ही धक्का लगता है ऐसा नहीं परन्तु उससे अन्य मनुष्यों को भी अधिक नुक़सानी पहुंचती है। क्योंकि कितने ही मनुष्यों के जीवन का साधन कारीगरों की कृति के आधीन है। कितने ही समय शिल्पियों की कुटिलता के परिणाम से हज़ारों जनों की अवनति हुई है और अनेक प्रकार से क्षति पहुंचना संभव है।२२२।

विवेचनः—बाहर से जो वस्तु जिस तरह दिखाई जाय, उसी तरह से वह अन्दर न हो तो भी वह ठगाई पूर्वक बनाई गई ऐसा समझना चाहिये और उस बनानेवाले ने कपट तथा एक प्रकार के असत्य का आश्रय लिया ऐसा समझना चाहिये। स्माइल्स कहता है कि "तमाम् खराब काम झूठे के समान है। वह बिलकुल अप्रमाणिकता सिद्ध करता है। तुम पैसे देते हो तो अच्छे कार्य के लिये देते हो परन्तु वह खराब रीति से और अप्रमाणिकता से बनाई गई है। उसको ऊपर से पूर्ण दार्शनिक बना शोभायमान कर दी हो तो ऐसा करना महा पाप है, ऐसा अधिक समय बीत जाने पर समझता है। जहां तक ऐसी स्थिति है वहां तक मज़दूरों के गौरव के विषय

में अथवा कारीगर ऐसा छोटा नाम धारण करनेवालों की जनमंडल में योग्यता के विषय में बोलना व्यर्थ है जहां उद्यम में प्रमाणिकता नहीं वहां उद्यम में प्रतिष्ठा कभी नहीं आती" कारीगरों की ऐसी कुटिलता से अनेकानेक नुक़सान पहुंचते हैं। ऐसे कारीगरों से जो अच्छे कारीगर होते हैं वे भी बद्नाम होते हैं और उनका धंधा कम हो जाने से उनकी आजीविका को हानि पहुंचती है। कितने ही काम ऐसे हैं जिनमें कुटिलता करने से अनेक जीवों को हानि पहुंचती है। दृष्टांत बतौर जो मकान या पुल कमज़ोर बाँधे हों या गाड़ा गाड़ी जैसे वाहन निर्बल बनाये हों तो अनेक मनुष्यों और पशुओंका जीवन जोखम में आ पड़ता है। कारीगरों को भी उनकी कुटिलता का बदला धन धर्म और प्रतिष्ठा की हानि के रूप में मिलता है।

एक यूरोपियन मुसाफ़िर जापान में प्रवास करता था उस समय वह एक वृद्ध जापानी मिस्त्री के दुकान पर गया। वह कारीगर हाथी दाँत पर नमूनेदार चित्र तथा नक़्क़ाशी का काम करता था। उस मुसाफ़िर ने एक हाथी दाँत रु० ११०) में लेना ठहराया परन्तु कारीगर ने मुसाफ़िर को वह दाँत देते समय ध्यानपूर्वक बराबर देखा उसमें उसे कितनी ही त्रुटियां मालूम हुई और उसने ग्राहक से कहा। ग्राहक ने कहा "ये त्रुटियां बिलकुल कम हैं और आप जैसे कारीगर के काम में इन त्रुटियों को कोई नहीं समझ सक्ता।" कारीगर ने कहा "साहेब! इस दूकान से ऐसी त्रुटिवाला माल कभी नहीं बेचा जाता इसलिये इस हाथी दांत को मैं आप को किसी भी क़ीमत पर नहीं बेच सक्ता" ऐसे सत्यवादी और प्रमाणिक कारीगर हिन्दुस्थान में कितने होंगे? (२२१-२२२)

[ऐसे संसारी जनों के सिवाय त्यागी समाज में भी असत्य का प्रवेश हो चुका है इसके विविध प्रकारों का दर्शन निम्न श्लोक में किया जाता है]

त्यागिवर्गेऽप्यसत्यप्रवेशः ।२२३।

जातस्वस्खलनापलापनपरासद्दोषसंभाषणा-
त्मीयोत्कर्षपरापकर्षकथनामृषास्वरूपेण वा ॥
हिंसादम्भकदाग्रहादिविधया रेऽसत्य ! पापाग्रणीः ।
सत्रस्त्यागिगणेप्यनेकविधिना जातास्ति ते सत्क्रिया ॥

त्यागी समाज में भी असत्य का प्रवेश ।

भावार्थः—अपनी भूल का इन्कार करना, दूसरे को हलका दिखाने के लिये उस पर अछुत्ते दोषों का आरोपण करना, कीर्ति और महत्ता के लोभ से सद्गुणों की अनुपस्थिति में भी अपनी श्लाघाकर आत्मोत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष—निन्दा करना दूसरे की प्रशंसा और ख्याति सुनकर मन में जल उठना और ईर्षा द्वेष करना, झूंठा आडम्बर और मिथ्या दम्भ फैलाना क्लेश के बीजरूप मनाग्रह से कदाग्रह करना ये सब सीधे या टेढ़े असत्य के ही भेद हैं और ऊपर बताये हुए रूप से वर्तमान समय में त्यागी समाज में भी असत्य पूर्ण जोश के साथ प्रकट हो गया है अर्थात् त्यागी समाज ने भी असत्य का अच्छी तरह सत्कार किया है ।२२३।

विवेचनः—जन समाज को पाप में पड़ते हुए रोके उसे धर्म और उस धर्म के उपदेश से लोगों के ज्ञान चक्षु खोलनेवाले को धर्मोपदेशक या धर्माचार्य कहते हैं। धर्म विषय के अवसर ऐसे धर्मोपदेशक और धर्माचार्य दूसरे को पाप में पड़ने से रोकने के लिये उपदेश देते हैं परन्तु वर्तमान समय के कितने ही धर्मोपदेशक अथवा धर्माचार्य खुद ही पाप में अहनिश रत रहते हैं यह कुछ कम खेद की बात नहीं। खुद

असत्य का आश्रय लेते हैं, तौ भी लोगों के चित्त में अपना सत्य वादित्व ठसाने के लिये ऐसे धर्म गुरु इतना मिथ्याडम्बर रचते हैं कि जिससे वे असत्य के साथ ठगा जाने के विशेष पाप में पड़ते हैं ऐसा स्पष्ट दृष्टि गत होता है। अपनी महत्ता स्थिर रखने के लिये ऐसे धर्म गुरु अपनी भूलें या त्रुटियाँ भी लोगों के दिल में खूबियों के समान ठसाने का प्रयत्न करते हैं और अपने सरीखे दूसरे धर्म गुरुओं या धर्म के प्रधान नेताओं पर मिथ्यादोषारोपण कर खुद बड़े बनने का प्रयत्न करते हैं अपनी कीर्ति की अभिलाषा से वे आत्मश्लाघा करते हैं या किसी के मुँह से अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं इतना ही नहीं परन्तु दूसरों की निन्दाद्वेष-ईर्ष्यारूपी दही को मथकर उसमें से अपने लिये कीर्तिरूपी घी निकालने की मानों उनकी इच्छा ही न हो स्थान २ पर कलह के बीजारोपण करते हैं। अंतर में कुछ और बाहर कुछ ही दिखाना यह स्पष्टतः असत्य का ही भेद है और ऊपर कहे अनुसार किसी भी त्यागी का व्यवहार हो तो वह बाह्यतः त्यागी होने पर अंतर से असत्य-वादी और अधम है ऐसा मानने में कुछ भी बाधा नहीं। ऐसे असत्यवादी त्यागियों की अपेक्षा सत्यवादी २ सागी अनेक रीति से अच्छे हैं।२२३।

[जिनमें असत्य का प्रवेश हो चुका है उनके थोड़े दृष्टांत देने बाद सचमुच में भिन्न २ समाज के लोगों में असत्य के प्रवेश से कैसे २ भिन्न २ परिणाम होते हैं वे अब दिखाते हैं]

असत्य परिणामः ।२२४।

भूपे तत्पुरुषेषु वा स्थितमिदं कुर्यात्प्रजापीडनं ।
धर्मज्ञातिसमाजनायकगतं हन्याज्जनानां हितम् ॥

स्यादेतद्वणिगाश्रितं यदि तदाऽनीतेः प्रचारो भवेद्।
वित्तप्राणहरं भवेद्भिषजि चेदेवं महानर्थदम् ॥

भिन्न २ व्यक्तियों के असत्य का भिन्न २ परिणाम।

भावार्थ तथा विवेचनः—भिन्न २ धंधे और अधिकार वाले मनुष्यों के असत्यवादित्व के प्रकार भी भिन्न २ हैं जिनमें के कुछ दृष्टांत पहिले दिखाये हैं। जिस तरह ये भेद भिन्न २ हैं उसी तरह उनका फल भी भिन्न २ है। राजा अथवा राजकीय पुरुषों में असत्य का प्रवेश होता है तब उनके चारित्र्य का एक भाग दूषित होने के सिवाय उनके असत्य का अधिक भयंकर परिणाम प्रजा को भुगतना पड़ता है अर्थात् प्रजा को अन्याय मिलता है ख़र्च के भार में उतरना पड़ता है जिससे उनकी अवनति होती है। धर्म, ज्ञाति या समाज के अग्रसरों में असत्य का प्रवेश होता है तब धर्म के अनुयायियों को, ज्ञाति के मनुष्यों को समाज के सभासदों को प्रत्येक व्यवस्था में बड़ा धक्का पहुंचता है। उनको हित पहुंचानेवाली और अभ्युदय के मार्ग पर ले जानेवाली अच्छी २ संस्थाएं लूट जाती हैं और अंत में उन सब की अवनति होती है। व्यापारी वर्ग में जब असत्य का प्रवेश होता है तब धीरे २ प्रत्येक समाज में अनीति-असत्य का प्रचार हो जाता है। गरीब लोग दिन दुपहर को लूटे जाते हैं, उनकी दीनता और भी बढ़ जाती है। जो यह असत्य वैद्य लोगों में फैलता है तो उससे रोगी के प्राण और धन दोनों नष्ट हो जाते हैं। वैद्य का धंधा पवित्र है और इसीलिये सुवैद्य को विद्वानों ने 'पियुष पाणिः अर्थात् हाथ में 'औषध रूपी अमृत को धारण करनेवाला' ऐसा नाम दिया है परन्तु जो कुवैद्य हैं और असत्य का आश्रय ले सिर्फ़ उदर निर्वाह की ओर ही दृष्टि रखते हैं वे 'यमराज सहोदर'

अर्थात् यमराज के सगे भाई कहे जाते हैं। कारण, यम तो जीव लेता है; परन्तु ये वैद्य जीव और धन दोनों ले जाते हैं। भिन्न २ तरह से असत्य भयंकर त्रास दिखा लोगों को अवनति के गहन गड्ढे में डाल देता है। अरेरे! भारतवर्ष तू इन सब असत्यों का परिणाम अभी तक भुगत ही रहा है। २२४।

[असत्य के इतने भयंकर परिणाम भुगतने पर भी इसका टिकाव अभी तक ज्यों का त्यों है इतना ही नहीं दिन प्रति दिन इसकी शाखाएं फैलती जाती हैं यह देखकर ग्रंथकार इन गुप्त कारणों को ढूंढने में मग्न हो जाते हैं और किसी अदृश्य आत्मा की कल्पना कर कितने ही इससे प्रश्न करते हैं।]

किन्निमित्तसत्यसेवनम् ? (२२५)

नासत्यं व्यवसायवृद्धिजनकं नो कीर्तिविस्तारकं ।
नो माहात्म्यसमर्पकं न हि पुनः शान्तिप्रतिष्ठाकरम् ॥
किन्त्वेतल्लघुताकरं भयपदं मानप्रतिष्ठाहरं ।
नो जाने मनुजैस्तथापि सततं प्रीत्या कथं सेव्यते ॥

लोग असत्य को क्यों सेवते हैं ?

भावार्थः—क्या असत्य व्यापार की वृद्धि करता है? क्या उद्योग को बढ़ाता है? क्या मनुष्यों का माहात्म्य सिद्ध करता है? क्या बड़ाई और गौरव संचित करता है? क्या शांति देता है? इन सब प्रश्नों का अच्छी तरह उत्तर देते समय नहीं ही कहना पड़ेगा। इतना ही नहीं परन्तु गौरव प्राप्त कराने के बदले असत्य लघुता ही प्राप्त कराता है बड़ाई के बदले मान और प्रतिष्ठा का भंग कराता है हृदय में भयांकुर उत्पन्न करता है और संकल्प बल तथा मनोबल का विनाश करता है। असत्य इतना खराब है तो भी मनुष्य उसे प्रसन्नता

पूर्वक क्यों अंगीकार करते हैं? उसकी कुछ ख़बर नहीं पड़ती।२२५।

विवेचन:—असत्य से होते हुए अलाभ पहिले बता दिये हैं और उनके उपसंहार बतौर यहां कहा है कि असत्य मे व्यापार की वृद्धि नहीं होती, उद्योग नहीं बढ़ता, माहात्म्य नहीं पाता, कीर्ति नहीं फैलती, चित्त को लाभ नहीं होता बल्कि गौरव का नाश होता है भय पैदा करता है और मान का मर्दन करने वाला है। इतना होने पर भी मनुष्य असत्य का आश्रय लेते हैं इसका कारण क्या? इस प्रश्न का वास्तविक उत्तर यह है कि मनुष्य बुद्धिभ्रम में पड़ जाता है जो लाभ सच बोलने से न हो या देर से हो वह लाभ जल्द प्राप्त करने की अधीरता से वह असत्य का आश्रय लेता है और मानता है कि इसके परिणाम से मुझे लाभ होगा परन्तु प्रायः यह एक तरह का बुद्धि भ्रम है। असत्य से तात्कालीक लाभ कभी नहीं होता वल्कि लाभ कोसों दूर भग जाता है अथवा नष्ट हो जाता है। लाभ के विनाश के कारण को लाभ की प्राप्ति के साधन रूप समझना यह क्या बुद्धि भ्रम नहीं? सचमुच ऐसी बुद्धि वाले वाल जीव दया के पात्र हैं। ऐसे वालजीव असत्य का आश्रय लेते हैं इसके विरुद्ध विद्वान् उसका त्याग करते हैं 'कल्पतरु' में कहा है कि:—

असत्यम प्रत्यय मूल कारणं कुवासनासद्म समृद्धि वारणम्।
विपन्नि दानं परवंच नोर्जितं कृतापराधं कृतिभिर्विवर्जितम्॥

अर्थात्:—झूठ बोलना यह अविश्वास का मूल कारण ख़राब वासनाओं का स्थान, समृद्धि को रोकनेवाला विपत्ति का कारण, दूसरे को ठगने में शक्तिवान् और अपराध कराने वाला है, इसलिये विद्वानों ने इसका त्याग किया है (२२५)

[बुद्धि भ्रम के परिणाम से अधिक उच्च श्रेणी पर चढ़नेवाले कितने ही बाल जीव अपने असत्य की रक्षा करने के लिये मिथ्या फांका मारते

एक ऐसी दलील करते हैं कि "भाई ! क्या करें ? यह जमाना ही असत्य का है। सत्य का पराजय और असत्य का विजय ऐसा हलाहल कलयुग वर्तमान है वहां असत्य बिना एक क़दम भी कैसे बढ़ा सकते हैं ?" इस भयंकर बुद्धि विभ्रम के वश हुए लोगों का अंधकार निम्नांकित श्लोक में बतर देते हैं।]

किमसत्यस्यैवायं समयः ।२२६।

प्रायोयं समयोऽस्त्यसत्यसचिवो यस्माच्च सत्याश्रयी ।
वृत्तिं नो लभते कथंचिदनृती प्राप्नोत्यनल्पं धनम् ॥
इत्थं केचन मन्वते भवतु चेदापाततस्तत्तथा ।
तथ्येऽस्त्येव च वस्तुतस्तु विजयोऽसत्याजितं न स्थिरम् ॥

क्या यह ज़माना असत्य का है ?

भावार्थ तथा विवेचनः—कितने ही यों कहते हैं कि "यह जमाना ही असत्य का है, वर्तमान समय में सत्य की विजय नहीं होती । सत्य वृत्ति पर चलनेवाला मनुष्य कमा कर नहीं खा सकता । किन्तु भूखों मरता है और इसके विरुद्ध असत्य-वादी मनुष्यों का अच्छी तरह व्यापार चलता है और वे अच्छी तरह कमा खाते हैं । झूठ और अनीति से ही पैसा इकट्ठा होता है । 'सती भूखों मरे और लौंडी राज करे' उसी तरह इस जमाने में 'सच्चा भूखों मरे और झूठा मौज करे' यह मान्यता भी भूल से भरी हुई है । और मिथ्या संस्कारों से बंधी हुई है, इतनी वास्तव में नहीं । असत्य का अकस्मात और क्षणिक विजय बेशक हो जाय परन्तु वह विजय चिरका-लीन नहीं रहती । सचमुच अंतिम विजय तो सत्य को ही मिलती है । "सत्यमेव जयते नानृतम्" सच्ची विजय सत्य को ही मिलती है । असत्य को नहीं । इस भव और परभव दोनों

लोक का हित तो सत्य ही में भरा है और चिरस्थाई लक्ष्मी भी सत्य ही की चेरी है। असत्य और अनीति का पैसा अधिक समय तक नहीं टिकता परन्तु सत्य से पैदा हुआ पैसा ही स्थिर रहता है। इसलिये यह जमाना या कौन सा भी जमाना असत्य का नहीं परन्तु सत्य ही का है तो भी मनुष्य असत्य को चाहता है इसका कारण मुझे ऐसा मालूम होता है कि असत्य के संस्कार वज्रलेप हो जाने से उनकी बुद्धि भ्रमित हो गई है इसलिये वे सत्य की पहिचान और कद्र नहीं कर सके। असत्य से कदाचित् तात्कालिक लाभ होता हो तो भी वह क्षणिक है और सत्य का लाभ चिरस्थायी है। पहिला लाभ अध्रुव है और दूसरा ध्रुव है, अध्रुव को ग्रहण करने और ध्रुव का अनादर करने से वह भाग जाता है और अध्रुव तो नाश होने के लिये ही सिरजा गया है—अर्थात् असत्य का आश्रय लेनेवाला अध्रुव में लीन हुआ ही समझा जाता है और उसका सर्वथा नाश होता है ध्रुव प्रत्येक जमाने में ध्रुव ही रहता है उसमें अल्प मात्र भी विकार पैदा होना असम्भव है (२२६)

[असत्य के दिग्दर्शन का प्रकरण पूर्ण करने के पहिले ग्रंथकार उसके कितने ही भेदों का स्पष्टी करण करते हैं।]

असत्य प्रकारः ।२२७।

चित्तेन्यद्वचनेन्यदस्ति च तथा कार्ये ततो भिन्नता ।
स्पष्टोयं कपटोप्यसत्यसचिवस्तावज्जगद्दुःखदः ॥
प्रोक्तस्याननुपालनं प्रतिपलं वाचः परावर्त्तनं ।
सर्वश्चैवमसत्यकोटिघटितं व्यर्थं महानर्थदम् ॥

असत्य के भेद और उनकी पहिचान।

भावार्थः—सच्ची हकीकत को छुपा दूसरी तरह बोलना इसमें जिस तरह सत्य का भंग होता है उसी तरह मुंह से बोलना उस प्रमाणे नहीं चलना ऐसे दंभ में भी सत्य का भंग होता है। मन में एक हो और वचन से दूसरी तरह बोलना और प्रवृति उससे भी भिन्न रखना लोगों को ठगना, वस्तु का ख़राब रूप छुपाकर अच्छा रूप दिखाना और देते समय दूसरी ही वस्तु देना यह एक प्रकार का कपट भाव भी असत्य का सखा है, जितने दर्जे तक असत्य जगत में हानि कर सक्ता है उतने ही अंश तक यह कपट भी हानि पहुंचाने वाला है। कहकर पलट जाना, या प्रण नहीं पालना, प्रतिज्ञा का भंग करना, ये सब असत्यके ही भेद हैं, सत्य को नष्ट करनेवाले हैं, इसलिये सत्याभिलाषियों को असत्य के समस्त भेदों से दूर रहना चाहिये।२२७।

विवेचनः—असत्य रूपी पाप सिर्फ मुंह से ही हो सक्ता है ऐसा नहीं समझना चाहिये। किसी मनुष्य के हृदय में जो कुछ हो उससे भिन्न रीति से कहे और ऐसा कहने का उसका आशय अपना स्वार्थ साधना अथवा दूसरों को हानि पहुंचाने का हो तो वह स्पष्ट असत्य है। परंतु मुंह से कहने के सिवाय दूसरी तरह से भी असत्य का पाप लगता है। स्वतः जो कुछ कहा हो उसके प्रतिकूल करना, कहने से भिन्न प्रकार का आचरण करना, और कहे अनुसार व्यवहार न करना यह भी असत्य है सिर्फ काया के योग से भी असत्य वादित्व का पाप हो सक्ता है कुछ भी बोले विना एक व्यापारी ग्राहक को एक अच्छी वस्तु बतावे और उसका मूल ठहरावे, फिर देते समय दूसरी ही वस्तु दे तो मुंह से न बोलते भी

असत्य का पाप उस व्यापारी को लग चुका। ऐसी क्रियाओं में असत्य का नाम 'ठगाई' 'विश्वास घात' अथवा 'कपट' लिया जाता है और प्रायः ये असत्य के ही भेद हैं। जो सत्य के अभिलाषी हैं उन्हें असत्य के इन भेदों को भी अपने व्रत के भंग करने वाले समझ कर इनसे दूर रहने का ध्यान रखना चाहिये।

यहां एक दृष्टांत की आवश्यकता है। दो मित्र एक दुकान पर दाड़िम लेने गए। जब व्यापारी दुकान में अच्छी अच्छी दाड़िम लेने गया उस समय एक भाई ने एक दाड़िम जो बाहर ही पड़ा था उठा लिया और दूसरे भाई को दे दिया जिसने अपने कोट में छिपा लिया। व्यापारी भीतर से बाहर आया और अपना एक दाड़िम खोगया समझ कर कहने लगा कि मेरा दाड़िम दो जनों में से एक ने लिया है उन दोनों में से एक ने जिसने दाड़िम उठाया था कहा "अरे भाई जो तेरा दाड़िम मेरे पास हो तो मुझे परमेश्वर के सौगंध है" दूसरा बोला "मैंने जो तेरा दाड़िम लिया हो तो मुझे भी ईश्वर की सौगंध है। वे दोनों झूंठ न बोले जिसने दाड़िम लिया था वह सौगंध खाकर बोला मेरे पास दाड़िम नहीं, यह सच ही था कारण उसने तो सिर्फ़ उठाया और अपने मित्र को छिपाने के लिये दे दिया था। दूसरे ने कहा कि मैंने तुम्हारा दाड़म नहीं लिया। यह भी सच ही था कारण कि उसने नहीं लिया था परन्तु अपने मित्र ने दिया वह छिपाया था। दोनों के शब्द सच्चे थे तो भी वे बड़े असत्यवादी और चोर गिनाने योग्य हैं कारण कि इस तरह ठगाई कर सत्य बोलना, सत्य नहीं, परन्तु असत्य ही है। इस पर से समझ सके हैं कि सिर्फ़ मुंह से सच बोलने वाले भी वास्तविक सत्य को

छिपाने का पाप अंतर से और क्रिया से करते हैं और वेभी असत्यवादी और पापी हैं।

[असत्य के स्वरूप का वर्णन समाप्त कर अब सत्य की आवश्यकता प्रति पादन करने में तथा उसकी महिमा का गान करने में ग्रंथकार प्रवृत होते हैं।]

सत्यस्यावश्यकता ।२२८।

सत्यं केवलमत्र भूषणमिदं नो सज्जनानां शुभं ।
किन्तूत्कृष्टपदप्रदं वरतरं प्रत्येकमप्यङ्गिनाम् ॥
नीतेर्मूलमनुत्तमं शुभतरं श्रेयोर्थिनां जीवनं ।
विश्वासायतनं विशिष्टसुखदं सौजन्यसम्पादकम ॥

सत्यकी आवश्यकता।

भावार्थः—चाहे जैसा प्रसंग उपस्थित हो झूंठ न बोल कर सत्य ही बोलना उत्तमोत्तम भूषण है। यह आभूषण सिर्फ सत्पुरुष या महापुरुषों के ही पहिनने योग्य है ऐसा नहीं हरएक छोटे या बड़े प्रत्येक मनुष्य को प्रामाणिकता का उत्तम पद प्राप्त करने या मनुष्य जीवन को उच्च बनाने के लिये सत्य रूपी आभूषण धारण करना योग्य है। नीति की मज़बूत जड़ सत्य ही है। आत्मार्थी मनुष्यों का तो सत्य ही श्रेष्ठ जीवन है। लोकों में विश्वास का स्थान देने वाला भी सत्य है सुजनता का सम्पादन करने वाला भी सत्य के सिवाय दूसरा कोई नहीं ऐहिक जीवन को उन्नत बना परम्परा से स्वर्ग और मोक्ष का आनन्द देने वाला भी सत्य ही है। इसलिये अपना भला चाहने वाले प्रत्येक गृहस्थ को रात दिन सत्य का ही सेवन करना चाहिये। असत्य को तो एक क्षण भर भी आश्रय न देना चाहिये।२२८।

विवेचन:—'सत्यवादित्व' प्रत्येक मनुष्य को आवश्यकीय है। महापुरुष ही सत्यवादी हों और दूसरे न हों ऐसा नहीं समझना चाहिये, यह आभूषण प्रत्येक को शोभाने वाला है। नीति भी सत्य से ही शोभा पाती है लोगों में विश्वास भी सत्य से ही बैठता है और आत्मा को दुष्कर्मों के अंधकार से मुक्त करने के लिये भी सत्य सद्गुण के सेवन की आवश्यकता है। एक अंग्रेज़ कवि कहता है।

Truth is star that ever shines
With dazzling purity so bright
I'lls may assail it envy hate
May seek to cloud or dim its light
But like a star mid dark-some skies
It shineth still with clear ray.

अर्थात्:—"सत्यरूपी तारा हमेशा तेजस्वी पवित्रता द्वारा चमकता रहता है। दुर्गुण उस तारा पर हमला करेंगे या ईर्ष्या और घृणा उसके प्रकाश को बन्द करने या उसे ढक देने का प्रयत्न करेंगे परन्तु अंधकार मय आकाश के मध्य एक तारे की तरह यह सत्य का तारा भी अपनी निर्मल किरणें चमकाता ही रहेगा" सत्य में इतना अधिक प्राबल्य है उसी प्राबल्यद्वारा मनुष्य को वह ऐहिक जीवन में विजयशाली बना सकता है और उसका पारलौकिक कल्याण भी कर सक्ता है। जो वस्तु दोनों प्रकार का सुख दे सक्ती है और शाश्वत है उसका सेवन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है।२२८।

[झूठ बोलने वाले भी सत्य की ओर कितनी चाह रखते हैं अब यह दिखाते हैं]

सर्वत्रसत्यस्यैवाकांक्षा ।१२२६।

मिथ्यावादिजना अपीतरजने वांच्छन्ति सत्यं सदा ।
न्यक्कुर्वन्त्यनृतप्रियं मनसि ते नो विश्वसन्ति क्वचित् ॥
स्वं प्रामाणिकवर्गनायकतया प्रख्यापयन्ति ध्रुवं ।
तस्मादत्र हि सत्यमेव सुतरां सर्वैश्च संस्तूयते ॥

सर्वत्र सत्य ही की चाह।

भावार्थ तथा विवेचनः—जो लोग स्वतः मिथ्याभाषी हैं वे भी सत्य को श्रेष्ठ मानते हैं उनके सामने कदाचित् कोई मनुष्य झूंठ बोलता है तो वह उन्हें अच्छा नहीं लगता परंतु दूसरे अपने सामने सत्य बोले यही अच्छा लगता है। जो झूंठ बोलने वाला हो उसे वे भी धिक्कारते हैं और उस पर विश्वास नहीं रखते इतना ही नहीं परन्तु उन्हें कोई कह देता है कि "तुम झूंठ बोलते हो" तो उन्हें नहीं रुचता—वे झूंठ बोलने वाले होने पर भी लोगों में अपने को सत्यवादी या प्रामाणिक ठहराने का प्रयास करते हैं अर्थात् अंतःकरण से वे झूंठ की अपेक्षा सत्य की क़ीमत अधिक समझते हैं इसीलिये वे अपने झूंठ को सत्य बनाने की कोशिश करते हैं। सत्यवादित्व एक सद्गुण और झूंठ बोलना एक दुर्गुण है। ऐसा वे भी समझते हैं इसीलिये अपने को सद्गुणी ठहराने का, झूंठ बोलने पर भी सच बोलने का, ढोल दिखाते हैं और दूसरे सच बोलने वाले को मिथ्याभाषी दुर्गुणी ठहराने का प्रयत्न करते हैं अंग्रेज़ी में एक उपदेशिक वचन है कि—

A liar begins by making a falsehood appear like truth and ends with making truth itself appear like falsehood.

अर्थात्:—मिथ्याभाषी मनुष्य झूठे को सच्चा दिखाने के लिये अपनी बात प्रारंभ करता है और अंत में सच को झूठा साबित कर देता है। इस पर से समझ सकते हैं कि सत्यवादी और असत्यवादी दोनों सत्य के इच्छुक हैं और इसी से सत्य ही का सर्वदा जय होना संभव है।२२६।

[सत्य की ओर सब लोगों की इतनी चाहना है उसका कारण यह है कि सत्य में निर्भयता है इस विषय में अब कहते हैं]

सत्येनिर्भयता ।२३०।

सत्य त्वं श्रयसे यदीयहृदयं कौटिल्यदम्भोज्झितं ।
तस्य क्वापि भयं न चास्ति नितरां राजाधिकार्यादिषु ॥
किं कुर्वन्ति च शासनानि नृपतेर्नैष्ठुर्ययुक्तान्यपि ।
भो भो किं बहुना यमादपि मनाग् नो तन्मनः कम्पते ॥

सत्य में निर्भीकता ।

भावार्थ:—हे सत्य! कुटिलता और दंभरहित जिस मनुष्य के हृदय में तू निवास करता है उस मनुष्य के हृदय में भय के अणु तो बिलकुल नहीं रहते। चाहे उसे एक गुन्हेगार की तरह पकड़ कर अमलदार या राजा के पास खड़ा कर दो तो भी उसका हृदय एक रंच मात्र भी नहीं काँपता। राज्य के सख़्त कायदे असत्यवादी के ही बंधन कर्त्ता है परन्तु सत्यवादी और सत्यनिष्ठ को किसी भी तरह हानि नहीं पहुंचा सके बल्कि क्रूर से क्रूर मौत से भी सत्यनिष्ठ मनुष्य का मन भयभीत होकर कंपायमान नहीं होता। सत्यनिष्ठ मनुष्य सर्वत्र निर्भय रहता है और शांति भुगत सकता है। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ को असत्य मन,

वचन और काया से दूर कर स दा सर्वत्र सत्य ही का सेवन करना चाहिये ।२३०।

विवेचन:—पहिले कहा गया है कि जिस तरह सत्य सदा ध्रुव है असत्य अध्रुव है सत्य एक रूपी है कारण उसमें विकार तो कभी उत्पन्न ही नहीं होता और जो विकार उत्पन्न होता है तो वह सत्य नहीं परन्तु असत्य ही है । असत्य अध्रुव और बहुरूपिया है । एक बनावटी झूंठी बात जितने समय कही जाय उतने ही समय उसमें कुछ न कुछ फेरफार विकार होता ही है । कारण कि उस बात के कहने वाले के हृदय में ध्रुवता नहीं रहती और इसीलिये प्रत्येक समयपर अध्रुव और भिन्न २ प्रकार की मिथ्या बातें उसके मुंह से निकलती हैं अंग्रेज कवि पोप कहता है कि "झूंठ बोलने वाले के सिर झूंठ बोलने से कितना भार गिरा है उसका भान उसे नहीं रहता कारण एक झूंठी बात को सच्ची ठहराने में उसे बीस समय नये नये झूंठ बोलने पड़ते हैं" एक झूंठ को छिपाने के लिये बीस समय झूंठ बोलना पड़ता है इसका कारण क्या ? हृदय में घुसा हुआ भय, यह भय ऐसा होता है कि कहीं "मेरी झूंठी बात लोगों में प्रकट न हो जाय" ? इस भय के कारण ही वह नये नये झूंठ बोल कर मूल झूंठी बात को छिपाने अथवा सच्ची ठहराने के लिये फांके मारता है । परन्तु सच बोलनेवाले के हृदय में भय नहीं रहता । और उसे किसी बात के छिपाने या अन्य बात समझाने के लिये फांके मारने की आवश्यकता नहीं होती । राज्य के क़ायदे या मौत का निमन्त्रण असत्य को कपाँ देता है कारण कि भविष्य में कितने दुःख उठाने पड़ेंगे ऐसी कल्पना उस समय उपस्थित हो जाती है परन्तु सत्य को दुःख की कल्पना ही नहीं होती । इसलिये वह सर्वदा निर्भय

रहता है—'सत्ये नास्ति भयं कश्चित्' यह बोध वाक्य सर्वदा मनन करने योग्य है।

सत्य में गर्भित निर्भयता का यहां एक दृष्टांत दिया जाता है। लॉग फील की उचेस अपने एक मनुष्य के लिये राजा की कृपा प्राप्त करने में निष्फल हुई इससे वह क्रोध के वश हो राजा को घृणास्पद शब्द बोल उठी। यह बात राजा के कर्ण तक पहुंची और राजा ने उचेस के भाई से कहा, उचेस के भाई ने कहा "मेरी बहिन आप के सम्बन्ध में ऐसा कदापि नहीं कह सकी" अंत में राजा ने कहा कि 'जो उचेस आकर ऐसा कह दे कि मैंने ऐसे शब्द नहीं कहे तो मैं सच समझूं।" उचेस के पास उसका भाई गया और उचेस ने उसे सच बात कही, भाई ने बहिन को समझाया कि "हुआ सो हुआ, अब तू अभी राजा के पास जाकर कह दे कि मैंने ऐसे शब्द नहीं कहे, तो वह मान लेगा और तुझ पर क्रोध नहीं करेगा"। उसने ऐसी झूंठ बोलने से स्पष्ट इंकार किया उसके भाई ने उसे समस्त दिन समझाया और कहा कि "जो तू सच बोलेगी तो राजा तुझ पर नाराज़ होंगे और तेरा मान भंग होगा" तौ भी उचेस ने न माना और कहा "राजा मेरे शब्दों पर इतना अधिक विश्वास रखते हैं और कहते हैं कि जो मैं कहूँ वह सच है तो इस विश्वास के बदले में क्या झूंठ बोलूं ? और वह भी ईश्वर तुल्य राजा के समक्ष चाहे मेरी मृत्यु हो जाय परन्तु मैं सच २ कहूंगी" अंत में निर्भय हो उचेस राजा के पास गई और अपना गुन्हा क़बूल किया, राजा ने भी उसे माफ़ी दे दी और पहिले से भी उसका अधिक मान होने लगा।२३०।

[अब सत्य की महिमा गाते २ ग्रंथकार सत्य प्रकरण समाप्त करते हैं।]

सत्यमाहात्म्यम् ।२३१।

सत्य ! त्वं निखिलं धरातलमिदं व्याप्य स्वयं वर्त्तसे ।
योग्यायोग्यहिताहितादियुगलं व्यक्तं पृथग् दर्शयन् ॥
स्वर्गान्तं प्रसृता दिगन्तविततस्ते गुप्तदिव्यध्वनि-
र्लोकान्प्रेरयति प्रकर्षपदवीं कुर्वन्व्यवस्थां शुभाम् ॥

सत्य की महिमा ।

भावार्थः—हे सत्य ! तेरा प्रकाश अलौकिक तथा विशाल है और वह पृथ्वी के एक छोर से दूसरे तक पहुंचा हुआ है। वह प्रकाश वस्तुओं और कृतियों के योग्य अयोग्य, हित और अहित कारक अंश को भिन्न २ कर लोगों को स्पष्ट दिखा देता है। हे सत्य ! तेरी दिव्य और गुप्त ध्वनि दिशाओं के अंत और स्वर्ग के छोर तक पहुंच कर्तव्या-कर्तव्य की व्यवस्था का नाद करती हुई लोगों को उन्नति मार्ग की ओर खींचती है। महात्मा पुरुषों के अंतःकरण तेरे प्रकाश और ध्वनि के भंडार हैं और वहीं से यह प्रकाश और ध्वनि फैल कर आगे बढ़ती है।२३१।

विवेचनः—सत्य की महिमा विश्व के दिगंतों तक व्याप्त है और इस लोक से लगाकर परलोक के अंतिम छोर तक सत्य रूपी तारा का प्रकाश मनुष्य के अंधकार मय प्रदेश से निकल कर प्रवास में उसे मदद देता है। तैत्तिरीयारण्यक में सत्य का प्रभाव गाते कहा है कि 'सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि'। अर्थात् वायु भी सत्य से ही बहती है और सूर्य भी आकाश में सत्य से ही प्रकाशित है। इस तरह स्वभाव से ही सर्वत्र सत्य की ही व्याप्ति दृष्टि गत होती है। इतने व्याप्त, इतने तेजस्वी, शाश्वत, और उत्कर्ष प्रेरक सत्य

की महिमा सब किसी ने एक सी गाई है। हम भी इस सत्य तारक को सम्बोधित कर एक अंग्रेज कवि के शब्दों में विनय करेंगे कि—

Shine on, O star ! it is ordained
Vanquished thou shalt never be
But to the end of time shalt stand
and even through eternity.

अर्थात्—

अनुष्टुप् ।

सत्यना तारला म्हाला प्रकाशी रहे त्रिभुवने
नहीं अदृश्य तुं थातो कदापि कृष्ण वादले
धवल महिमा तारो शांति ने सौख्यदायक
अविचल सदा रहे जो,यावच्चन्द्र दिवाकरौ (२३१)

[द्वितीय खंड में उपदेशित विषयों के सारांश रूप नीचे के श्लोक से उपसंहार कर उक्त खण्ड समाप्त करते हैं ।]

उपसंहार ।२३२।

औदार्यञ्च गुणज्ञतां सुजनतां सम्पाद्य मैत्र्यादिकं ।
वात्सल्यञ्च समानभावसहितं कर्तुं कुटुम्बोदयम् ॥
अत्यावश्यक वित्तसंग्रहकृते नोल्लङ्घ्यते यो नय ।
निश्चिन्तः स परार्थधर्मपदवीं गन्तुं समर्थो भवेत् ॥

उपसंहार ।

भावार्थः—जो गृहस्थ गुणज्ञता, प्रत्युपकार वृत्ति, उदारता, सुजनता, पुत्र पुत्री पर समान भाव वाली वत्सलता और मित्रादि योग्य गुणों को सद्वर्तन के उच्च अभ्यास से अच्छी तरह फुला-खिलाकर कुटुम्ब में सम्प-सुलह और

स्वास्थ्य रख उसके अभ्युदयार्थ चाहिये जितना 'धन' प्राप्त करने के लिये उद्योग के मार्ग में चुस्तपन से नीति को ग्रहण कर रहता है अर्थात् नीति का बिलकुल उल्लंघन नहीं करता, वह मनुष्य उद्योग में सफलता प्राप्त कर निश्चिंत—उपाधि रहित हो केवल धर्म और परमार्थ के मार्ग में प्रमाण करने में शक्तिमान होता है। और उसमें विजय पाने का अधिकारी बन सका है।२३२।

विवेचन:—पूर्व विवेचन किये अनुसार जो कर्तव्य मनुष्यों के गृहस्थाश्रम में कर्तव्य समान समझाये गए हैं उन कर्तव्यों का योग्य रीति से पालना ही 'नीति' रूपी द्वितीय अवस्था का कर्तव्य अदा हुआ समझा जाता है। गृहस्थ की प्रत्येक क्रिया में नीति की व्याप्ति होना आवश्यक है इसलिये कुटुम्ब के एक स्वजन नैतिक कर्तव्य, गृहिणी का पति से नैतिक कर्तव्य, धन प्राप्ति के लिये व्यौपारी का नैतिक कर्तव्य, प्रथक २ रीति से समझाया है। ये सब कर्तव्य पूर्ण रीति से अदा कर योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् मनुष्य तृतीय अवस्था के 'परार्थ' रूप कर्तव्य और चतुर्थ अवस्था के 'धर्म' रूप कर्तव्य बजाने योग्य होता है। तृतीय और चतुर्थ अवस्था में सफलता प्राप्त करने के लिये द्वितीय अवस्था बिताना ही चाहिये ऐसा कुछ नहीं। प्रथमावस्था यथार्थ रीति से बिताकर तीसरी और चौथी अवस्था में दाखल हो सक्ते हैं और इस विषय में पहिले अच्छी तरह विवेचन कर दिया है। परंतु इतना सच है कि द्वितीयावस्था अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर इसे सफलता पूर्वक बिताया हो तभी तीसरी और चौथी अवस्था सफल हो सक्ती है। और जो द्वितीयावस्था निष्फल हो गई तो तीसरी और चौथी अवस्था इष्ट फल देने वाली कभी नहीं हो सक्ती। 'नीति' रूपी कर्तव्य नहीं बजा सकनेवाला अंतिम दोनों अवस्थाओं के कर्तव्यों को

जिनमें भी 'आत्मा रूप नीति' ही है, किस तरह सफल कर सक्ता है? इसलिये जो गृहस्थाश्रम में दाखल होना हो तो उसे फिर सब तरह सफल करना कि जिससे बाद के आश्रमों की पंक्तियें चढ़ना सहल हो जाय ।२३२।

[ग्रंथ की समाप्ति में ग्रंथकार अब ग्रंथ रचना का काल तथा स्थूल का उल्लेख करते हैं ।]

रचना समयादि निर्देशः ।२३३।

शुक्ल श्रावण पञ्चमी गुरुदिने खाब्ध्यङ्कभूवत्सरे ।
श्री मद्वीर गुलाबचंद्र कृपया श्रीरत्नचंद्रेणसा ॥
प्रख्याते निरमायि पालपुराख्ये पत्तेन प्रेमतः ।
कर्तव्यार्थ विकाशिनी कृतिरियं भद्राय भव्याङ्गिनाम् ।

ग्रंथलेखन का समय तथा स्थल ।

भावार्थ तथा विवेचनः—आषाढ़ी विक्रम सं० १९७० के श्रावण सुद पंचम गुरुवार के दिन प्रख्यात पालनपुर नगर में गुरु महाराज श्री गुलाबचंद्र जी स्वामी की कृपादृष्टि से मुनिश्री रत्नचंद्र जी ने भव्य जीवों के हितार्थ और प्रेम से कर्तव्य के मुख्य अंग दिखाने वाली 'कर्तव्य कौमुदी' नामक पुस्तक की रचना की। पूर्व कहे अनुसार जीवन की चार अवस्था में दो अवस्थाओं के मनुष्यों का कर्तव्य सम्बन्धी उपदेश इन तीन खण्डों में पूर्ण किया है। और उनका यह प्रथम ग्रंथ बना है। तृतीय और चतुर्थावस्था के गहन कर्तव्यों का उल्लेख चौथे और पांचवे खण्ड में होगा जो इन दोनों खण्डों का द्वितीय ग्रंथ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अनुकूल होंगे तो श्री सद्गुरु की कृपा द्वारा भव्य जीवों के कल्याणार्थ रचा जायगा (२३३) ॐ शान्तिः ।

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥

वचनामृत

प्रकाशक द्वारा संग्रहीत

कर्त्तव्य पालने वाला व्यक्ति ही उसका पालन कर सकता है वे व्यक्ति कर्त्तव्य पालन की धुन में, धन, मान, और प्राणों की ज़रा भी परवा नहीं करते।

कर्त्तव्य पालन द्वारा ही मनुष्य मानव पद के सर्वथा योग्य होता है जो व्यक्ति कर्त्तव्य पालन के लिये तैयार नहीं, उन में और पशुओं में क्या भेद है?

वास्तव में इस पाप मय संसार में एक मात्र कर्त्तव्य पालन ही मनुष्य को यथार्थ सुख की ओर लेजाने में समर्थ होता है।

अपनी उन्नति चाहने वालों को परिश्रम से कभी मुंह न मोड़ना चाहिये।

शिक्षा का मूल उद्देश्य ज्ञान प्राप्ति ही है। पद प्राप्ति नहीं जो शिक्षा ज्ञानवान बनाती और चरित्र गठन करती है इस ही का नाम शिक्षा है।

स्वावलम्बी हो जाने पर तुम्हारे विरुद्ध सारे संसार को भी उठ खड़े होने का सामर्थ्य न होगा।

चारित्र ही जीवन का एक मात्र अलंकार है। तुम अपने ही चारित्र से संसार क्षेत्र में पूर्ण तेजस्वी बन कर आगे चलने में समर्थ होगे।

धैर्य मनुष्य का एक प्रधान गुण है। धैर्य द्वारा ही मनुष्य अनेक दुस्तर कार्य साधन करने में समर्थ होता है।

उपदेशों के पाठ कर लेने से ही इच्छित फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत उपदेशानुसार कार्य्य करने से ही

इच्छित फल की प्राप्ति होती है। हज़ारों उपदेश पाठ करने की अपेक्षा एक उपदेश के अनुसार कार्य्य करना ही फल प्रद है।

सदाचार सोपान से, श्री अविनाशचन्द्रदास, एम. ए. बी. एल.

प्रत्येक दशा में सुख उन लोगों को प्राप्त है। जिन्होंने अपने को वश में कर रक्खा है।

हमारे लिये सब से पहली और जरूरी बात यह है कि हम अपनी इन्द्रियों को दमन करें, और अपनी इच्छाओं को वश में रक्खें।

जो माता पिता अपने बच्चों को कार्य व्यवहार नहीं सिखलाते वह उनको चोर और डाकू बनना सिखलाते हैं।

सम्यक् आचरण सम्यक श्रद्धान पूर्वक होता है। किंतु सम्यक आचरण के बिना सम्यक श्रद्धान कभी भी वृद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

ऋण बुरी बला है। यह झूठ, नीचता, कुटिलता, चिंता और मायाचार की जननी है। प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित मनुष्य का भी क्षण भर में अपमानित कर देना इस का साधारण काम है।

यदि तुम्हारे पास धन है, परंतु तुम उसको अच्छी तरह खर्च करना नहीं जानते तो वह धन तुम्हारे सिर पर बोझा है जो मरते समय ही उतरेगा।

बुरी तरह पैदा करके दान देने की अपेक्षा न देना ही अच्छा है।

मनुष्य पशुओं से इसी कारण बड़ा है कि उसमें अपने साथियों से मिल कर काम करने की शक्ति है। समुदाय से जो काम हो सकता है। वह प्रथक प्रथक व्यक्ति से कभी नहीं हो सकता। (मितव्ययता से)

मधुर लगते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये। तृतीयावस्था के पालने वाले मनुष्यों का यह प्रमुख कर्त्तव्य है, और उसका उन्हें पालन करना ही चाहिये। परन्तु द्वितीयावस्था के कर्त्तव्य को तृतीयावस्था के अन्त तक ले जाकर स्वार्थ प्रपञ्च, विषय पिपासादि में मग्न नहीं रहना चाहिये। इसी अर्थ से यह कथन किया है। जो मृत्यु के भय से आगे के लिये चेतकर प्रमाद नहीं करते, मनुष्यत्व को सफल करने वाले सत्कृत्य करने में तल्लीन हो जाते हैं वेही सचमुच चतुर मनुष्यों में गिने जाने योग्य हैं।

कर्मानुसार मनुष्यात्मा उच्च गति को प्राप्त होती है। बाह्यतः परार्थ साधन करना यह पुण्य रूप काम करने वाले जिस प्रकार पर हित करते हैं उसी भाँति आत्मा के हितार्थ सचमुच में परलोक का साधन भी करते हैं। तो भी त्यागरूप चतुर्थावस्था का "कर्त्तव्य" कि जो मात्र आत्म हित साधन के लिये ही है, वह तो अत्यन्त ही कठिन है। तरुणावस्था से आत्मा क्रमशः त्याग वृति का विकास करता आता है। लोभ लालच और इन्द्रियों के दुष्ट विकार जीतना, उनका त्याग करना, और नीति मार्ग से सदुद्योग पर चलाना यहीं से मनुष्य परमार्थिक 'त्याग' सीखने लगता है।

इस अवस्थामें आगे पदार्पण करने पर; मनुष्य को प्राण और धन से मोह छोड़ने का अमूल्य पाठ पढ़ना प्राप्त होता है। अन्तिम चतुर्थावस्था में जगत की सब वस्तुओं से ममता छोड़; अकिञ्चन बने रहने का पाठ सीखना पड़ता है। परार्थ साधन में तो किञ्चित् ममता भी रह जाता है। यह मेरा देश है, ये मेरे देश बन्धु हैं, ये मेरे धर्म बन्धु हैं, आदि ऐसी भावनाएं जोकि निःसंशय प्रशस्त भावनाएं है, सुसेव्य हैं, हृदय में व्याप रही हैं, परन्तु इस अन्तिमावस्था में तो इन भावनाओं

तुम्हारा कर्त्तव्य जिससे तुम परे हटते हो तुम्हें सत्य मार्ग पर चलानेवाला स्वर्ग दूत है।

दया अशक्तों के लिये संसार को कामल बनाती है, और शक्तिमानों के लिये संसार को उन्नत बनाती है।

कभी मत विचारो कि तुम्हारा दुःख स्थिर रहेगा। यह बादल की तरह दूर चला जायगा। यह कभी विचार न करो कि पाप के क्लेश सदैव तुम्हारे ही भाग में बदे हैं। वह एक भयानक स्वप्न की नांई झटपट दूर हो जावेंगे, उठो, जागो, पवित्र और हर्षित बनो।

हर्ष एक ऐसा सुन्दर, कोमल और पवित्र स्वर्गदूत है कि वह पुण्य ही के साथ वास करता है। वह स्वार्थता के साथ नहीं रह सकता। यह केवल प्रेम का सम्बन्धी है।

उत्तमोत्तम भलाई को खोजो और उसे प्राप्त करने के पश्चात् उसका अभ्यास और अनुभव करो। इसमें बहुत गहरे और मीठे आनन्द का स्वाद मिलेगा।

बुद्धिमान बकवाद, गप और असत्य विवाद से बचता है। वह परास्त होने में संतुष्ट और प्रसन्न होता है। जब वह हारता है तो हर्षित होता है कि मेरा एक दोष मेरी समझ में और आगया जिससे मेरी बुद्धि और उन्नत हुई।

यथार्थ मौन जिह्वा का बन्द रखना नहीं, मन का शान्त रखना है।

सत्यता को जान कर फिर तुम्हारे हृदय को भ्रम का दुःख नहीं उठाना पड़ेगा, क्योंकि वस्तु स्वरूप जानने से इस बात का पता लग जायगा, कि सब पदार्थ तुम्हारे आधीन हैं।

प्रातःकाल शीघ्र उठना ही दैनिक कार्यों का उचित और सबल आरंभ करना है। जो मनुष्य देर तक बिछौने पर लेटे

रहते हैं वे कभी उज्ज्वल, हर्षित और हृष्ट पुष्ट नहीं रहते, बल्कि वे सदैव चिड़चिड़ेपन, आलस्य, दुर्बलता, क्षीणता, क्षिप्तता और मलुम्री स्वभाव के शिकार बनते हैं। दैनिक कर्त्तव्यों में जो वे ढीलापन रखते हैं उसके कारण ही उनको यह भारी मूल्य देना पड़ता है।

शुद्ध विचारों से शुद्ध और सत्यकार्य उत्पन्न होते हैं, सत्यकार्य से शुद्ध जीवन लब्ध होता है और शुद्ध जीवन से सर्वानन्द प्राप्त होता है।

जो मनुष्य अपने कर्त्तव्य को तुच्छ समझकर उसका पालन नहीं करता है वह अपने आपको धोखा देता है।

जैसे कार्य को शक्ति से करने से और भी अधिक शक्ति प्राप्त होती है वैसे ही कार्य को दुर्बलता के साथ करने से दुर्बलता बढ़ती है।

अधिकार और प्राप्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, अनुमतियाँ बदल जाती हैं और मनके उद्वेग परिवर्त्तन शील हैं। परन्तु कर्त्तव्य न अस्तित होता, न बढ़ता और न अच्छी या बुरी घटनाओं के तूफान से हिलता है।

कार्य करने में जो कठिनाइयाँ और कष्ट तुम्हें प्रतीत होते हैं वे उस कार्य में नहीं हैं किन्तु तुम्हारे मन में हैं। यदि उस कार्य की ओर तुम अपना मनोभाव बदल डालो तो टेढ़ा मार्ग झटपट सीधा हो जायगा और असुख आनन्द में परिणत हो जायगा।

आन्तरिक बड़प्पन प्राप्त करने का उद्योग करो, न कि बाहरी प्रशंसा प्राप्त करने का-वह तो अपने आप आजायगी।

प्रत्येक कार्य और कर्त्तव्य को अनुराग और निःस्वार्थता से करो।

कठिनता के बिना किसी प्रकार की उन्नति, विस्तरण और परिवर्त्तन नहीं हो सकता।

बड़े आदमी कभी दिखावे को पसंद नहीं करते, वह चुप चाप काम किया करते हैं। और किसी से अपनी प्रशंसा नहीं चाहते।

जो लोग केवल दिखलावे पर दृष्टि रखते हैं, वे अपने को तो हानि पहुंचाते ही हैं, परन्तु साथ में देश और समाज को भी हानि पहुंचाते हैं। एक प्रकार से वे देश और समाज के शत्रु हैं। कारण कि जिस प्रकार वह दूसरों की देखा देखी अपनी शक्ति से बाहर ख़र्च करते हैं। उसी प्रकार दूसरे लोग भी उनकी देखा देखी अधिक ख़र्च करने लगते हैं। समाज में एक व्यक्ति का दूसरे पर बड़ा असर पड़ता है। एक दूसरे को देख कर ही लोग अपने रहन सहन के नियम बनाते हैं। जिस समाज में दिखलावे का अधिक प्रचार होगा, उस समाज का शीघ्र पतन हो जायगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

जिस मनुष्य में सत्य नहीं उसे मनुष्य कहलाने का अधिकार नहीं है।

मनुष्य को केवल जिह्वा से ही नहीं किन्तु मन, वचन, काया से सत्य का पालन करना चाहिये, जो विचार उसके मन में आयें वे सच्चे हों, जो कार्य्य वह करे वह सच्चे हों, जो मनुष्य भीतर से हो वैसा ही बाहर से अपने को प्रगट करे उसके विचारों, शब्दों और कार्यों में समता हो।

जेम्स एलन की अंग्रेजी पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद की पुस्तकों से संग्रहीत।

यदि हमें इस बात का विश्वास हो कि हमारी वीरता और धीरता किसी अप्रत्यक्ष आत्मीय अवस्था में फल प्रद हो रही है

तो हम यह अत्यन्त आपत्ति पूर्ण जीवन बहुत ही प्रसन्नता के साथ बिता सकते हैं।

(प्रो० जेम्स)

उद्योगी मनुष्य को अवसर की कमी नहीं।

बड़े आदमी कभी दिखावे को पसन्द नहीं करते वे चुपचाप काम किया करते हैं। और किसी से अपनी प्रशंसा नहीं चाहते।

उच्च कोटि की सभ्यता दूसरों की बुराई न करना है। उत्तम सुधारक वह है जिसके नेत्र सौन्दर्य और योग्यता को देख सकते हैं और जो अपने खुद के आदर्श जीवन का उदाहरण देकर अपराधियों को उचित मार्ग पर ला सकता है।

दुनियां में निर्दोष मनुष्य कोई नहीं है। अतएव दूसरों में दोष ढूंढने की आदत को दूर करना चाहिये, इससे सिवा इसके दूसरों को बुरा लगे और उनका जी दुखे और कोई लाभ नहीं।

जिस मनुष्य को चिड़चिड़ेपन की आदत है, और जो सदा दूसरों के दोष ढूंढता रहता है वह दूसरों की दृष्टि में तो बुरा होता ही है। परन्तु स्वयं भी सुखी नहीं रह सकता। उसका मन सदैव कुपित रहता है। वह कभी प्रसन्न चित्त दिखलाई नहीं देता।

उदारता, सहृदयता, निष्कपटता और उत्तम स्वभाव इन के बराबर संसार में कोई भी धन नहीं है।

सदा अपनी अन्तरात्मा का आदेश मानो।

सच्चे जीवन का सार ज्ञान है और ज्ञान का सार शान्ति है।

मनुष्य अपना शत्रु आप है। वह काम से, क्रोध से, घृणा से, दंभ से, जिह्वा लोलुपता और भोग विलास से

अपना नाश अपने आप कर डालता है। परन्तु अपने दुख का कारण संसार को समझ कर वह संसार को दोषी ठहराता है। दोष तो स्वयं उसी का है।

स्वार्थ के अतिरिक्त मनुष्य का कोई शत्रु नहीं है। अज्ञानता के सिवाय कोई अन्धकार नहीं और कषायों और वासनाओं के सिवाय कोई दुख देने वाला नहीं है।